

तमसो

मा

ज्योतिर्गमय

उपाचार्य श्री देवेन्द्र मुनि

तमसो मा ज्योतिर्गमय

उपाचार्य श्री देवेन्द्र मुनि

श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय  
शास्त्री सर्कल, उदयपुर (राजस्थान) पिन-३१३००१

श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय का २८५वाँ पुष्प

---

❧ पुस्तक

तमसो मा ज्योतिर्गमय

❧ लेखक

उपाचार्य श्री देवेन्द्र मुनिजी

❧ विषय

चिन्तन प्रधान निबन्ध

❧ प्रथम प्रवेश

वि. सं. २०४८, भाद्रपद  
अगस्त १९९१

❧ प्रकाशक

श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय  
शास्त्री सर्कल  
उदयपुर, राज०-३१३००१

❧ मुद्रक

संजय सुराना, कामधेनु प्रिंटर्स आगरा के लिए  
विकास प्रिंटर्स  
१९, सुरेश नगर, न्यू आगरा

❧ मूल्य

पैंतीस रुपये लागत मात्र

## प्रकाशकीय

जैन धर्म के मूर्धन्य मनीषियों ने आचार्य के लिए कहा है  
दीव समा आयरिया ।

आचार्य 'दीप' के समान हैं । प्राकृत भाषा में 'दीव' शब्द के दो अर्थ हैं—“द्वीप” तथा “दीप” । आचार्य में दोनों ही गुण हैं । वे अथाह भव-समुद्र के बीच धर्म की शरणस्थली रूप द्वीप भी हैं, तो अज्ञान मोह के अन्ध-कार में भटकते प्राणियों के लिए मोक्षमार्ग उद्योतित करने वाले ज्ञान-दीप भी हैं ।

ज्ञान-दीप को प्रज्वलित करना, आचार्य, उपाचार्य और उपाध्याय तीनों का ही विशेष गुण धर्म है । श्रमण संघ के महामहिम आचार्य श्री आनन्द ऋषिजी महाराज स्वयं साक्षात् ज्ञानधूर्ति हैं और उनकी उत्कट प्रेरणा रहती है कि संघ एवं समाज में ज्ञान की ज्योति सतत जगमगाती रहे । आपश्री की प्रेरणा एवं भावना के अनुसार ही श्रमण संघ के उपाचार्य श्री देवेन्द्र मुनिजी महाराज अध्यात्म, तत्वज्ञान, धर्म एवं दर्शन सम्बन्धी महत्वपूर्ण साहित्य की सर्जना में लीन हैं । आपश्री ने साहित्य की प्रत्येक विधा में अत्यन्त उपयोगी, पठनीय और विद्वत्तापूर्ण साहित्य का निर्माण कर श्री स्थानकवासी जैन श्रमण संघ की गरिमा में चार चाँद लगाये हैं । तथा जैन साहित्य की श्रीवृद्धि भी की है । आप चिन्तनशील, बहुश्रुत लेखक हैं । मधुरवक्ता और सहज निमल हृदय के स्नेहशील हैं । पूज्य गुरुदेव उपाध्याय श्री पुष्कर मुनिजी महाराज की वृद्ध अवस्था एवं शारीरिक अस्वस्थता के कारण गुरुदेव का सेवा आदि में अत्यधिक व्यस्त रहते हुए भी आपश्री निरंतर पठन, लेखन में निमग्न रहते हैं ।

“तमसो मा ज्योतिर्गमय” अध्यात्म प्रधान तत्व चिन्तन युक्त सुन्दर निबन्धों का संकलन है । अहिंसा, कर्म, महामन्त्र नवकार, स्वाध्याय, साहस आदि विविध विषयों पर १५ निबन्धों का यह बहुरंगी गुलदस्ता विचार प्रधान सामग्री से युक्त है । आशा है चिन्तन प्रधान साहित्य के पाठक इससे विशेष लाभ उठायेंगे ।

इस पुस्तक के प्रकाशन में गुरुभक्त धर्मप्रेमी उदारमना औरंगाबाद निवासी श्रीमान सुवालाल जी सा० छल्लानी एवं आपकी धर्मशीला धर्मपत्नी श्रीमती ताराबाई ने विशेष अभिरुचिपूर्वक प्रकाशन सहयोग प्रदान किया है ।

आपकी उदारता, गुरुभक्ति, समाजसेवा की भावना प्रशंसनीय तथा अनुकरणीय है । आशा है इस पुस्तक को स्वाध्यायशाल पाठक रुचिपूर्वक पढ़ेंगे ।

—चुन्नीलाल धर्मावत  
कोषाध्यक्ष : श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय, उदयपुर



प्रस्तुत पुस्तक के उदार अर्थ सहयोगी—

## स्व० सौ० ताराबाई सुवालाल जी छल्लानी

एक परिचय :

भारत के तत्व चिन्तक महामनीषियों ने नारी की महिमा का वर्णन करते हुए लिखा कि जहाँ पर नारी की पूजा होती है, वहाँ पर देवताओं का निवास है। चीन के महान् दार्शनिक कन्फ्यूशियम ने नारी को संसार का सार कहा है। नारी नारायणी है, समाज रूची शरीर की नारी नाड़ी है, नारी की स्वस्थता पर ही समाज की स्वस्थता निर्भर है। मानव जाति पर नारी ने अगणित उपकार किये हैं, वह माता के रूप में सदा बन्दनीय रही, भगिनी के रूप में स्नेह की सरस सरिता बहाती रही। पत्नी के रूप में प्रेरणा की पावन स्रोतस्विनी बनकर परिवार में स्नेह की सरसब्ज भावना पनपाती रही। पुत्री के रूप में वह दोनों कुलों को चार चाँद लगाती रही। माँ सती के रूप में वह अध्यात्मिकता की ज्योति शिखा रही। धन्य है नारी का जीवन, जो स्नेह, सद्भावना और समर्पण का उदात्त आदर्श सदा प्रस्तुत करती रही है।

श्रीमती अखण्ड सौभाग्यवती स्वर्गीय ताराबाई छल्लानी एक ऐसी ही प्रेरणा की मूर्ति महिला थी, जिसने अपने मधुर व्यवहार से जन-जन के मन में स्नेह की ज्योति प्रज्ज्वलित की। आपके पूज्य पिताश्री का नाम मूलचन्द जी नाहर था। आपकी जन्म स्थली मध्यप्रदेश के गाडरवाड़ा थी, जो नरसिंहपुर जिले में स्थित है। आपका जन्म दि० २६-११-४२ गुरुवार को हुआ तथा आपका पाणिग्रहण श्रीमान् सुवालाल जी साहव छल्लानी औरंगाबाद के साथ सम्पन्न हुआ। पति-पत्नी की यह अद्भुत जोड़ी राम और सीता के ज्वलन्त आदर्श को उपस्थित करती थी।

श्रीमान् सुवालाल जी छल्लानी बहुत ही उदारमना धर्मनिष्ठ सुश्रावक है जिन्होंने अपने प्रबल पुरुषार्थ से सामाजिक, धार्मिक क्षेत्र में एक कीर्तिमान स्थापित किया है। कर्नाटक केशरी पूज्य श्री गणेशीलाल जी महाराज की पावन पुण्य स्मृति में औरंगाबाद में तपस्वी प्रवर श्री मिश्रीलाल जी महाराज की पावन प्रेरणा से श्री गुरु गणेशनगर की संस्थापना हुई, उस संस्था के आप कर्मठ कार्यकर्ता हैं। उसके विकास के लिए आपने समय-समय पर अनुदान देकर एक आदर्श उपस्थित किया है। आप उस संस्था के प्राणवान सक्रिय अध्यक्ष हैं।

आपके चार पुत्रियाँ और एक पुत्र है। सौ० ज्योति, सौ० रत्नप्रभा, सौ० कल्पना और कुमारी शर्मिला तथा सुपुत्र संदीपकुमार है। माता-पिता के धार्मिक निर्मल संस्कार पुत्र और पुत्रियों में पल्लवित और पुष्पित है।

सौ० ताराबाई कुल की श्रृंगार थी, परिवार की आधार थी। अनेक कमनीय कल्पनाएं मन में संजो रखी थी पर कुछ समय पूर्व किडनी की व्याधि से संतप्त हो गई तब छल्लानी जी ने पूना और बम्बई में रहकर आधुनिकतम वैज्ञानिक चिकित्सा करवाई, वे स्वस्थ भी हो गई पर यकायक हार्टअटैक होने से बम्बई हॉस्पिटल में ही दिनांक १० मई, १९६० गुरुवार को रात्रि में स्वर्गस्थ हो गई। उनके स्वर्गवास से पूरे परिवार को भारी आघात लगा। पर क्रूर काल के सामने किसका जोर चला है ?

श्री छल्लानी जी ने श्रीमती ताराबाई की पुण्य स्मृति में कमलनयन बजाज हॉस्पिटल में तथा दक्षिण केसरी मुनि मिश्रीलाल होम्योपैथिक मेडीकल कालेज में तथा तपस्वीरत्न गुरु मिश्रीलाल जी महाराज के अमृत महोत्सव समिति द्वारा संस्थापित कैसर हॉस्पिटल में उदारता के साथ बड़ी दानराशि प्रदान की है।

परम श्रद्धेय उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि जी महाराज, उपाचार्य श्री देवेन्द्र मुनि जी महाराज का औरंगाबाद में जब पदार्पण हुआ तब आपने जिस उत्साह के साथ सामाजिक, धार्मिक कार्यों में भाग लिया वह उल्लेखनीय है। औरंगाबाद के सन्निकट बालूज और करमाड़ आदि के स्थानकों के निर्माण में आपका अपूर्व योगदान रहा है। श्रद्धेय उपाध्यायश्री और उपाचार्यश्री के प्रति आपकी तथा आपके परिवार की गहरी निष्ठा है।

श्रद्धेय उपाचार्य श्री के प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रकाशन सौ० स्व० ताराबाई छल्लानी की पुण्य स्मृति में श्रीमान् सुवालाल जी साहब संदीपकुमार जी छल्लानी के द्वारा हो रहा है, यह उस धर्ममूर्ति श्राविका के प्रति सच्ची सद्भावना का द्योतक है। आपकी धार्मिक, सामाजिक और अध्यात्मिक प्रगति दिन-दुगुनी और रात-चौगुनी होती रहे यही हमारी हार्दिक मंगल मनीषा है।

**चुन्नीलाल धर्मावत**

कोषाध्यक्ष

**श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय, उदयपुर**



धर्ममूर्ति (स्व.) सौ. ताराबाई सुवालालजी छल्लानी (औरंगाबाद)

जन्म

२६/११/१९४२

गुरुवार

स्वर्गवास

१८/५/१९९०

गुरुवार





## स्वकीय

भारतीय मानस की एक अन्तर्ध्वनि सदा-सदा से गूँजती रही है ।

असतो मा सद्गमय  
मृत्यो मा अमृतंगमय  
तमसो मा ज्योतिर्गमय

मुझे असत् से सत् की ओर ले चलो,  
मुझे मृत्यु से अमरत्व की ओर ले चलो,  
मुझे अंधकार से प्रकाश की ओर ले चलो,

असत्, मृत्यु और अंधकार—सदा ही भयानक, और परिहेय रहे हैं ।

अन्धकार क्या है ? सूर्य या चन्द्र के प्रकाश का अभाव ही अन्धकार नहीं है । सबसे बड़ा अन्धकार प्राणी के हृदय के भीतर छुपा है और वह है अज्ञान, मोह ! मिथ्यात्व ! णाणं पयासरं—ज्ञान ही प्रकाश है, अज्ञान ही अन्धकार है । इसलिए अन्नाणं परियाणामि णाणं उवसंपज्जामि—अज्ञान को त्यागता हूँ ज्ञान को प्राप्त करता हूँ—यह विकासशील आत्मा का संकल्प है, उसकी अभीप्सा है ।

चिन्तन, मनन, अध्ययन से ज्ञान का विकास होता है, विस्तार होता है, ज्ञान निर्मल और प्रभास्वर बनता है ।

स्वाध्याय ज्ञान विकास का मुख्य द्वार है—स्वाध्याय के लिए सत् साहित्य की आवश्यकता और उपयोगिता है । सत् साहित्य के स्वाध्याय से मनुष्य का अन्तर नेत्र उद्घाटित होता है । विचारों की स्फुरणा जगती है ।

प्रस्तुत पुस्तक “तमसो मा ज्योतिर्गमय” अन्धकार से प्रकाश यात्रा का शुभारम्भ है । इसमें विभिन्न विषयों पर चिन्तन प्रधान, आगमिक तत्व ज्ञान युक्त १५ निबन्ध हैं । ये निबन्ध विभिन्न समयों पर, विभिन्न विषयों पर लिखे गये हैं । इसलिए इनमें विविधता है । विषयों की व्यापकता है । और बहुआयामी चर्चाएँ हैं ।

विविधता होते हुए भी इनमें विषयों की रोचकता है, जो ज्ञानवर्धक हैं, भावशोधक है। मुझे विश्वास है पाठक को इन निबन्धों में बहुत कुछ प्रेरणाप्रद मिलेगा। चिन्तन की सामग्री मिलेगी और उसके ज्ञान की अभिवृद्धि होगी। तभी पुस्तक अपने शीर्षक को सार्थक करेगी।

पूज्य गुरुदेव उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि जी महाराज का स्वास्थ्य इधर में काफी अस्वस्थ रहा, उनकी परिचर्या में विशेष दत्तावधान रहने के कारण लेखन का समय भी कम ही मिला, बीच-बीच में व्यवधान भी आते रहे। इस कारण लेखों के विषयों में विविधता आती रही है। फिर भी मैं आशा करता हूँ पाठक इन्हें रुचिपूर्वक अवश्य पढ़ेंगे और लाभान्वित होंगे।

—उपाचार्य देवेन्द्र मुनि



---

तमसो मा ज्योतिर्गमय

---

## विषय सूची

१. महामन्त्र : एक अनुचिन्तन	१
२. नमस्कार महामन्त्र की साधना	८
३. अध्यात्म साधना के विविध पहलू	१६
४. आत्मा का उत्थान एवं पतन : अपने हाथों में	२५
५. सर्वतोमुखी आत्म विकास का उपाय : तप	३७
६. मानसिक शांति के मूल सूत्र	५१
७. आध्यात्मिक प्रगति के मूलाधार	६२
८. आत्मबल : सर्वतोमुखी सामर्थ्य का मूल	७८
९. आत्म निर्माण का सर्वतोभद्र उपाय : स्वाध्याय	९४
१०. आत्म भावना के मूल मंत्र	११०
११. साहस की विजय भेरी	१२०
१२. परमार्थ-परायणता की कसौटी	१३३
१३. अहिंसा का सर्वांगीण स्वरूप	१५२
१४. हिंसा-अहिंसा की परख	१७७
१५. अहिंसा के स्रोत और उनमें तारतम्य	२०८



# १

## महामंत्र : एक अनुचिन्तन

भगवती सूत्र के प्रारम्भ में मंगल वाक्य के रूप में “नमो अरिहंताणं, नमो सिद्धाणं, नमो आयरियाणं, नमो उवज्झायाणं, नमो लोए सव्व साहूणं” “नमो बंभीए लिबीए” का प्रयोग हुआ है। नमोक्कार मंत्र जैनों का एक सार्वभौम और सम्प्रदायातीत मंत्र है। वैदिक परम्परा में जो महत्त्व गायत्री मंत्र को दिया गया है, बौद्ध परम्परा में जो महत्त्व “तिमरन” मंत्र को दिया गया है। उससे भी अधिक महत्त्व जैन परम्परा में इस महामन्त्र का है। इसकी शक्ति अमोघ है और प्रभाव अचिन्त्य है। इसकी साधना और आराधना से लौकिक और लोकोत्तर सभी प्रकार की उपलब्धियाँ प्राप्त होती हैं। यह महामन्त्र अनादि और शाश्वत है। सभी तीर्थंकर इस महामन्त्र को महत्त्व देते आए हैं। यह जिनागम का सार है। जैसे तिल का सार तेल है; दूध का सार घृत है; फूल का सार इत्र है; वैसे ही द्वादशांगी का सार नमोक्कार महामन्त्र है। इस महामन्त्र में समस्त श्रुतज्ञान का सार रहा हुआ है, क्योंकि परमेष्ठी के अतिरिक्त अन्य श्रुतज्ञान कुछ भी नहीं है। पंच परमेष्ठी अनादि होने के कारण यह महामन्त्र अनादि माना गया है। यह महामन्त्र कल्पवृक्ष, चिन्तामणि रत्न या कामधेनु के समान फल देने वाला है। यह सत्य है कि जितना हम इस महामन्त्र को मानते हैं उतना इस महामन्त्र के सम्बन्ध में जानते नहीं। मानने के साथ जानना भी आवश्यक है, जिससे इस महामन्त्र के जप में तेजस्विता आती है।

‘मननात् मन्त्रः’ मनन करने के कारण ही मंत्र नाम पड़ा है। मन्त्र मनन करने को उत्प्रेरित करता है, यह चिन्तन को एकाग्र करता है, आध्यात्मिक ऊर्जा/शक्ति को बढ़ाता है। चिन्तन/मनन कभी अंधविश्वास नहीं

## २ तमसो मा ज्योतिर्गमय

होता, उसके पीछे विवेक का आलोक जगमगाता है। उसका सबसे बड़ा कार्य है—अनादि काल की मूर्च्छा को तोड़ना; मोह को भंग कर मोहन के दर्शन करना। मन्त्र मूर्च्छा नष्ट करने का सर्वोत्तम उपाय है। मूर्च्छा ऐसा आध्यात्मिक रोग है, जो सहसा शांत नहीं होता; उसके लिए निरन्तर मंत्र जाप की आवश्यकता होती है। यह महामन्त्र साधक के अन्तर्मानस में यह भावना पैदा करता है कि मैं शरीर नहीं हूँ, शरीर से परे हूँ। वह भेदविज्ञान पैदा करता है। मंत्र हृदय की आँख है। मंत्र वह शक्ति है—जो आसक्ति को नष्ट कर अनासक्ति पैदा करती है। नमस्कार मंत्र का उपयोग जो साधक आसक्ति के लिए करते हैं—वे लक्ष्यभ्रष्ट हैं। लक्ष्यभ्रष्ट तीर का कोई उपयोग नहीं होता, वैसे ही लक्ष्यभ्रष्ट मंत्र का कोई उपयोग नहीं है।

मंत्र छोटा होता है। वह ग्रन्थ की तरह बड़ा नहीं होता। हीरा छोटा होता है, चट्टान की तरह बड़ा नहीं होता, पर बड़ी-बड़ी चट्टानों को वह काट देता है। अंकुश छोटा होता है, किन्तु मदोन्मत्त गजराज को अधीन कर लेता है। बीज नन्हा होता है, पर वह बीज विराट् वृक्ष का रूप धारण कर लेता है। वैसे ही नमोक्कार मंत्र में जो अक्षर हैं—वे भी बीज की तरह हैं। नमोक्कार मंत्र में ३५ अक्षर हैं। ३ में ५ जोड़ने पर ८ होते हैं। जैन दृष्टि से कर्म आठ हैं। इस महामन्त्र की साधना से आठों कर्मों की निर्जरा होती है। ३—सम्यग् दर्शन, सम्यग् ज्ञान और सम्यक् चारित्र तथा मनो गुप्ति, वचन गुप्ति और काय गुप्ति। ५—पंच महाव्रत और पंच समिति का प्रतीक है। जब नमोक्कार मंत्र के साथ रत्नत्रय व महाव्रत का सुमेल होता है या अष्ट प्रवचन माता की साधना भी साथ चलती है तो उस साधना में अभिनव ज्योति पैदा हो जाती है। इस प्रकार यह महामन्त्र मन का त्राण करता है। अणुभ विचारों के प्रभाव से मन को मुक्त करता है।

नमोक्कार मंत्र हमारे प्रसुप्त चित्त को जागृत करता है। यह मंत्र शक्ति-जागरण का अग्रदूत है। इस मंत्र के जाप से इन्द्रियों की वल्गा हाथ में आती है, जिससे सहज ही इन्द्रिय-निग्रह हो जाता है। मन्त्र एक ऐसी छैनी है जो विकारों की परतों को काटती है। जब विकार पूर्ण रूप से कट जाते हैं तब आत्मा का शुद्ध स्वरूप प्रकट हो जाता है। महामन्त्र की जप-साधना से साधक अन्तर्मुखी बनता है, पर जप की साधना विधिपूर्वक होनी चाहिए। विधि पूर्वक किया गया कार्य ही सफल होता है। डॉक्टर रुग्ण व्यक्ति का आँपरेशन विधिपूर्वक नहीं करता है, तो रुग्ण व्यक्ति के प्राण संकट में पड़ जाते हैं। बिना विधि के जड़ मशीनें भी नहीं चलतीं। सारा

विज्ञान विधि पर ही अवलम्बित है। अविधिपूर्वक किया गया कार्य निष्फल होता है। यही स्थिति मंत्र-जप की भी है।

नमोक्कार महामन्त्र में पाँच पद हैं। ३५ अक्षर हैं। इनमें ११ अक्षर लघु हैं, २४ गुरु हैं, १५ दीर्घ हैं और २० ह्रस्व हैं, ३५ स्वर हैं और ३४ व्यंजन हैं। यह एक अद्वितीय बीज संयोजना है। 'नमो अरिहंताणं' में सात अक्षर हैं, 'नमो सिद्धाणं' में पाँच अक्षर हैं, 'नमो आयरियाणं' में सात अक्षर हैं, 'नमो उवज्जायाणं' में सात अक्षर हैं और 'नमो लोए सव्व साहूणं' में नौ अक्षर हैं—इस प्रकार इस महामन्त्र में कुल ३५ अक्षर हैं। स्वर और व्यंजन का विश्लेषण करने पर 'नमो अरिहंताणं' में ७ स्वर और ६ व्यंजन हैं, 'नमो सिद्धाणं' में ५ स्वर और ६ व्यंजन हैं, 'नमो आयरियाणं' में ७ स्वर और ६ व्यंजन हैं, 'नमो उवज्जायाणं' में ७ स्वर और ७ ही व्यंजन हैं तथा 'नमो लोए सव्व साहूणं' में ६ स्वर तथा ६ व्यंजन हैं—इस प्रकार नमोक्कार महामन्त्र में ३५ स्वर और ३४ व्यंजन हैं। यह महामन्त्र जैन आराधना और साधना का केन्द्र है, इसकी शक्ति अपरिमेय है। इस महामन्त्र के वर्णों के संयोजन पर चिन्तन करें तो यह बड़ा अद्भुत और पूर्ण वैज्ञानिक है। इसके बोजाक्षरों को आधुनिक शब्द विज्ञान की कसौटी पर कसने पर यह पाते हैं कि इसमें विलक्षण ऊर्जा है और शक्ति का भण्डार छिपा हुआ है। प्रत्येक अक्षर का विशिष्ट अर्थ है, प्रयोजन है और ऊर्जा उत्पन्न करने की क्षमता है।

जैन धर्म में अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु ये पाँच महान् आत्मा माने गए हैं, जिन्होंने आध्यात्मिक गुणों का विकास किया। आध्यात्मिक उत्कर्ष में न वेष बाधक है और न लिंग ही। स्त्री हों या पुरुष हों, सभी अपना आध्यात्मिक उत्कर्ष कर सकते हैं। नमोक्कार महामन्त्र में अरिहन्तों को नमस्कार किया गया है, किन्तु तीर्थंकरों को नहीं। तीर्थंकर भी अरिहन्त हैं तथापि सभी अरिहन्त तीर्थंकर नहीं होते। अरिहन्तों के नमस्कार में तीर्थंकर स्वयं आ जाते हैं। पर तीर्थंकर को नमस्कार करने में सभी अरिहन्त नहीं आते। यहाँ पर तीर्थंकरत्व मुख्य नहीं है, मुख्य है—अर्हन्तभाव।

जैन धर्म की दृष्टि से तीर्थंकरत्व औदयिक प्रकृति है। वह एक कर्म के उदय का फल है किन्तु अरिहन्तदशा क्षायिक भाव है। वह कर्म का फल नहीं अपितु कर्मों की निर्जरा का फल है। तीर्थंकरों को भी जो नमस्कार किया जाता है, उसमें भी अर्हन्तभाव ही मुख्य रहा है। इस प्रकार नमोक्कार महामन्त्र में व्यक्ति विशेष को नहीं, किन्तु गुणों को नमस्कार किया गया



## ४ तमसो मा ज्योतिर्गमय

है। व्यक्ति पूजा नहीं किन्तु गुण पूजा को महत्त्व दिया गया है। यह कितनी विराट् और भव्य भावना है।

प्राचीन ग्रन्थों में नमोक्कार महामन्त्र को पंच परमेष्ठी मंत्र भी कहा है। 'परमे तिष्ठतीति' अर्थात् जो आत्माएँ परमे— शुद्ध, पवित्र स्वरूप में, वीतराग भाव में 'ष्ठी' रहते हैं—वे परमेष्ठी हैं। आध्यात्मिक उत्क्रान्ति करने के कारण अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु ही पंच परमेष्ठी हैं। यही कारण है कि भौतिक दृष्टि से चरम उत्कर्ष को प्राप्त करने वाले चक्रवर्ती सम्राट और देवेन्द्र भी इनके चरणों में झुकते हैं। त्याग के प्रतिनिधि ये पंच परमेष्ठी हैं। पंच परमेष्ठी में सर्वप्रथम अरिहन्त हैं। जिन्होंने पूर्ण रूप से सदा सर्वदा के लिए राग-द्वेष को नष्ट कर दिया है, वे अरिहन्त हैं, जो अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त चारित्र और अनन्त शक्ति रूप वीर्य के धारक होते हैं, सम्पूर्ण विश्व के ज्ञाता/द्रष्टा होते हैं, जो सुख-दुःख, हानि-लाभ, जीवन-मरण, प्रभृति विरोधी द्वन्द्वों में सदा सम रहते हैं। तीर्थंकर और दूसरे अरिहन्तों में आत्म-विकास की दृष्टि से कुछ भी अन्तर नहीं है।

दूसरा पद सिद्ध का है। सिद्ध का अर्थ पूर्ण है। जो द्रव्य और भाव दोनों ही प्रकार के कर्मों से अलिप्त होकर निराकुल आनन्दमय शुद्ध स्वभाव में परिणत हो गए, वे सिद्ध हैं। यह पूर्ण मुक्त दशा है। यहाँ पर न कर्म है, न कर्म बन्धन के कारण ही हैं। कर्म और कर्म बन्ध के अभाव के कारण आत्मा वहाँ से पुनः लौटकर नहीं आता। वह लोक के अग्रभाग में ही अवस्थित रहता है। वहाँ केवल विशुद्ध आत्मा ही आत्मा है। पर-द्रव्य और पर-परिणति का पूर्ण अभाव है। यह विदेहमुक्त अवस्था है। यह आत्म-विश्वास की अन्तिम कोटि है। दूसरे पद में उस परम विशुद्ध आत्मा को नमस्कार किया गया है।

तृतीय पद में आचार्य को नमस्कार किया गया है। आचार्य धर्म संघ का नायक है। वह संघ का संचालनकर्ता है, साधकों के जीवन का निर्माणकर्ता है। जो साधक संयम साधना से भटक जाते हैं, उन्हें आचार्य सही मार्गदर्शन देता है। योग्य प्रायश्चित्त देकर उसकी संशुद्धि करता है। वह दीपक की तरह स्वयं ज्योतिर्मान होता है और दूसरों को ज्योति प्रदान करता है।

चतुर्थ पद में उपाध्याय को नमस्कार किया गया है। उपाध्याय ज्ञान का अधिष्ठाता होता है। वह स्वयं ज्ञानाराधना करता है और साथ ही सभी को आध्यात्मिक शिक्षा प्रदान करता है। पापाचार से विरक्त होने के

लिए ज्ञान की साधना अनिवार्य है। उपाध्याय ज्ञान की उपासना से संघ में अभिनव चेतना का संचार करता है।

पांचवें पद में साधु को नमस्कार किया गया है। जो मोक्ष मार्ग की साधना करता है, वह साधु है। साधु सर्वविरति-साधना पथ का पथिक है। वह परस्वभाव का परित्याग कर आत्मस्वभाव में रमण करता है। वह अशुभोपयोग को छोड़कर शुभोपयोग में रमण करता है। उसके जीवन के कण-कण में अहिंसा का आलोक जगमगाता है। सत्य की सुगन्ध महकती है। अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह की उदात्त भावनाएँ अंगड़ाइयाँ लेती रहती हैं। वह मन, वचन और काया से महाव्रतों का पालन करता है।

जैन धर्म में मूल तीन तत्त्व माने गए हैं—देव, गुरु और धर्म। तीनों ही तत्त्व नमोक्कार महामन्त्र में देखे जा सकते हैं। अरिहन्त जीवन-मुक्त परमात्मा है तो सिद्ध विदेहमुक्त परमात्मा है। ये दोनों आत्म-विकास की दृष्टि से पूर्णत्व को प्राप्त किये हुए हैं। इसलिए इनकी परिगणना देवत्व की कोटि में की जाती है। आचार्य, उपाध्याय और साधु आत्म-विकास की अपूर्ण अवस्था में हैं, पर उनका लक्ष्य निरन्तर पूर्णता की ओर बढ़ने का है। इसलिए वे गुरुत्व की कोटि में हैं। पांचों पदों में अहिंसा, सत्य, तप आदि भावों का प्राधान्य है। इसलिए वे धर्म की कोटि में हैं। इस तरह तीनों ही तत्त्व इस महामन्त्र में परिलक्षित होते हैं।

नमोक्कार महामन्त्र पर चिन्तन करते हुए प्राचीन आचार्यों ने एक अभिनव कल्पना की है और वह कल्पना है रंग की। रंग प्रकृति नटी का रहस्यपूर्ण प्रतिध्वनियाँ हैं, जो बहुत ही सार्थक हैं। रंगों की अपनी एक भाषा होती है। उसे हर व्यक्ति समझ नहीं सकता, किन्तु वे अपना प्रभाव दिखाते हैं। पाश्चात्य देशों में रंग-विज्ञान के सम्बन्ध में गहराई से अन्वेषण की जा रही है। आज रंग-चिकित्सा एक स्वतन्त्र चिकित्सा पद्धति के रूप में विकसित हो चुकी है। रंग-विज्ञान का नमोक्कार मंत्र के साथ गहरा सम्बन्ध रहा है। यदि हम उसे जानें तो उससे अधिक लाभान्वित हो सकते हैं। आचार्यों ने अरिहन्तों का रंग श्वेत, सिद्धों का रंग लाल, आचार्य का रंग पीला, उपाध्याय का रंग नोला तथा साधु का रंग काला बताया है। हमारा सारा भूत संसार पौद्गलिक है। पुद्गल में वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श होते हैं। वर्ण का हमारे शरीर, हमारे मन, आवेग और कषायों से अत्यधिक सम्बन्ध है। शारीरिक स्वास्थ्य और अस्वास्थ्य, मन का स्वास्थ्य

## ६ तमसो मा ज्योतिर्गमय

और अस्वास्थ्य, आवेगों की वृद्धि और कमी—ये सभी इन रहस्यों पर आधृत हैं कि हमारा किन-किन रंगों के प्रति रुझान है तथा हम किन-किन रंगों से आकर्षित और विकर्षित होते हैं। नीला रंग जब शरीर में कम होता है तब क्रोध की मात्रा बढ़ जाती है। नीले रंग की पूर्ति होने पर क्रोध स्वतः ही कम हो जाता है। श्वेत रंग की कमी होने पर स्वास्थ्य लड़खड़ाने लगता है। लाल रंग की न्यूनता से आलस्य और जड़ता बढ़ने लगती है। पीले रंग की कमी से ज्ञानतन्तु निष्क्रिय हो जाते हैं और जब ज्ञानतन्तु निष्क्रिय हो जाते हैं, तब समस्याओं का समाधान नहीं हो पाता। काले रंग की कमी होने पर प्रतिरोध की शक्ति कम हो जाती है। रंगों के साथ मानव के शरीर का कितना गहन सम्बन्ध है, यह इससे स्पष्ट है।

‘नमो अरिहंताणं’ का ध्यान श्वेत वर्ण के साथ किया जाय। श्वेत वर्ण हमारी आन्तरिक शक्तियों को जागृत करने में सक्षम है। वह समूचे ज्ञान का संवाहक है। श्वेत वर्ण स्वास्थ्य का प्रतीक है। हमारे शरीर में रक्त की जो कोशिकाएँ हैं, वे मुख्य रूप से दो रंग की हैं—श्वेत रक्त कणिकाएँ (W. B. C.) और लाल रक्त कणिकाएँ (R. B. C.)। जब भी हमारे शरीर में इन रक्त कणिकाओं का सन्तुलन बिगड़ता है तो शरीर रुग्ण हो जाता है। ‘नमो अरिहंताणं’ का जाप करने से शरीर में श्वेत रंग की पूर्ति होती है।

‘नमो सिद्धाणं’ का बाल सूर्य जैसा लाल वर्ण है। हमारी आन्तरिक दृष्टि को लाल वर्ण जागृत करता है। पीट्यूटरी ग्लेण्ड्स के अन्तःस्राव को लाल रंग नियंत्रित करता है। इस रंग से शरीर में सक्रियता आती है। ‘नमो सिद्धाणं’ मन्त्र, लाल वर्ण और दर्शन केन्द्र पर ध्यान केन्द्रित करने से स्फूर्ति का संचार होता है।

‘नमो आयरियाणं’—इसका रंग पीला है। यह रंग हमारे मन को सक्रिय बनाता है। शरीरशास्त्रियों का मानना है कि थायराइड ग्लेण्ड आवेगों पर नियंत्रण करता है। इस ग्रन्थि का स्थान कंठ है। आचार्य के पीले रंग के साथ विशुद्धि केन्द्र पर ‘नमो आयरियाणं’ का ध्यान करने से पवित्रता की संवृद्धि होती है।

‘नमो उवज्झायाणं’ का रंग नीला है। शरीर में नीले रंग की पूर्ति इस पद के जप से होती है। यह रंग शान्तिदायक है, एकाग्रता पैदा करता है और कषायों को शान्त करता है। ‘नमो उवज्झायाणं’ के जप से आनन्द-केन्द्र सक्रिय होता है।

‘नमो लोए सब्ब साहूण’ का रंग काला है। काला वर्ण अवशोषक है। शक्ति केन्द्र पर इस पद का जप करने से शरीर में प्रतिरोध शक्ति बढ़ती है।

इस प्रकार वर्णों के साथ नमोक्कार महागन्त्र का जप करने का संकेत मंत्रशास्त्र के ज्ञाता आचार्यों ने किया है। अन्य अनेक दृष्टियों से नमस्कार महामन्त्र के सम्बन्ध में चिन्तन किया गया है। विस्तार भय से उस सम्बन्ध में हम उन सभी की चर्चा नहीं कर रहे हैं। जिज्ञासु तत्सम्बन्धी साहित्य का अवलोकन करें तो उन्हें चिन्तन की अभिनव सामग्री प्राप्त होगी और वे नमस्कार महामन्त्र के अद्भुत प्रभाव से प्रभावित होंगे।

नमस्कार महामन्त्र को आचार्य अभयदेव ने भगवती सूत्र का अंग मानकर व्याख्या की है। आवश्यकनिर्युक्ति में निर्युक्तिकार ने स्पष्ट शब्दों में लिखा है—पंच परमेष्ठियों को नमस्कार कर सामायिक करनी चाहिये। यह पंच नमस्कार सामायिक का एक अंग है। इससे यह स्पष्ट है कि नमस्कार महामन्त्र उतना ही पुराना है जितना सामायिक सूत्र। सामायिक आवश्यक सूत्र का प्रथम अध्ययन है। आचार्य देववाचक ने आगमों की सूची में आवश्यक सूत्र का उल्लेख किया है। सामायिक के प्रारम्भ में और उसके अन्त में नमस्कार मंत्र का पाठ किया जाता था। कायोत्सर्ग के प्रारम्भ और अन्त में भी पंच नमस्कार का विधान है। निर्युक्ति के अभिमतानुसार नन्दी और अनुयोगद्वार को जानकर तथा पंच मंगल को नमस्कार कर सूत्र को प्रारम्भ किया जाता है। आचार्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने पंच नमस्कार महामन्त्र को सर्व सूत्रान्तर्गत माना है। उनके अभिमतानुसार पंच नमस्कार करने के पश्चात् ही आचार्य अपने मेधावी शिष्यों को सामायिक आदि श्रुत पढ़ाते हैं। इस तरह नमस्कार महामन्त्र सर्व सूत्रान्तर्गत है। आवश्यक सूत्र गणधरकृत है तो व्याख्या प्रज्ञप्ति (भगवती) भी गणधरकृत ही है। इस दृष्टि से इस महामन्त्र के प्ररूपक तीर्थंकर हैं और सूत्र में आबद्ध करने वाले गणधर हैं। जिन आचार्यों ने महामन्त्र को अनादि कहा है, उसका यह अर्थ है—तत्त्व या अर्थ की दृष्टि से वह अनादि है।



## नमस्कार महामन्त्र की साधना

नमस्कार महामन्त्र जैन धर्म का मूल मन्त्र है। यह मन्त्र बहुत ही शक्तिशाली है। इस महामन्त्र की संरचना बहुत ही महत्त्वपूर्ण और अलौकिक है। इस मन्त्र में किसी व्यक्ति विशेष की स्तुति नहीं है। इसमें तो आत्मा से परमात्मा की ओर बढ़ने वाले उन विशिष्ट साधकों का उल्लेख है जो गुणों के पुञ्ज हैं। यह मन्त्र पूर्णतः शुद्ध और सात्विक है। इस मन्त्र के जप और ध्यान से किसी भी प्रकार के अनिष्ट की सम्भावना नहीं है। अपितु इस मन्त्र के जप से एक प्रकार की ऊर्जा समुत्पन्न होती है जो कर्म मल को जलाकर नष्ट कर देती है। जिससे आत्मा विशुद्ध बन जाता है। यह पूर्ण विशुद्ध आध्यात्मिक मन्त्र है। अन्य मन्त्रों में देवी और देवताओं की आराधना की जाती है। लक्ष्मी की उपासना करने वाले मन्त्र से लक्ष्मी प्राप्त होती है। और सरस्वती की उपासना करने वाले मन्त्र से बुद्धि प्राप्त होती है। दुर्गा आदि की उपासना करने वाले मन्त्र से शक्ति प्राप्त होती है। पर वे सभी मन्त्र एक सीमित शक्ति तक आवद्ध रहते हैं। परन्तु इस महामन्त्र में किसी व्यक्ति की उपासना नहीं है, अपितु गुणों की उपासना है। उसमें गुणों का उत्कीर्तन है। इस महामन्त्र के पैंतीस अक्षर हैं। कहा जाता है कि एक-एक अक्षर के एक-एक हजार देव इष्टायक हैं। इस प्रकार पैंतीस अक्षरों के पैंतीस हजार देव इष्टायक हैं। इसलिए इस मन्त्र की महिमा और गरिमा अपार है। इस मन्त्र की आराधना से राग-द्वेष, विषय-कषाय क्षीण होते हैं तथा विशुद्ध आध्यात्मिक चेतना उद्बुद्ध होती है। इस महामन्त्र का महत्व इसलिए भी है कि श्रुत ज्ञान राशि का सम्पूर्ण ज्ञाना पूर्ण साहित्य में है और चौदह पूर्व का सार इस महामन्त्र में है। दूसरे शब्दों में कहा जाय तो इस महामन्त्र में जिन शासन का सार है। इस

महामन्त्र की गरिमा और गौरव के सम्बन्ध में पूर्वाचार्यों ने संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, प्राचीन गुजराती और राजस्थानी में विपुल साहित्य का सृजन किया है। विविध दृष्टियों से इस महामन्त्र की महत्ता का उद्गमन किया है।

यह अनुभूत सत्य है कि महामन्त्र की शक्ति अमोघ है। इसका प्रभाव अचिन्त्य है, यह सिद्ध मन्त्र है। इस महामन्त्र की साधना से साधक को लौकिक और पारलौकिक सभी प्रकार की उपलब्धियाँ सम्प्राप्त होती हैं। शारीरिक और मानसिक स्वस्थता का अनुभव होता है। और आध्यात्मिक उत्कर्ष के सन्दर्शन होते हैं। साधक अहं का विसर्जन कर अहं तक पहुँचने का प्रयास करता है। यह महामन्त्र बहुत ही अद्भुत और वैज्ञानिक है। जैन परम्परा इस महामन्त्र को अनादि मानती है। कितने ही शोधार्थी विज्ञान इस सम्बन्ध में अपने तक उपस्थित करते हैं। हमें उस तर्क के जाल में न उलझ कर यह सत्य तथ्य स्वीकार करना होगा कि जिस किसी भी महापुरुष ने इस महामन्त्र की संरचना की, वह अद्भुत मेधा का धनी था और विशिष्ट ज्ञानी था। क्या आध्यात्मिक दृष्टि से और क्या भौतिक दृष्टि से यह मन्त्र पूर्ण है। इस महामन्त्र के बीजाक्षरों को आधुनिक शब्द-विज्ञान के परीक्षण प्रस्तर पर कसते हैं तो सहज ही परिज्ञात होता है कि इसमें विलक्षण, ऊर्जा और शक्ति का भण्डार रहा हुआ है।

इस महामन्त्र के पाँच पद हैं। पैंतीस अक्षर हैं, अड़सठ वर्ण हैं। इन सभी वर्णों का अपना विशिष्ट अर्थ है, विशिष्ट शक्ति है, और ऊर्जा समुत्पन्न करने की अद्भुत क्षमता है।

प्रथम पद है “नमो अरिहंताणं” इस पद में सात अक्षर हैं, जिसमें सात स्वर हैं। और छः व्यंजन हैं। नासिक्य व्यंजन तीन हैं। और नासिक्य स्वर दो हैं और १३ वर्ण हैं। तत्व की दृष्टि से इसमें “इ” (मातृका वर्ण के रूप में) और ‘र’ अग्नि बीज है। ‘अ’ और ‘ता’ वायु बीज हैं। ‘हं’ ‘णमो’ और ‘णं’ यह आकाश बीज हैं। इस प्रकार प्रस्तुत पद में अग्नि, वायु और आकाश ये तीनों तत्व विद्यमान हैं। अग्नि तत्व के कारण अशुभ कर्म की निर्जरा अधिक मात्रा में होती है। वायु तत्व के कारण जो कर्म-रज, निर्जरित हुए वह रज वायु से उड़ जाती है तथा आकाश तत्व ऐसे सुदृढ़ कवच का निर्माण करता है, जिससे साधक में जो ऊर्जा शक्ति समुत्पन्न हुई है वह बाहर नहीं जाती, और अन्य बाहर के विकार उसमें प्रवेश नहीं

## १० तमसो मा ज्योतिर्गमय

करते। उसमें आकाश की तरह विराट्ता होती है। रंग की दृष्टि से णमो अरिहंताणं का रंग श्वेत है। श्वेत वर्ण शांति, समता, शुद्धता, सात्त्विकता का पावन प्रतीक है।

साधना की दृष्टि से साधक को द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की शुद्धि करके पद्मासन कायोत्सर्ग मुद्रा में बैठना चाहिए। और सम्पूर्ण शरीर को स्थिर कर ज्ञान केन्द्र (आज्ञा चक्र) ललाट-भ्रूमध्य में ध्यान को केन्द्रित करें और साथ ही स्फटिक की तरह श्वेत वर्ण की कल्पना करें। सर्वप्रथम णमो अरिहंताणं के एक-एक अक्षर पर ध्यान केन्द्रित करें। नासाग्र पर दृष्टि रखे या आँखें बन्द कर सर्व प्रथम 'ण' अक्षर का ध्यान करें। कल्पना करें कि 'ण' अक्षर एक मीटर लम्बा है, चमकदार है। उसमें से चमचमाती हुई प्रकाश की किरणें प्रस्फुटित हो रही हैं। सम्पूर्ण आकाश उस प्रकाश किरण से जगमगा रहा है। धीरे-धीरे आकार को कम करते जायें और वह आकार एक सूक्ष्म बिन्दु की तरह हो जाय। आकार छोटा होगा, पर प्रकाश अधिक से अधिक तीव्र होगा। उसकी चमक और दमक उत्तरोत्तर बढ़ती चली जायेगी। इसी तरह 'ण' 'मो' 'अ' 'रि' 'हं' 'ता' 'णं' को कल्पना से लिखें, और एक-एक अक्षर का ध्यान करें। यह ध्यान अक्षर ध्यान कहलाता है।

प्रस्तुत पद की साधना का दूसरा चरण है सम्पूर्ण णमो अरिहंताणं इस पद का ध्यान करना। सर्वप्रथम बड़े-बड़े अक्षरों में इस पद को अनन्त आकाश में ध्यान की कलम से लिखा जाय और शनैः शनैः आकार को घटाया जाय और चमक बढ़ाई जाय। अन्त में एक बिन्दु पर प्रकाश को लाया जाय। इसमें घटाने और बढ़ाने का क्रम पुनः-पुनः किया जाय। इस पद-ध्यान के समय पलकें पूरी बन्द रखी जायें और सम्पूर्ण आकाश मण्डल स्फटिक की तरह श्वेत वर्णों दिखलाई देना चाहिए। इस ध्यान की साधना का केन्द्र भी भ्रूमध्य ही है।

तीसरा चरण है "णमो अरिहंताणं" इस पद को श्वेत वर्ण में कल्पना से लिखें, साथ ही णमो अरिहंताणं पद के अर्थ पर भी चिन्तन करें। अरिहंत अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य के धारक हैं। अठारह दोषों से मुक्त हैं। सर्वज्ञ सर्वदर्शी हैं। चिन्तन के साथ ही ललाट में लिखे हुए श्वेत रंग में णमो अरिहंताणं को भी देखेंगे। और अर्थ का भी चिन्तन करेंगे।

चतुर्थ चरण है स्फटिक के समान श्वेत वर्ण वाले निर्मल, अरिहंत की

पुरुषाकृति पर ध्यान किया जाय। ललाट में, जिसे ज्ञान केन्द्र कहा जाता है उस पर ध्यान का अभ्यास किया जाता है। इस तरह णमो अरिहंताणं का ध्यान करने से मानसिक, शारीरिक, स्वस्थता के साथ ही शुद्ध, शुभ भाव जागृत होते हैं, और चेतना जागृत होती है। प्रस्तुत पद की साधना से साधक का आवरण और अन्तराय कर्म का क्षय होता है। बुराइयाँ नष्ट होती हैं और स्मरण शक्ति प्रबल होती है।

“णमो सिद्धाणं” यह दूसरा पद है। इसके पाँच अक्षर हैं। पाँच स्वर और छः व्यंजन हैं। तीन नासिक्य व्यंजन और दो नासिक्य स्वर हैं। इस प्रकार इस पद में ग्यारह वर्ण हैं। तत्व की दृष्टि से प्रस्तुत पद में “णमो” और “णं” में आकाश तत्व है। ‘स’ और ‘द’ ये जल तत्व हैं। ‘ध्’ पृथ्वी तत्व है। और ‘इ’ अग्नि तत्व है। इस प्रकार प्रस्तुत पद में पृथ्वी, अग्नि, जल और आकाश इन सभी तत्वों का संयोग हुआ है “सिद्धाणं” में जो “द्धा” है, वह धारणा शक्ति, दमन शक्ति की अभिवृद्धि करता है और साथ ही इसमें जल तत्व को प्रधानता होने से ऊष्मा कम करता है। और शिथिलता की अभिवृद्धि करता है। ध्वनि विज्ञान की दृष्टि से “द्धा” के उच्चारण से विलक्षण ऊर्जा पैदा होती है। सिद्धाणं पद का रंग लाल है, वह बाल सूर्य की तरह अरुण वर्ण वाला है।

साधना की दृष्टि से णमो सिद्धाणं पद का ध्यान दर्शन केन्द्र यानि सहस्रार-मस्तिष्क में करना चाहिए। जिस प्रकार णमो अरिहंताणं का ध्यान, अक्षर ध्यान, पद ध्यान, पद और अर्थ ध्यान व अरिहंत स्वरूप का ध्यान किया जाता है वैसे ही णमो सिद्धाणं का भी ध्यान किया जाता है। यह ध्यान सहस्रार मस्तिष्क में बाल सूर्य की तरह लाल रंग में ‘ण’ ‘मो’ ‘सि’ ‘द्धा’ ‘णं’ लिखकर किया जाता है। द्वितीय में सम्पूर्ण पद लिखा जाता है। तृतीय सोपान में “णमो सिद्धाणं” पद के साथ ही सिद्धों के गुणों का चिंतन किया जाता है। सिद्ध, अविनाशी, अविकारी, अनन्त गुणों से युक्त हैं। और चतुर्थ सोपान में सम्पूर्ण “सिद्ध स्वरूप” का ध्यान करें। सम्पूर्ण शरीर के कण-कण में बाल सूर्य जैसी ज्योति का अनुभव करें।

इस प्रकार ध्यान करने से साधक का प्रमाद नष्ट होता है। जड़ता मिटती है। और उसके जीवन में उल्लास, उत्साह और स्फूर्ति का संचार होता है। इस साधना में अक्षरों को दीर्घ और सूक्ष्म किया जाता है। किन्तु बाल सूर्य की तरह तेज बढ़ता रहता है। जिससे आन्तरिक जीवन



विशुद्ध और विशुद्धतर बनता जाता है। इस पद की साधना से शाश्वत सुख प्राप्त होता है। कार्य करने की शक्ति पैदा होती है। ज्ञान तथा दिव्य दृष्टि का विकास होता है।

“णमो आयरियाणं” यह तीसरा पद है। इस पद के सात अक्षर हैं। इसमें सात स्वर हैं, पाँच व्यंजन हैं, पाँच नासिक्य व्यंजन हैं और पाँच ही नासिक्य स्वर हैं। प्रस्तुत पद में तत्त्व की दृष्टि से ‘णमो’ और ‘णं’ आकाश तत्त्व है। ‘आ’ ‘य’ में वायु तत्त्व है। ‘रि’ में अग्नि तत्त्व है। इस प्रकार इस पद में वायु, अग्नि और आकाश ये तीनों तत्त्व हैं। इस पद का रंग पीला है। पीला रंग साधक के ज्ञानवाही तन्तुओं को अधिक संवेदनशील और शक्तिशाली बनाता है। दीप शिखा की तरह यह रंग ज्ञानवाही और क्रियावाही तन्तुओं को सक्रिय करता है।

णमो आयरियाणं पद का ध्यान विशुद्धि केन्द्र यानि कंठ स्थान पर किया जाता है। कंठ स्थान पर कल्पना से दीप ज्योति की तरह पीत वर्ण में पहले की तरह ही “ण” अक्षर लिखकर ध्यान किया जाता है। उसके पश्चात् ‘मो’ फिर ‘आ’ ‘य’ ‘रि’ ‘या’ ‘णं’ इन सभी वर्णों का ध्यान किया जाता है। इस ध्यान में अक्षरों को विशाल और सूक्ष्म बनाया जाता है। दूसरे चरण में सम्पूर्ण पद का ध्यान कंठ स्थान में किया जाता है। तीसरे सोपान में आचार्य पद के साथ उनके विविध गुणों का चिन्तन होता है। और चतुर्थ सोपान में आचार्य के स्वरूप पर ध्यान केन्द्रित किया जाता है। शरीर के कण-कण में स्व पर प्रकाशी पीली दीप शिखा का अनुभव करें। अपने शरीर में से निकलते हुए पीले रंग को प्रभा को निहारें। पीला रंग ज्ञान वृद्धि में सहयोगी है। ज्ञान तन्तुओं को यह रंग बलशाली बनाता है। कंठ स्थान पर ध्यान केन्द्रित होने से आवेगों का सहज नियन्त्रण होता है। और चित्त वृत्तियाँ उपशान्त होती हैं। आधुनिक वैज्ञानिक कंठ स्थान पर थाइराइड ग्रन्थि मानते हैं। जो आवेगों की नियामक है। नमो आयरियाणं की साधना से बौद्धिक शक्तियाँ विकसित होती हैं। प्रातिभ और अतीन्द्रिय ज्ञान उपलब्ध होता है और शरीर में अपूर्व सुगन्ध पैदा होती है।

“नमो उवज्झायाणं” यह चतुर्थ पद है। इस पद में सात अक्षर, सात स्वर हैं, सात व्यंजन हैं, पाँच नासिक्य हैं और एक नासिक्य स्वर है। तत्त्व की दृष्टि से “णमो और णं” में आकाश तत्त्व है। ‘उ’ ‘ज्’ पृथ्वी तत्त्व है। ‘व’ ‘झा’ में जल तत्त्व है और ‘य’ में वायु तत्त्व है। इस प्रकार

प्रस्तुत पद में पृथ्वी, जल, वायु और आकाश इन चारों तत्त्वों का समन्वय है। इस पद का रंग निरभ्र आकाश की तरह नीला है। नीला रंग शांति प्रदान करता है। इस पद में अग्नि तत्त्व के वर्ण का अभाव है। जिसके कारण साधक के अन्तर्मानस में सहज शीतलता, समताभाव का विकास होता है।

साधना की दृष्टि से इस पद का ध्यान आनन्द केन्द्र यानि हृदय कमल में करना चाहिए। पूर्व की तरह इस पद की साधना के भी चार चरण हैं। प्रथम चरण में साधक अक्षरों का ध्यान करता है। दूसरे चरण में पूरे पद का ध्यान करता है। तृतीय चरण में पद के साथ ही उपाध्याय के गुणों का भी चिन्तन होता है। और चतुर्थ चरण में उपाध्याय के स्वरूप का ध्यान होता है। यह ध्यान हृदय कमल में निरभ्र आकाश के रंग का किया जाता है। नीले रंग का ध्यान आत्म साक्षात्कार में सहायक है। इसके ध्यान से चित्त एकाग्र बनता है; तथा समाधि सम्प्राप्त होती है। यदि अन्तर्मानस में क्रोध की आँधी आ रही हो तो नीले रंग के साथ हृदय कमल में उपाध्याय का ध्यान किया जाय तो क्रोध नष्ट हो जायेगा और क्षमा भाव जागृत होगा।

“णमो लोए सव्व साहूणं” यह पाँचवां पद है। इस पद के नौ अक्षर हैं, नौ स्वर हैं, नौ व्यंजन हैं। तीन आनुनासिक व्यंजन हैं और एक अनुनासिक स्वर है। इस प्रकार इसमें अठारह वर्ण हैं। तत्त्व की दृष्टि से ‘णमो’ ‘हू’ ‘ण’ में आकाश तत्त्व है। ‘लो’ में पृथ्वी तत्त्व है। ‘ए’ में वायु तत्त्व है। और ‘स’ ‘व्व’ ‘सा’ में जल तत्त्व है। इस प्रकार प्रस्तुत पद में पृथ्वी, वायु, जल और आकाश इन चारों तत्त्वों का समन्वय है।

साधना की दृष्टि से णमो लोए सव्वसाहूणं का ध्यान शक्ति केन्द्र अर्थात् नाभि कमल पर करना चाहिए। इस पद का वर्ण कस्तूरी की तरह चमकदार काला है। यद्यपि सामान्य मानवों की दृष्टि से श्याम वर्ण अशुभ माना जाता है। पर योग साधना की दृष्टि से चमकदार श्याम वर्ण अवशोषक है। इस रंग की यह विशेषता है कि अन्दर की ऊर्जा को बाहर जाने नहीं देता और बाहर का कुप्रभाव अन्दर प्रवेश नहीं करने देता। नाभि कमल पर पूर्व की तरह ‘णमो लोए सव्वसाहूणं’ का चार चरणों में ध्यान किया जाता है। इस ध्यान से साधक में कष्ट सहिष्णुता और परीषहों को सहन करने की अद्भुत क्षमता प्राप्त होती है। बाह्य निमित्तों

से प्रभावित न होने के कारण वह सहज रूप से इन्द्रिय विजेता बन जाती है। उसकी शक्ति अधोमुखी न होकर ऊर्ध्वमुखी बन जाती है। उसे चाहे कर्कश स्पर्श हो, चाहे कठोर स्पर्श हो, उसे सुखदायी प्रतीत होता है।

भाषा शास्त्र की दृष्टि से 'ङ' 'ञ' 'ण' 'न' 'म' ये अनुनासिक वर्ण हैं। इन पाँच अनुनासिक वर्णों में 'ण' और अनुस्वार (ँ) में विशिष्ट शक्ति उत्पन्न करने का सामर्थ्य है। मन्त्र शास्त्र की दृष्टि से भी इन वर्णों को बीजाक्षर माना है। जिन मन्त्रों में अनुनासिक वर्णों की अधिकता होती है, वह मन्त्र बहुत ही प्रभावशाली होता है। नमस्कार महामन्त्र के प्रत्येक षट् का प्रारम्भ और अन्त अनुनासिक वर्णों से हुआ है। कम से कम प्रत्येक पद में चार अनुनासिक वर्ण हैं। और किसी पद में अधिक भी हैं। अनुनासिक वर्णों की अधिकता के कारण इस महामन्त्र में सामान्य मन्त्रों की अपेक्षा कई गुणी अधिक शक्ति है। इस महामन्त्र के जाप से साधक के मन और मस्तिष्क में एक ऊर्जा शक्ति समुत्पन्न होती है। जिससे साधक में अपूर्व तेज पैदा होता है। उसके आस-पास ऐसा अभेद्य कवच निर्मित हो जाता है जिससे कोई भी बाधाएँ उसमें प्रवेश नहीं कर सकती और फिर उसे किसी भी प्रकार की परेशानी नहीं हो सकती।

नमस्कार महामन्त्र आदि मंगल के रूप में भगवती, प्रज्ञापना, कल्प सूत्र और षट् खण्डागम में प्राप्त है। खारवेल का शिला-लेख जो ई० पूर्व १५२ में उत्कीर्णित है उसमें "नमो अरिहंताणं" "नमो सवसिधानं" ये पद प्राप्त हैं। आचार्याग के अनुसार जब श्रमण भगवान महावीर दीक्षित हुए तब उन्होंने सिद्धों को नमस्कार किया था। उत्तराध्ययन के बीसवें अध्ययन में सिद्ध और साधुओं को नमस्कार करने का उल्लेख है "सिद्धाणं नमो किच्चा संजयाणं च भावओ"। महानिशीथ के अनुसार जो नमस्कार महामन्त्र भगवान महावीर के समय था वही महामन्त्र इस समय प्रचलित है। आवश्यक नियुक्ति के अनुसार नमस्कार महामन्त्र सामायिक का एक अंग है। सामायिक आवश्यक सूत्र का प्रथम अध्ययन है। आचार्य देववाचक ने नन्दी सूत्र की सूची में आवश्यक सूत्र का उल्लेख किया है। अतः सामायिक अध्ययन का नमस्कार महामन्त्र एक अंग होने से वह भी आवश्यक सूत्र की तरह ही प्राचीन है। कायोत्सर्ग श्रमण साधना का महत्वपूर्ण अंग है। उसका प्रारम्भ और अन्त पंच नमस्कार से ही होता है। सूत्र का प्रारम्भ भी आवश्यक नियुक्ति के अनुसार नमस्कार सूत्र से किया जाता है। विशेषा-

वश्यक भाष्य में आचार्य जिनभद्र गणी क्षमाश्रमण ने नमस्कार महामन्त्र को सब सूत्रान्तर्गत लिखा है। इस प्रकार यह महामन्त्र अतीत काल से ही जैन शासन में प्रतिष्ठित है। चाहे श्वेताम्बर परम्परा हो, चाहे दिगम्बर परम्परा हो, दोनों में ही यह महामन्त्र पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित है। आज तो जैनत्व का प्रतीक ही यह महामन्त्र है। जिसे महामन्त्र का परिज्ञान नहीं वह जैन कैसा ?

महामन्त्र पर जितना भी लिखा जाय, उतना ही कम है। मैंने बहुत ही संक्षेप में प्राचीन ग्रन्थों के प्रकाश में “नमस्कार महामन्त्र” की साधना किस प्रकार करनी चाहिए। इस विषय पर प्रकाश डाला है। अन्य भी अनेक विधियाँ हैं। जो साधक के लिए उपादेय हैं। पर उन सारी विधियों को इस छोटे से लेख में देना सम्भव नहीं।



## अध्यात्म-साधना के विविध पहलू

### साधना का महत्त्व

मानव जीवन एक कल्पवृक्ष है। वह अगणित शक्तियों से, असंख्य सत्परिणामों से परिपूर्ण है। मानव-जीवन में केवल आत्मा ही नहीं है, शरीर भी है, मन भी है, इन्द्रियाँ भी हैं, अंगोपांग भी हैं। परन्तु ये सब विभिन्न दिशाओं में बिखरे हुए हों, एक लक्ष्य में स्थिर न हों तो, इनकी शक्तियों या सत्परिणामों का लाभ नहीं मिल सकता। इन सबका सम्मिलित रूप ही मानव-जीवन है। परन्तु इनका लाभ तभी मिल सकता है, जबकि इन्हें साधा जाय, संभाला जाए, एक ही लक्ष्य में एकाग्र किया जाए तथा इनकी सुव्यवस्था के लिए चेष्टा की जाए। इसी को हम साधना कहते हैं।

साधना द्वारा तन, मन, वचन, इन्द्रिय आदि को इस प्रकार साधा जा सकता है, जिस प्रकार सर्कस वाले सिंह जैसे आक्रमणकारी हिंस्र जीव को स्वामिभक्त, आज्ञाकारो एवं मालिक के इशारे पर चलने वाले बनाने में सफलता प्राप्त कर लेते हैं। सर्कस के पशु-शिक्षक उन भयंकर जन्तुओं की अनगढ़ आदतों तथा क्रूर एवं उद्धत स्वभावों को छुड़ाने और अपने मनोनीत साँचे में ढालने तथा उस प्रकार का अभ्यास ढालने में कठोर पुरुषार्थ करते हैं।

### आध्यात्मिक साधना का मार्ग कठिन भी, सरल भी

यही बात आत्मिक क्षेत्र में साधना के विषय में कही जा सकती है। आध्यात्मिक साधना का मार्ग कठिन भी है और सरल भी। जिन लोगों की रुचि, श्रद्धा या जिज्ञासा अध्यात्म साधना के प्रति नहीं होती। जो ढर्रे का जीवन जीना चाहते हैं, आत्मा के निजी गुणों—ज्ञान, दर्शन, चारित्र, सुख आदि की साधना के लिए अपने तन-मन आदि साधनों को मोड़ना नहीं

चाहते, उनके लिए अध्यात्म साधना कठिन है, किन्तु जिनकी रुचि, श्रद्धा एवं जिज्ञासा इसके प्रति है, उनके लिए यह साधना कठिन नहीं होती। साधना के मार्ग पर चलने वाला मुमुक्षु अपनी अन्तःक्षेत्रीय श्रद्धा को विकसित करता है; अपने चिन्तन-प्रवाह को लक्ष्य की दिशा में नियोजित करता है, सात्त्विक और सुसंस्कृत जीवन के नियमोपनियमों का तत्परतापूर्वक पालन करता है। अपनी आदतों, प्रवृत्तियों तथा प्रकृति को नियन्त्रित करता है। इन सबकी मिली-जुली प्रतिक्रिया साधक के व्यक्तित्व पर पड़ती है। सच्चा साधक किसी प्रकार की लौकिक फलाकांक्षा, स्वार्थ की सौदेबाजी या निदान (वैषयिक वांछा) साधना के साथ नहीं जोड़ता। वह बार-बार साधना के परिणाम की ओर नहीं ताकता। न ही धैर्य खोकर वह साधना को अधबीच में अधूरी छोड़कर भागता है। वह लक्ष्यसिद्धि होने तक सतत साधना में लगा रहता है। यही दृढ़निष्ठा दुष्प्रवृत्तियों का निराकरण और सत्प्रवृत्तियों को स्वभाव का अंग बनाने में सहायक सिद्ध होती है। योगदर्शन की भाषा में कहें तो साधना तभी सुदृढ़ बनती है, जब वह 'स तु दीर्घतर-नैरन्तर्य-सत्कारासेवितो दृढभूमिः' अर्थात्—दीर्घकाल तक, निरन्तर, सत्कारपूर्वक उसका सेवन करता है।

### किसान से साधना सीखें !

यह तो हुई आध्यात्मिक क्षेत्र में साधना की बात। साधना भौतिक क्षेत्र में भी होती है। उदाहरणार्थ—एक किसान है। वह अन्न-उत्पादन की साधना करता है। पूरे वर्ष वह खेत की मिट्टी के साथ अनवरत गति लिपटा रहता है। फसल को वह अपने स्वेद कणों से सींचता रहता है। वह सर्दी-गर्मी की या जुकाम-खांसी आदि की चिन्ता नहीं करता। शरीर की तरह खेत ही उसका कार्यक्षेत्र होता है। एक-एक पौधे पर उसकी नजर रहती है। खाद, पानी, निराई, गुड़ाई, कटाई, पैराई आदि से लेकर रखवाली तक के अनेकों कार्य वह अपनी इच्छा और प्रेरणा से करता है, किसी के दबाव से नहीं। खेती में कब, क्या, कैसे किया जाना चाहिए? किस बात की कब आवश्यकता है? यह सब वह अपनी सूझ-बूझ और गतिविधि के अनुसार निर्णय करता है, किसी के निर्देश या भय से नहीं। उसे अपने खेत की, उसे संभालने वाले वेलों की, हल, कुदाल आदि सम्बद्ध उपकरणों और साधनों की व्यवस्था जुटाए रखने की सूझबूझ सहज ही उठती है और स्वयं स्फुरित रूप से गतिशील होती रहती है। वह यह सब करता है, बिना थके, बिना ऊबे और बिना अधोर हुए। आज का किया हुआ श्रम कल ही फलित होना चाहिए,

इस प्रकार का आग्रह या अधैर्य उसके मन में तनिक भी नहीं होता। फसल अपने समय पर पकेगी, यह दृढ़ विश्वास, आशा और धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा किसान के जीवन का अंग है। बीज बोने के बाद झटपट अनाज का ढेर कोठे में भरने की आतुरता उसे नहीं होती। इतने मन अन्न निश्चित रूप से होना ही चाहिए, इतने लम्बे चौड़े मनसूबे बाँधना भी किसान अनावश्यक समझता है। मनोयोगपूर्वक सतत उसकी श्रम साधना चलती रहती है। अतिवृष्टि, अनावृष्टि, टिड्डीदल द्वारा हानि, कम सिंचाई इत्यादि विघ्न बाधाएँ या अवरोध उसकी कृषि-साधना में न आते हों, सो बात भी नहीं है, किन्तु वह बिना धराए, बिना पलायन किये, उनसे भी यथाशक्ति यथा-वसर निपटता है। मगर कृषि साधना की उपेक्षा वह कदापि नहीं करता। कृषि के क्षेत्र में यथावश्यक श्रम किये बिना उसे चैन नहीं पड़ता। फिर भी किसान के मन में किसी प्रकार की असंतुष्टि, व्याकुलता, दूसरे की तरक्की के प्रति ईर्ष्या या प्रतिस्पर्धा अथवा दूसरे को नीचे गिराने की दुर्भावना नहीं होती। समयानुसार फसल पकती है। अनाज उत्पन्न होता है। वह सन्तोष-पूर्वक उसे घर ले जाता है। जो कुछ भी मिला उसे प्रकृति का उपहार समझकर अपनाता है। वह भगवान को, किसी देवी-देव को या अन्य किसी भी निमित्त को कोसता या भला-बुरा कहता नहीं। यही है किसान की साधना, जिसे वह होश सँभालने के दिन से लेकर आयु-पर्यन्त सतत निष्ठा-पूर्वक करता है। न विश्राम, न थकान, न ऊब, न अन्यमनस्कता और न पलायनवृत्ति। साधना कैसे की जाती है और साधक को किन गुणों से सम्पन्न होना चाहिए? यह किसान से सीखा जा सकता है।

### माली की साधना की तरह अध्यात्म साधना हो

जंगलों में कंटीले झाड़-झंखाड़ उगते हैं। वे बेढंगी रीति से छितराते हुए उस भूमि को कंटकाकीर्ण बना देते हैं। इसी प्रकार जंगल में विशृंखलित अव्यवस्थित एवं अस्त-व्यस्त स्थिति में कुछ न कुछ उत्पादन या पेड़ पौधों का विकास होता है, परन्तु वह किस गति से, किस क्रम से या किस दिशा में चलेगा, यह नहीं कहा जा सकता। इसके विपरीत किसी चतुर माली की देखरेख में व्यवस्थित ढंग से लगाए गए पौधे सुरम्य उद्यान बन कर फलते-फूलते हैं। प्रत्येक पौधे को क्रमबद्ध लगाने, उसे सींचने, आसपास के फालतू घास या कचरे को उखाड़ फेंकने तथा निरन्तर संभालने की सजग कर्तव्य-निष्ठा माली की उद्यान-साधना है। जिसका प्रतिफल उसे सम्मान के रूप में एवं पेड़ पौधों के हरे-भरे फले-फूले सौन्दर्य के रूप में, सर्वसाधारण को

छाया, सुगन्ध, मधुर फल एवं सुषमा के रूप में उपलब्ध होता है। माली की यह उद्यान-साधना सर्वतोमुखी सत्परिणाम ही प्रस्तुत करती है।

साधनाशील व्यक्ति के आत्मा, तन, मन आदि मिलकर एक प्रकार का आध्यात्मिक उद्यान है। उसमें अनेक शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक, भौतिक शक्तियाँ एवं विशेषताएँ हैं। उन्हें यदि आत्मिक प्रगति एवं अन्तिम लक्ष्य की ओर मोड़ा जाए, व्यवस्थित, विकसित और क्रमबद्ध किया जाए तो स्वयं अध्यात्म-साधक को उसके स्वादिष्ट फल—संतुष्टि, गहन तृप्ति, आनन्द एवं निश्चित सफलता के रूप में प्राप्त होता ही है। समाज एवं राष्ट्र को भी उसकी उत्तम साधना से लाभ मिलता है। इसके विपरीत यदि उन चित्तवृत्तियों और शरीरगत प्रवृत्तियों को निरंकुश, स्वच्छन्द, विश्रुंखलित एवं अव्यवस्थित रूप से छोड़ दिया जाए, अपने तन, मन, वचन आदि को कर्तव्यनिष्ठ बनकर संभाला न जाए, उलटें, उन्हें भौतिकता और विलासिता की ओर जाने दिया जाए तो अवश्य ही वे उद्धत, उच्छ्रंखल, भौड़े-भट्टे एवं गंवारू स्तर पर बढ़ते हैं और दिशाविहीन, लक्ष्यरहित, उच्छ्रंखलता के कारण जंगली झाड़ियों की तरह उस समूचे क्षेत्र को अगम्य एवं कण्टकाकीर्ण बना देते हैं। अतः अध्यात्म साधना माली की उद्यान-साधना के समान हो, तभी मानव जीवन सच्चिदानन्दरूप बन सकता है।

**अध्यात्म साधना : स्वयंस्फूर्त शक्ति से**

वास्तव में देखा जाए तो अध्यात्म-साधना किसी देवी देवता, भगवान् या शक्ति विशेष को प्रसन्न करने, उनके आगे गिड़गिड़ाने, उनकी अनुनय-विनय करने या उनको भेंट-उपहार चढ़ाने से नहीं होती, वह अपने ही भीतर दबी-छिपी एवं सुषुप्त शक्तियों के खजाने को खोदकर निकालने, अपनी अनेकानेक विशेषताओं और विभूतियों को जागृत (प्रकट) कर देने से होती है। साधना का क्षेत्र अन्तर्जगत् है। अपने ही भीतर इतने ज्ञान-दर्शन-चारित्र्य-तप एवं वीर्य के, आत्मिक सौख्य के रत्नों की निधि गड़ी हुई है कि उस रत्नाकर में स्वयं गोता लगाकर ही आध्यात्मिक धन से सुसम्पन्न बना जा सकता है। फिर किसी बाहर वाले से मांगने एवं याचना करके दीनता दिखाने से और अपनी आत्मा को हीन मानने से क्या लाभ? मनुष्य की आन्तरिक क्षमताएँ ही आत्मदेवता के वरदान हैं। तत्त्वज्ञानी महापुरुषों ने साधना के माध्यम से इस आन्तरिक आत्मनिधि को करतलगत करने का विधि-विधान बताया है। यही आध्यात्मिक साधना का उद्देश्य है।

जो साधक आध्यात्मिक साधना के साथ देवी-देवों या किसी विशिष्ट



शक्ति के आगे दीनता प्रदर्शित करके कुछ प्रतिफल मांगता है, वह अप आत्मदेवता का अपमान करता है। देवी देव तो स्वतः ही उसकी अध्यात्म साधना से प्रभावित होकर उसके चरणों में आते हैं। वे अपने पास से किस को कुछ देते नहीं, मनुष्य को अपनी साधना के फलस्वरूप पुण्यवृद्धि होने। वह स्वतः प्राप्त हो जाता है।

जैसे शारीरिक बल बढ़ाने के लिए मुद्गर, डम्बल आदि उठाने घुमाने एवं व्यायाम आदि करने पड़ते हैं। इन उपकरणों में बल कहाँ होता है? वह तो अपने शरीर की मांसपेशियों से ही उभरता है। उस उभार में व्यायामशाला के साधन सहायताभर करते हैं। मुद्गर आदि साधनों से मिलता कुछ नहीं, मिलता है भीतर से ही। यही बात अध्यात्म साधना के विषय में समझ लेनी चाहिए। आत्म साधना में प्रयुक्त होने वाले विधि विधान, उपकरण या क्रियाएँ आदि अपने आप में कुछ देते नहीं, वे साधक में निष्ठा एवं भावना जगा देते हैं, वीतराग प्रभु की वाणी, गुरु, आचार्य आदि तथा आगम, शास्त्र आदि उस साधना की कार्यपद्धति बता देते हैं साधक श्रद्धाभक्तिपूर्वक प्रमाद छोड़कर मनोयोगपूर्वक साधना में रत हो जाता है, तो अपने उज्ज्वल भविष्य की असीम सम्भानाएं स्वयं जगा लेता है। आत्म चेतना की जागृति ही साधना का लक्ष्य है, जिसे हो अप्रमत्त साधक अपनाता है। साधक को इसके लिए अपने चिन्तन एवं कर्तृत्व के बिखराव को रोककर आत्मा के अभीष्ट प्रयोजन के केन्द्रबिन्दु पर केन्द्रित करना पड़ता है। इसके लिए भौतिक क्षेत्र में साधना करने वाले किसान, माली आदि के समान ही गतिविधियाँ भी उसी स्तर की रखनी पड़ती हैं।

**अध्यात्म साधना में सातत्य और धैर्य आवश्यक**

विद्वान को विद्या की प्राप्ति चुटकी बजाने भर से या किसी जादू-मंत्र से नहीं हो जाती। इसके लिए उसे पांच वर्ष की आयु से अध्ययन-साधना का शुभारम्भ करना पड़ता है। विद्यालय और घर में कम से कम छह घंटे का प्रतिदिन अभ्यास एवं मानसिक श्रम करना होता है। इस श्रम में जितनी एकाग्रता, रुचि, श्रद्धा एवं तन्मयता होती है, उसी अनुपात से उसके अध्ययन में प्रगति होती है। इसी मनोयोग एवं उत्साहपूर्ण श्रम पर विद्यार्थी का अच्छे नंबरों में उत्तीर्ण होना निर्भर है। इतना ही नहीं, स्नातक बन जाने पर भी ऐसा विद्या-साधनाशील व्यक्ति चुप नहीं बैठता, वरन् अपने मनोनीत विषयों पर विशेष अध्ययन के लिए अनेक ग्रन्थों को पढ़ता रहता है। अध्ययन से वह विरत नहीं होता। इस विद्या-साधना से उसे सम्मान और

धन दोनों मिलते हैं। इन सबसे बड़ी उपलब्धि है—आत्म संतोष। वह स्वामी विवेकानन्द की तरह रुग्णता आदि की स्थिति में भी स्वतः प्रेरणा से समय निकालकर रूचिपूर्वक पढ़ता रहता है। अध्ययन के बिना उसकी तृप्ति नहीं होती। आत्म-साधना के साधक की मनःस्थिति भी ऐसी होनी चाहिए। उसे अध्ययन प्रिय की तरह उस स्वान्तः सुखाय बिना व्यवधान के तन्मयतापूर्वक साधना करते रहना चाहिए। सिद्धि के शिखर पर अर्थात् चौदहवें गुणस्थान पर पहुँचने पर ही उसे अपनी साधना छोड़नी चाहिए। परिणाम की आकांक्षा उसे नहीं रखनी चाहिए। प्रत्येक अच्छे-बुरे कार्य का फल तो अवश्य मिलता है, फिर कोई कारण नहीं कि आत्म-साधना जैसे महान प्रयोजन में सतत् संलग्न रहने का कोई प्रतिफल प्राप्त न हो।

गायक और वादक एक ही दिन में अपने विषय में पारंगत नहीं हो जाते; उन्हें स्वर, नाद, लय आदि की साधना नित्य निरन्तर करनी पड़ती है। 'रियाज' न करने वाले गायक का स्वर छितराने लगता है, वादक की अंगुलियाँ स्फूर्तिहीन हो जाती हैं। संगीत-सम्मेलन तो कभी-कभार होता है, परन्तु वहाँ पहुँचने से पहले और पीछे सफलता दिलाने वाली स्वर साधना तो नित्य करनी पड़ती है। सच्चा संगीत-साधक यह अपेक्षा नहीं रखता कि श्रोताओं ने उसकी कितनी प्रशंसा की या कितनी धनराशि दी; किन्तु आत्म-सन्तुष्टि ही नित्य मिलने वाली प्रसन्नता को ही पर्याप्त मानता है। बाहर से किसी से कुछ भी न मिले तो भी तानसेन या बैजू बावरा की तरह वह एकान्त जंगल में भी, किसी स्थान या गुफा में रहकर भी आजीवन मस्ती से संगीत-साधना कर सकता है। आत्म-साधना के साधक की भी मनःस्थिति और वृत्ति-प्रवृत्ति ऐसी ही होनी चाहिए।

नर्तक या अभिनेता अपना अभ्यास नित्य जारी रखते हैं। शिल्पी और कलाकार जानते हैं कि उन्हें अपने शिल्प या कला में सिद्धहस्त बनने के लिए नित्य नियमित अभ्यास करना चाहिए। फौजी सैनिकों को अनिवार्य रूप से प्रतिदिन परेड (कवायद) करनी पड़ती है। अभ्यास छूट जाने पर न तो वे निशाना ठीक साध सकते हैं और न ही युद्ध कौशल के लिए उनका हाथ अभ्यस्त रहता है। अध्यात्म साधक भी इसी प्रकार नित्य नियमित रूप से अपनी साधना करता है, क्योंकि वह जानता है कि प्रतिदिन आत्म-चिन्तन एवं आत्म-निरीक्षण करते रहने से ही अन्तिम समय में आत्मशुद्धि एवं समाधि की निष्पत्ति हो सकती है।

### आत्मसाधना : आत्मा की भोजन और शोधन करने वाली

शरीर को जीवित और सुसंचालित रखने के लिए दो कार्य आवश्यक होते हैं—(१) भोजन और (२) मल-विसर्जन। भोजन के बिना तो कदाचित्त कुछ दिन रहा जा सकता है, परन्तु हाजत होने पर मल-त्याग के बिना तो रहा ही नहीं जा सकता। भोजन लम्बे समय तक न किया जाए तो पोषण के लिए नितान्त आवश्यक रस-रक्त की नई उत्पत्ति नहीं हो सकती। फलतः पूर्वसंचित रक्त के समाप्त होते ही मनुष्य दुर्बल होकर मृत्यु के मुख में चला जा सकता है। इसी प्रकार मल-त्याग न करने पर शरीर में नित्य उत्पन्न होते रहने वाले विष—विजातीय द्रव्य जमा होते और बढ़ते रहते हैं और कभी न कभी किसी भयंकर रोग या उपद्रव के रूप में प्रकट होकर कष्टकारक मृत्यु के कारण बन सकते हैं।

शरीर की तरह आत्मा को भी भूख लगती है, उस पर मल चढ़ते हैं और उसे भी सफाई की आवश्यकता पड़ती है। आत्मा के इन दोनों प्रयोजनों को पूर्ण करने वाली प्रक्रिया आत्म-साधना कहलाती है। साधना से सत्प्रवृत्तियों को जगाकर वह सब उगाया या पकाया जा सकता है, जिससे आत्मा की भूख बुझती है। आत्म-साधना से जीवनभूमि में हरी-भरी सद्गुणों की फसल लहलहाती है। साधना से उन सभी मलिनताओं, कल्मषों, कषायों तथा रागद्वेषादि मनोविकारों का निष्कासन होता है, जो आत्मिक प्रगति के हर क्षेत्र में चट्टान बनकर खड़े रहते हैं।

साधना में प्रयुक्त होने वाली आत्मशोधन और आत्मनिर्माण की उभयपक्षीय प्रक्रिया अन्तःक्षेत्र में धंसे-फंसे कुसंस्कारों को उखाड़ कर उनके स्थान पर सद्गुण रूपी फलों के वृक्ष लगाती है। अतः साधना से मनुष्य मोक्ष-मार्ग के बीच में आने वाली तृष्णा, वासना आदि की कंटोली झाड़ियों से पिण्ड छुड़ाने तथा लब्धि-सिद्धि आदि स्वादिष्ट फल सम्पदा से लाभान्वित होता है।

### आत्मदेव की साधना ही सर्वश्रेष्ठ साधना है

संसार में जितने भी चमत्कारी देव माने जाते हैं, उन सबसे बढ़कर आत्मदेव है। उसकी साधना प्रत्यक्ष फलदायिनी है। नकद धर्म की तरह उसकी उपासना कदापि निष्फल नहीं जाती। यदि उद्देश्य समझकर सही दृष्टिकोण से विधिवत आत्म-साधना की जाए तो वह चिन्तामणि, कल्पवृक्ष या कामधेनु के समान चिन्तित फलदायिनी बन सकती है।

देवताओं की क्षमता और अनुकम्पा के विषय में बहुत-सी मधुर एवं मुखद कल्पनाएँ की जाती हैं। उनकी अभ्यर्थना मनौती करते हुए यह आशा की जाती है कि वे द्रवित होंगे और साधक की क्षमता, सुविधा एवं प्रसन्नता बढ़ाने में सहायक होंगे। इन देवी देवों की अर्चा-पूजा का प्रचलन प्रायः इसी लौकिक फलाकांक्षा की धुरी पर घूमता है। इतने पर भी बहुत ही कम भाग्यशाली होंगे, जो अपनी लौकिक मनोवांछा एवं भौतिक स्वार्थ की कल्पना को सफल होती देख पाते हों।

इन परोक्ष देवों की तुलना में प्रत्यक्ष आत्मदेव की क्षमता और स्वगुणवृद्धि के सामर्थ्य को यथार्थता की सभी कसौटियों पर इन्हीं आँखों से देखा-परखा जा सकता है। आत्मशुद्धि के लिए की गई रत्नत्रय की साधना से वे सभी परमात्म-सम्पदाएँ, लोकोत्तर सिद्धियाँ एवं आत्मिक शक्तियाँ प्राप्त हो सकती हैं, जिनके लिए स्वर्ग के देवों के पास भटकने, दीनता दिखाने और निराश रहने की बिडम्बना सहनी पड़ती है। देवों में सर्वश्रेष्ठ आत्मदेव है। परमात्मा भी परम शुद्ध आत्मदेव है। उस तक पहुँचना अत्यन्त सरल है। आत्मदेव की साधना तत्काल फलदायक, सर्वसुलभ एवं सर्वश्रेष्ठ साधना है। आत्मदेव की सतत श्रद्धाभक्ति-पूर्वक साधना से आत्मिक ऋद्धियाँ तो प्राप्त होती ही हैं, उत्तम संहनन, उत्तम संस्थान, मानसिक शांति, शारीरिक-मानसिक शक्तियाँ आदि भौतिक सिद्धियाँ भी अनायास ही उसके जीवन में अठखेलियाँ करती हैं। आत्मा के शुद्ध स्वरूप या स्वगुण-समूह पर जो मन-वचन-काया की दुष्प्रवृत्तियों के या राग-द्वेषादि-जनित दुष्कर्मों के आवरण छाये हुए हैं, उन्हें साहसपूर्वक हटाने की तपश्चर्या करता है तो उससे आत्मदेव की साधना का पूर्वाधे पूर्ण होता है और उत्तरार्द्ध में आत्मा के ज्ञानादि निजगुणों तथा आत्मा की शक्तियों का संवर्धन करना होता है। यही परमात्मदेव तक पहुँचने की प्रक्रिया है। यही आत्मदेव की साधना का उद्देश्य है। आत्मानुशासन और आत्मशोधन ये आत्म-साधना के दो चरण हैं, इन्हीं से साधक इस परमदेव तक पहुँच सकता है। आत्म-साधना का उद्देश्य आत्मसत्ता को परिष्कृत करके आत्मा की पूर्णता को प्राप्त करना है। छद्मस्थ अवस्था तक आत्मा की अपूर्णता मानी जाती है, किन्तु वीतराग अवस्था प्राप्त होने पर आत्मपूर्णता प्राप्त होती है। निश्चयनय की दृष्टि से संसारी आत्मा और परमात्मा में कोई अन्तर नहीं है। दोनों ही अपने आप में पूर्ण हैं। जैसे ज्वाला और चिनगारी में आकारभर का अन्तर है। मूल क्षमता की दृष्टि से, दोनों की स्थिति में

आत्मगुणों में या आत्मशक्तियों में कोई अन्तर नहीं, किन्तु कर्मों के आवरण की दृष्टि से संसारी आत्मा और परमात्मा में अन्तर है। यों देखा जाय तो आत्मा में परमात्मा के गुण बीज रूप में निहित हैं। बीज में पूर्ण वृक्ष की सत्ता और शुक्राणु में पूर्ण मनुष्य की सत्ता विद्यमान रहती है। आत्मसाधना से ज्ञानादि गुणों के विकसित होने पर ही उक्त बीज का विस्तार होने लगता है, जो एक दिन पूर्णता तक पहुँच जाता है। आत्मा की परिपूर्णता प्राप्त करना ही आत्मसाधना का लक्ष्य है।





## आत्मा का उत्थान एवं पतन : अपने हाथों में

अपना उत्थान-पतन अपने ही हाथों में

मानव अनन्त शक्तियों का अक्षय कोष है। उसके कायिक, मानसिक और बौद्धिक संस्थान में अद्भुत क्षमताओं के एक से एक भण्डार भरे पड़े हैं। उनका व्यवस्थित ढंग से सदुपयोग किया जाए तो सामान्य समझा जाने वाला व्यक्ति भी श्रेष्ठतम आध्यात्मिक उपलब्धियाँ प्राप्त कर सकता है, जिन्हें देवलोक के देवी-देव भी या इन्द्र भी प्राप्त नहीं कर सकते। यही कारण है कि आध्यात्मिकता के अथवा आत्म शक्तियों के सर्वोच्च शिखर पर पहुँचे हुए महामानव पुरुषोत्तम तीर्थंकर के चरणों में दिव्य ऋद्धियों एवं दैवी शक्तियों के सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधि चौंसठ इन्द्र भो नतमस्तक होते हैं। इसीलिए कि उन पुरुषोत्तम देवाधिदेव तीर्थंकरों ने अपने पास उपलब्ध शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि भौतिक साधनों का आत्मशुद्धि, आत्मशक्ति, आत्म विकास एवं परमात्मतत्व-प्राप्ति में उपयोग किया। उन्होंने अपने इन भौतिक साधनों का उपयोग इन्द्रिय-विषयों की आसक्ति में, कषाय एवं राग-द्वेष-मोह की वृद्धि में, मन-वचन-काय की दुष्प्रवृत्तियों में नहीं किया। वीतराग सर्वज्ञ तीर्थंकरों ने यह सिद्ध कर दिया कि अपनी आत्मा का उत्थान एवं पतन, उद्धार एवं विनाश, विकास और ह्रास, अपने ही हाथ में है। संसार की कोई भी शक्ति किसी दूसरी आत्मा का उत्थान-पतन या उद्धार-विनाश नहीं कर सकती। अपने विकास और ह्रास का कर्ता-धर्ता स्वयं आत्मा ही है। उत्तराध्ययन सूत्र का वह भगवद्वचन रह-रह कर प्रेरणा दे रहा है—

अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य ।

अप्पा मित्तममित्तं च, दुप्पट्ठिओ सुप्पट्ठियो ॥

आत्मा ही अपने सुखों और दुःखों का स्वयं कर्ता और भोक्ता है।

( २५ )

आत्मा ही जब सुप्रतिष्ठित होता है तो वह अपना मित्र हो जाता है और दुष्प्रतिष्ठित होने पर शत्रु ।

यही बात दूसरे शब्दों में भगवद्गीता में कही गई है—

“उद्धरेद्वात्मनात्मानमात्मानमवसादयेत् ।

आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥”

अपना उद्धार स्वयं (आत्मा से) करो; अपने आपको गिराओ मत ।  
आत्मा ही आत्मा का बन्धु है, और आत्मा ही आत्मा का शत्रु ।

जब आत्मा श्रेय-पथ को छोड़कर प्रेय के लुभावने एवं मनमोहक मार्ग पर चल पड़ता है, तब वह अपना ही पतन करता है और जब वह संसार की विषय-वासनाओं और रागद्वेष, अज्ञान, मोह, काम-क्रोधादि विकारों के विषय मार्ग को छोड़कर ज्ञानदर्शन-चारित्र-तप से युक्त मोक्षमार्ग पर चलता है, तब वह अपना उत्थान करता है । अपने उत्थान और परिष्कार की तथा पतन और पराभव की कुंजियाँ अपने ही हाथों में हैं । दोनों में से चाहे जिसका द्वार स्वेच्छापूर्वक खोला जा सकता है । अपने पौरुष-पुरुषार्थ से, उत्थान, कर्म, बल और वीर्य से तथा अपनी ही विवेकशीलता, आस्था और दूरदर्शिता से आत्मा की प्रगति के द्वार खुलते हैं और अपनी ही अकर्मण्यता, अदूरदर्शिता और अनास्था से ही अवगति के द्वार खुलते हैं । अगर यह तथ्य समझ में आ जाए तो प्रतीत होगा कि अपनी आत्मा ही कामधेनु है, कल्पवृक्ष है और चिन्तामणि है, और अपनी आत्मा ही वैतरणी नदी है, आत्मा ही कूट-शाल्मलिवृक्ष है । जिस-जिस कामना से आत्मा की उपासना की जाएगी, उसी के अनुरूप वरदान मिलते जाएँगे । आत्मिक प्रगति और आत्मिक दुर्गति दोनों अपने ही हाथों में हैं । आत्मिक प्रगति का अर्थ है—आन्तरिक दोषों, दुर्गुणों या राग-द्वेष-मोहादिया विषय-कषायादि विकारों से दूर रहकर मन-वचन-काया को सद्विचारों, सद्वचनों और सत्प्रवृत्तियों में लगाने का सतत प्रयत्न करना; प्रतिपल प्रतिक्षण जागृत रहकर अप्रमत्त-भाव से ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तप की आराधना करना ।

इसी प्रकार आत्मिक दुर्गति का अर्थ है—हिंसा, असत्य, बेईमानी, चोरी, डकैती, व्यभिचार, दुराचार, परिग्रहवृत्ति, तृष्णा, संग्रहवृत्ति, क्रोधादि कषाय, पंचेन्द्रिय विषयों के प्रति रागद्वेष, इष्टवियोग-अनिष्टसंयोग में आर्त ध्यान; इत्यादि दुर्गुणों को अज्ञानतावश रुचिपूर्वक अधिकाधिक अपनाना ।

**आत्मबोध : आत्मोद्धार का प्रथम सोपान**

आत्मा के महत्व, स्वरूप और उसमें निहित स्वगुणों एवं शक्तियों का

बोध होने पर ही मनुष्य आत्मा के उत्थान या उद्धार की दिशा में अग्रसर हो सकता है, परन्तु जहाँ आत्मा का ही बोध न हो, जो शरीर के लालन-पालन, शरीर और शरीर से सम्बन्धित वस्तुओं की ही सुरक्षा, ममता करने एवं उनको ही आत्मीय मानने की वृत्ति में पड़ा हो, जो शरीर को ही आत्मा मानते हैं तथा शरीर के भस्म हो जाने के साथ आत्मा का अन्त मानते हैं, वे तो खाने, पीने और ऐश-आराम करने को ही जिदगी का उत्थान मानते हैं। भला आत्मा का उत्थान अज्ञान, मोह, राग, आसक्ति एवं ईर्ष्या-द्वेष से कैसे हो सकता है ? इसीलिए उपनिषद् के ऋषि याज्ञवल्क्य कहते हैं—

**आत्मा बाऽरे श्रोतव्यो मंतव्यो निदिध्यासितव्यश्च ।**

“मानव ! आत्मा के विषय में ही सुनो, जानो, विचारो और गहराई से समझो ।”

उद्बोधन पर विचार करके जो व्यक्ति आत्मा का स्वरूप समझकर उसके उत्थान के लिए प्रयत्न करता है, वही मानव आत्मा को बन्धु बनाता है, इसके विपरीत जो व्यक्ति आत्मा के गुणों को तिलांजलि देकर मद्य, मांस, व्यभिचार, द्यूत आदि कुव्यसनों में पड़कर स्वयं को सुखी बनाने का प्रयत्न करता है, वह गर्मागर्म शीशा मुँह में उड़ेल कर आनन्द मनाने की-सी बाल-चेष्टा करता है ।

**आत्मा को परभावों से हटाकर स्वभाव में लगाओ**

आज जितना ध्यान धन कमाने, सन्तान पैदा करने, शरीर सजाने-संवारने, खाने-पीने तथा वैभव प्रदर्शन का ताना-बाना बुनने पर दिया जाता है, उतना यदि आत्मचिंतन, आत्मसुधार, आत्म-निर्माण और आत्मपरिष्कार की प्रक्रिया पर दिया जा सके तो अवश्य ही आत्मशक्ति की मात्रा अनेक गुनी बढ़ सकती है । अपनी प्रसुप्त शक्तियों को जगाने और बढ़ाने पर ध्यान केन्द्रित हो जाए तथा अपने आपका दमन करके तन-मन-वचन को, आलस्य एवं प्रमाद को त्यागकर तत्परता से जुट पड़े तो उसे प्रतीत हो जाएगा कि उसकी आत्मा में प्रचुर बल, वीर्य और पुरुषार्थ आ गया है । यदि बिखराव की बाल-चपलता को त्यागकर अपने समस्त बल को एकाग्र भाव से आत्म-विकास में लगा दिया जाए तो कठिनतम कार्य भी अनायास ही हो जाएँगे । फिर तो दुर्लभ प्रतीत होने वाला आत्मिक सुख उसके जीवन में यहाँ और वहाँ अठखेलियाँ करने लगेगा ।



भगवान महावीर ने तो अनुभवपूर्वक स्पष्ट कहा था—

अप्पा च्चेव दमेयव्वो, अप्पा हु खलु दुद्दमो ।

अप्पा दन्तो सुही होइ, अस्सि लोए परत्थ य ॥

भव्य जीवो ! आत्मा का ही दमन करो, आत्मदमन ही दुष्कर है, जो आत्मा का दमन कर लेता है वह इहलोक परलोक में सर्वत्र सुखी होता है ।

दुर्भाग्य से वर्तमान युग का मानव प्रायः बाहर की वस्तुओं का मूल्य और उपयोग तो जानता है, परन्तु अपने सामर्थ्य को उभारने या उसका सदुपयोग करने की जानकारी से प्रायः वंचित ही रहता है ।

**अपने उद्धार के लिए स्वयं चलना होगा**

गीताकार की पूर्वोक्त उद्घोषणा के अनुसार अपना उद्धार अपने से ही संभव है । उसे दूसरा कोई करने वाला नहीं है । अपने उत्थान और पतन का सारा उत्तरदायित्व अपने ही ऊपर है । इसमें श्रेष्ठ पुरुषों का सत्संग, उपदेश और सहयोग उसकी सहायता करे यह बात दूसरी है, परन्तु अपना कल्याण करने के लिए हमें स्वयं आगे बढ़ना होगा । महापुरुषों की देशना और प्रेरणा उसका मार्गदर्शन तो कर सकती हैं, परन्तु उस मार्ग पर चलना उसे ही होगा, उसे स्वयं ही उस मार्ग को अपने कदमों से तय करना होगा । भगवान महावीर के पूर्वोक्त मार्गदर्शन के अनुसार इस लोक और परलोक के स्थायी सुख-आत्मिक सुख की कुँजी अपने ही हाथ में है, बशर्ते कि व्यक्ति अपनी आत्मा का, बिना किसी के दबाव, भय या आतंक से, स्वेच्छा से दमन नियन्त्रण कर ले । दूसरे के कन्धों पर बैठ कर कोई भी व्यक्ति इहलोक और परलोक का सुख नहीं प्राप्त कर सकता । मृत्यु का स्वेच्छा से हँसते-हँसते आलिगन किये बिना, अथवा धर्माचरण करते समय आने वाले कष्टों एवं दुःखों को समभाव से सहे बिना, मोक्ष का सुख तो दूर रहा, स्वर्ग का सुख भी नहीं प्राप्त किया जा सकता ।

**आत्मोद्धार के लिए प्रबल आत्मविश्वास आवश्यक**

“मैं सत्, चित्त और आनन्द स्वरूप हूँ । मैं चैतन्य स्वरूप आत्मा हूँ, मेरे पास ज्ञानादि अनन्त आत्मिक शक्तियों का भण्डार है । मैं शरीर और शरीर से सम्बन्धित समस्त जड़-चेतन (सजीव-निर्जीव) पदार्थों से पर हूँ । मैं भ्रमवश शरीर और शरीर से सम्बन्धित पदार्थों को अपने मानता था, उनसे बँधा हुआ, लिपटा हुआ अपने आपको समझता था, किन्तु वास्तव में मैं इन सबसे पृथक् हूँ । जब तक यह जीवन है, तब तक केवल संयोग-संबंध

से इनसे सम्बद्ध हूँ। मैं इनके साथ ममता और आसक्ति के बन्धनों को तोड़ दूँ तो मैं स्वयं परमात्मा के निकट पहुँच सकता हूँ।” इस प्रकार चिन्तन करने पर स्पष्ट प्रतीत होगा कि महाशक्ति का भण्डार तो अपने अन्दर पहले से ही पड़ा है, केवल उसे झकझोरने की आवश्यकता है। शरीर और शरीर से सम्बद्ध पदार्थों से आत्मा को भिन्न समझने का भेदविज्ञान मन में दृढ़ हो जाने पर मनुष्य चाहे जो बन सकता है, आध्यात्मिकता के उच्च शिखर पर अपने आपको पहुँचा सकता है।

**संसार ने नहीं बाँधा स्वयं संसार से बंधा है**

जो व्यक्ति यह समझता है कि संसार ने मुझे बाँध रखा है, वह भ्रम में है। संसार तो अपनी ही कामनाओं का जाल है। जैसे मकड़ी अपना जाल स्वयं बुनती है और स्वयं ही उसमें फँसती है, वैसे ही मैंने संसार का यह जाल स्वयं गूँथा है, स्वयं ही मैं इसके जाल में फँसा हूँ। मैं चाहूँ तो स्वयं ही इस संसार के जाल को तोड़कर बन्धनमुक्त हो सकता हूँ।

अनासक्त कर्मयोगी जनक की सभा में एक प्रश्न पूछा गया था कि “संसार ने हमें बाँध रखा है, या हमने संसार को?” तभी सारी सभा को उद्बोधन देने के लिए आत्मार्थी अष्टावक्र एक खंभे को पकड़ कर चिल्लाने लगे कि—“तात ! इस खंभे ने मुझे पकड़ रखा है, मुझे इससे छोड़ाओ।” इसे देख-सुन कर सारी सभा हँसने लगी। महाराजा भी मुस्कराने लगे। उन्होंने कहा—वत्स ! यह जड़ खंभा तुम्हें कैसे पकड़ या बाँध सकता है ? इससे हाथ हटा लो, बस, तुम इससे मुक्त हो।”

अष्टावक्र जी ने मुस्कराते हुए कहा—“अब तो आप समझ गये होंगे कि संसार ने हमें बाँधा या पकड़ा नहीं है। हमने ही संसार को पकड़ा है।” अगर हम इस तथ्य को हृदयंगम कर लें तो हम स्वयं ही अपने भाग्य को बदल सकते हैं।

**परमुखापेक्षी व्यक्ति द्वारा अपना उद्धार कठिन**

आत्म-विश्वास, आत्मनिर्भरता, आत्मचिन्तन, आत्मपरिष्कार और आत्मनिर्माण, ये पाँचों बातें साधक के जीवन में उतर जायें तो वह अपने आप का उद्धार स्वयं कर सकता है। जो पराधीन परमुखापेक्षी एवं पराबलम्बी बन कर दूसरों से सहायता, शक्ति या वरदान की अपेक्षा रखता है, वह स्वप्न में भी अपना उद्धार नहीं कर सकता। अंग्रेजी साहित्य की एक सूक्ति इसी तथ्य का समर्थन करती है—

**'God helps those, who help themselves'**

परमात्मा उसी की सहायता करता है, जो अपनी सहायता स्वयं करते हैं। मन के लूले लंगड़े एवं अपनी शक्तियों को छिपा कर रखने वाले व्यक्ति की कोई भी सहायता नहीं कर सकता।

**अपने उत्थान-पतन की जिम्मेदारी बाह्य परिस्थितियों पर निर्भर नहीं**

अपनी आत्मा का उत्थान-पतन बाह्य परिस्थितियों पर निर्भर नहीं, किन्तु अपनी स्वयं की शक्ति, स्फूर्ति, प्रतिभा एवं योग्यता पर है। अतः अपने उत्थान-पतन की जिम्मेदारी बाह्य परिस्थितियों पर मत डालिये।

**श्रमण संस्कृति का मूल स्वर**

श्रमण संस्कृति का मूल स्वर यही है कि मनुष्य अपने उत्थान, कर्म, बल, वीर्य (शक्ति), पराक्रम और पुरुषार्थ के सहारे—आत्मोत्थान के लिए स्वयं श्रम से, अपने तप, त्याग और संयम के बल पर आगे बढ़े, वह किसी देवी देव, या किसी चक्रवर्ती या धनाढ्य आदि की सहायता की अपेक्षा न रखे।

श्रमण शिरोमणि भगवान् महावीर के जीवन पर अनेक कठोर से कठोर उपसर्ग (कष्ट एवं संकट) आ रहे थे और भविष्य में आने वाले थे। देवराज इन्द्र उनका परम भक्त था। उसने भगवान् से निवेदन किया—  
“भगवन् ! आप पर घोर से घोर संकट (उपसर्ग) आने वाले हैं। अज्ञानी लोग आपके व्यक्तित्व को नहीं जानकर आपको भयंकर कष्ट देंगे। ऐसी स्थिति में मैं आपकी सेवा में रहूँ, मैं उन अज्ञानी लोगों को समझाकर आपके कष्ट दूर करने का प्रयत्न करूँगा।”

महाश्रमण भगवान् महावीर ने इन्द्र से कहा—“इन्द्र ! ऐसा नहीं हो सकता। अर्हन्त जिनेन्द्र अपने ही बल पर आगे बढ़ते हैं और उपसर्गों को समभाव से सहकर कर्मक्षय करते हैं।

**‘स्व-वीर्येणैव गच्छन्ति जिनेन्द्राः परमं पदम् ।’**

“जिनेन्द्र अपने ही बल-वीर्य के आधार पर परम पद को प्राप्त करते हैं।”

और सचमुच श्रमण भगवान् महावीर ने अपने बलबूते पर उपसर्गों, संकटों और कष्टों का सामना किया। अनार्य देश के विचरण के समय प्रतिकूल परिस्थितियों के होते हुए भी वे आत्मविश्वासपूर्वक डटे रहे, सम-भावपूर्वक सब कुछ सह। फलतः उन्होंने पूर्वकृत घोर कर्मों का क्षय कर

डाला। जितने भी महान् त्यागी श्रमण निर्ग्रन्थ हुए हैं, उन्होंने कभी बाह्य परिस्थितियों के अनुकूल होने की अपेक्षा नहीं की, और न ही आत्मविकास में बाधक किन्हीं निमित्तों को कोसा। बाह्य परिस्थितियाँ जीवन-निर्माण में कुछ सहायता भले ही करें, परन्तु उनका स्थान श्रमण-संस्कृति में गौण है। असली शक्ति तो व्यक्ति के अपने पास ही है। आत्मा ही शक्ति-सम्राट् है। तथागत बुद्ध ने भी यही कहा था—

‘अत्ता हि अत्तनो नाथो, को हि नाथो परो सिया ।’

आत्मा ही अपना नाथ है, दूसरा कौन नाथ हो सकता है? अतः आत्मा ही जब सर्वशक्तियों का स्वामी है, तब क्या वह अनुकूल परिस्थिति का निर्माण अथवा परिस्थितियों पर विजय प्राप्त नहीं कर सकता? अवश्य कर सकता है। चाहिए प्रतिकूल परिस्थितियों के आगे घुटने न टेककर अपने लक्ष्य की ओर बढ़ने का अदम्य साहस एवं पुरुषार्थ। यदि बाह्य परिस्थितियों को ही सब कुछ मान लिया जाए तो दुःखी और विपन्न परिस्थितियों के कारण स्वामी विवेकानन्द, स्वामी रामतीर्थ, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, पथङ् श्रावक, अब्राहम लिंकन आदि साधारण व्यक्ति ही होते, संसार के लोग उनका नाम भी न जानते। जैन श्रमणों में हरिकेशबल, अर्जुन मुनि, चण्डेरुद्राचार्य, दृढ-प्रहारी, चिलातीपुत्र आदि के जीवन में भी परिस्थितियाँ अनुकूल नहीं थीं। चन्दनबाला, अंजना, दमयन्ती, सीता, सुभद्रा, कुन्ती आदि महासतियों के समक्ष भी प्रतिकूल परिस्थितियाँ थीं। फिर भी वे सब परिस्थितियों से लड़े और इन्होंने उन पर विजय प्राप्त की। बाल्मीकि, कबीर, सूर, तुलसी, माघ, कालीदास, भूषण आदि कवियों की बाह्य परिस्थितियाँ कोई अच्छी नहीं थीं। उनमें अकस्मात् ही प्रतिभा एवं योग्यता का स्रोत फूट पड़ा। जिसके कारण हम आज उनकी प्रशंसा करते हैं। महाशक्ति का भण्डार तो उनमें पहले से ही विद्यमान था। उन्होंने उसे जाना और पुरुषार्थ करके उसे प्रकट किया। साधारण-सी घटनाओं से प्रेरित होकर उन्होंने अपनी प्रसुप्त चेतना शक्ति के द्वार खोल दिये और वे संसार में महान् आत्मा माने गए।

**हर परिस्थिति और व्यक्ति में प्रकाश का पहलू देखें**

आत्मविश्वासी व्यक्ति, प्रतिकूल व्यक्ति या परिस्थिति को अपने विकास के लिए हितकर मानते हैं, अपनी आत्म जागृति के अनुकूल समझते हैं।

**जैसी दृष्टि या मनःस्थिति वैसी ही परिस्थिति**

वे जानते हैं कि संसार एक दर्पण के समान है। इसमें अच्छी और

बुरी प्रत्येक वस्तु अपनी मनःस्थिति के अनुकूल ही दिखाई देती है। दुनिया के दूसरे लोगों की अच्छाइयाँ और बुराइयाँ जो हमें दिखाई पड़ रही हैं, वैसी वे सब नहीं हैं, अपितु हमारे अपने मन की प्रतिच्छाया मात्र हैं। व्यक्ति की दोषदृष्टि एवं गुणदृष्टि ही दूसरों में अच्छाइयाँ या बुराइयाँ देखने में मुख्य कारण हैं। अगर छिद्रान्वेषण की दृष्टि है तो दूसरों के गुणों को दोषरूप में देखेगी, और यदि गुणग्राहकता की दृष्टि है, तो वह दूसरों के दोषों में से भी गुण ढूँढेगी।

एक बार गुरु द्रोणाचार्य ने अपने शिष्य दुर्योधन को नगर में से अच्छे व्यक्ति और युधिष्ठिर को बुरे व्यक्ति ढूँढ लाने को कहा था किन्तु दिनभर इधर-उधर भटकने पर भी दुर्योधन को कोई अच्छा व्यक्ति नहीं मिला और न ही युधिष्ठिर को कोई बुरा व्यक्ति मिला। क्या नगर में कोई भी अच्छा या बुरा व्यक्ति नहीं था? अवश्य था। लेकिन दुर्योधन की दृष्टि सब में कोई न कोई बुराई देखने की थी, जबकि युधिष्ठिर की दृष्टि सबमें कोई न कोई अच्छाई देखने की थी। इसलिए दुर्योधन को सभी लोग बुरे ही बुरे और युधिष्ठिर को सभी अच्छे ही अच्छे दिखाई दिये। अतः गुण या दोष अथवा अच्छी या बुरी परिस्थितियाँ, जो हमारे सामने आती हैं, उनका मूल कारण हम स्वयं ही हैं। हमारी जैसी दृष्टि होती है, वैसी ही अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थिति हम समझने लगते हैं।

जो संसार बुरे व्यक्तियों के लिए बुरा है, वही अच्छे व्यक्तियों के लिए सदगुण एवं सदाचार से भरा हुआ कार्यक्षेत्र बन जाता है। वास्तव में संसार न तो अपने आप में किसी के लिए दुःख का हेतु है और न ही सुख का हेतु। यों तो संसार कुछ है ही नहीं, इसीलिए उसे असार कहा जाता है। किन्तु ज्ञानी और सम्यग्दृष्टि साधक इसी असार संसार में मनुष्य-जन्म पाकर ज्ञान-दर्शन-चारित्र्य एवं तप की आराधना-साधना करके उसे साररूप बना लेते हैं। व्यक्ति की अपनी सम्यक् मनःस्थिति ही संसार रूपी दर्पण में प्रतिबिम्बित होती है, वही संसार को या संसार के सजीव-निर्जीव पदार्थों को भिन्न-भिन्न रूप में देखती है।

क्रोधी व्यक्ति को संसार के सभी लोग क्रोधी और चिड़चिड़े स्वभाव के दिखाई देते हैं। झगड़ालू और सनकी व्यक्तियों को अपने चारों ओर के सभी व्यक्ति सदैव लड़ते-झगड़ते एवं सनकी दिखाई देते हैं। जो व्यक्ति आलसी और निकम्मा है, उसे दुनिया में कोई सत्कार्य करने को नहीं मान्य होता। जो व्यक्ति शरीर से अस्वस्थ है, उसे सभी प्रकार के भोजन अरुचि-

कर प्रतीत होते हैं। व्यभिचारी, चोर, लम्पट, झूठे, ठग, पागल, अन्यायी, अत्याचारी एवं बेईमान को भी अपनी-अपनी दुनिया अलग ही दिखाई देती है। इसके विपरीत साधु-सन्त, ज्ञानी-ध्यानी, उत्साही, साहसी, धर्मवीर, सेवाभावी, परोपकारी, आत्मविश्वासी एवं महात्मा को जगत् अपने ही रूप में अलग दिखाई देता है।

निष्कषं यह है कि मनुष्य अपनी मनःस्थिति को या दृष्टि को ठीक कर ले तो उसे कोई भी परिस्थिति या संसार की कोई भी सजीव-निर्जीव वस्तु प्रतिकूल नहीं लगती। प्रतिकूल परिस्थिति या व्यक्ति को अपने लिए अनुकूल रूप में परिणत कर लेता है। तटस्थ दृष्टि से वस्तु स्वरूप पर विचार करके वह सभी में से गुण-ग्रहण कर लेता है। इस प्रकार अपनी आत्मा का उत्थान या उद्धार प्रतिकूल परिस्थिति या व्यक्ति होने पर भी मनःस्थिति या दृष्टि तदनुकूल बनाकर उसी में से अपना हित या कल्याण कर लेता है।

### स्वयं को सुधारो : परिस्थिति सुधरेगी

हर व्यक्ति को सुधारना या इच्छानुकूल बनाना कठिन है। हर परिस्थिति हमारी इच्छानुरूप बनी रहे, यह असम्भव है। इस प्रकार के प्रयास करने में कितना ही श्रम और समय क्यों न लगाया जाए अपने को पूर्ण सन्तोष दे सकने योग्य परिस्थिति उत्पन्न न हो सकेगी। न ही किसी व्यक्ति को अपनी मन मर्जी पर चलाया जा सकता है। कोई अपना कहना न माने तो उसे विवश कैसे किया जा सकता है? किसी के शरीर पर तो बन्धन शासक द्वारा लगाया जा सकता है, परन्तु किसी के मन पर दूसरे का बलात् प्रतिबन्ध चलना कठिन है। हाँ, अपने शरीर और मन पर अनुशासन और नियन्त्रण हो ही सकता है। कम से कम अपने तन-मन को अवांछनीय मार्ग से विरत करना और सन्मार्ग पर चलाना सम्भव हो सकता है। अपने दुर्गुणों पर कड़ी दृष्टि रखी जाए और कड़ाई बरती जाए तो वे पराये घर में घुसे हुए चोर की तरह अधिक देर नहीं ठहर सकते। उन्हें भागना ही पड़ेगा। दुर्गुण विजातीय (विभाव या परभाव) तत्त्व हैं। मानवात्मा उनका अपना घर नहीं है। मानव-आत्मा तो एक दृष्टि से परमात्मा का आवास-स्थान है। यहाँ आत्मिक गुणों का ही निवास हो सकता है। दुर्गुण या मन-वचन-काया की दुष्प्रवृत्तियाँ (दुष्ट योग) अथवा उत्सृत्र, उन्मार्ग एवं मर्यादा-विरुद्ध (अकल्पनीय), अकरणीय, दुष्ट्यांन, दुश्चिन्तन, अनाचार एवं अवांछ-

नीय आचरण व्यक्ति की असावधानी (प्रमादावस्था) का लाभ उठाकर अवैध कब्जा जमा लेते हैं। अगर उन्हें दुत्कार दिया जाए या अन्तरात्मा में प्रविष्ट होते ही भगा दिया जाए तो उन्हें पलायन करना ही पड़ता है। व्यक्ति की इच्छा के विरुद्ध वे टिक ही नहीं सकते।

इसी प्रकार प्रतिकूल परिस्थितियां आने पर अपनी प्रकृति, स्वभाव या दृष्टि बदल ली जाए तो उन बाह्य परिस्थितियों में आश्चर्यजनक रूप से परिवर्तन दिखाई दे सकता है। प्रस्तुत परिस्थितियां अनुकूल न होने पर भी उनके साथ तालमेल बिठाया जा सकता है। यही एक उपाय है—संसार को, व्यक्ति को या परिस्थिति को अपनी अन्तरात्मा से बदल देने का, जिसके आधार पर व्यक्ति अपनी आत्मा का उत्थान कर सकता है।

सूर्य अपने साथ सौरमण्डल के ग्रह-उपग्रहों को बांधे रहता है, उन्हें साथ लेकर चलता है। मनुष्य भी एक सूर्य है, जो अपने स्तर के अनुसार वस्तु, व्यक्ति एवं परिस्थितियों को भी बांधे रहता है, वह दृष्टिकोण को उच्चस्तरीय बना ले तो उन्हें साथ-साथ लेकर चल सकता है। (अपने स्तर को उच्च बनाना ही परिस्थिति परिवर्तन का प्रमुख कारण है।)

मनुष्य की आत्म शक्ति इतनी प्रचण्ड है कि यदि मनुष्य उसे साथ लेकर विवेकपूर्वक अभीष्ट सन्मार्ग पर चल पड़े, तनिक-सी कठिनाइयों तथा प्रतिकूल परिस्थितियों को देखकर अधीर न हो तो उचित समय पर परिस्थिति को अनुकूल बनाने में अवश्य ही सफलता प्राप्त होती है।

**अपने भाग्य का निर्माता मनुष्य स्वयं है।**

अपने कमरे में सूर्य की धूप एवं हवा अपनी मर्जी के बिना प्रविष्ट नहीं हो सकती। यदि मनुष्य दरवाजे और खिड़कियां बन्द कर ले तो प्रचण्ड धूप एवं हवा का प्रवेश भी नहीं हो सकेगा। देखा गया है, कि केवल उसी स्टेशन को रेडियो पर सुना जा सकता है, जिस पर व्यक्ति सुई लगाता है। अन्य स्टेशनों के ब्रांडकास्ट उस व्यक्ति के कानों में नहीं आ सकते, भले ही वे कितने ही जोरदार प्रसारण चला रहे हों। इनसे यह सिद्ध होता है कि मनुष्य जैसा चाहे, वैसा बन सकता है। वही अपने भाग्य का निर्माता—वाता है। वह चाहे तो अपनी बुद्धि से अपने भाग्य को बिगाड़ सकता है और सदबुद्धि तथा सत्प्रवृत्ति से उसे बना सकता है।

इतिहास के पृष्ठ ऐसे उदाहरणों से भरे पड़े हैं, जिनसे यह सिद्ध

होता है कि आन्तरिक प्रखरता के बल पर कई व्यक्तियों ने अभावग्रस्त एवं विपरीत परिस्थितियों को तथा अनेक अवरोधों को चीरते हुए आत्मिक प्रगति के पथ प्रशस्त किये हैं तथा आध्यात्मिक उन्नति के उच्च शिखर तक पहुँचे हैं। इसके विपरीत हर प्रकार की सुविधा तथा अनुकूल परिस्थिति होते हुए भी कई व्यक्ति ऊपर उठने की बात तो दूर, उलटे पतन के गर्त में नीचे गिरते चले गए हैं।

**आत्महीनता, शारीरिक असमर्थता बाधक नहीं**

जो लोग आत्महीनता की ग्रन्थि से ग्रसित हैं, वे न तो अपनी दुर्बलताओं को समझने का और न उन्हें दूर करने का प्रयास करते हैं। गहराई से आत्मनिरीक्षण करना, उनसे नहीं बन पड़ता। अतः वे सामने उपस्थित प्रतिकूलताओं का सारा दोष किन्हीं अन्य व्यक्तियों या परिस्थितियों पर थोप कर जी हलका करते हैं। कोई और नहीं सूझता तो वे भाग्य को, दैवी प्रकोप को, ग्रह-नक्षत्रों को, समय की विपरीतता को कोसने लगते हैं। साथ ही, वे जिस-तिस की कृपा प्राप्त करने के लिए उसके सामने दीनता और चापलूसी से भरी याचना करते फिरते हैं। अपने पुरुषार्थ पर उन्हें विश्वास नहीं होता। कस्तूरी का हिरन सुगन्ध की तलाश में चारों ओर दौड़ता है, पर उसका समाधान तभी होता है, जब उसे अपनी ही नाभि में सुगन्ध होने की बात समझ में आ जाती है। संसार में बहुत-से उपादेय एवं आत्मविकास में सहायक शब्द, रूप, रस, गन्ध एवं स्पर्श हैं, वे प्रेरक भी हैं, आकर्षक भी, किन्तु उनका लाभ उसी को मिल सकता है, जिसकी अपनी ग्रहण शक्ति ठीक हो, अर्थात्—कान्त, आँख, जीभ, नाक आदि सही हों।

शारीरिक असमर्थता व्यक्ति के लिए इतनी दुःखजनक या घातक नहीं होती, जितनी कि आन्तरिक दुर्बलता। कितने ही रुग्ण, अपंग एवं दुर्बल व्यक्ति आन्तरिक प्रखरता के कारण इतने महान् कार्य कर सके हैं, जितने समर्थ एवं सशक्त शरीर वाले नहीं कर सके। इसलिए यह बहाना व्यर्थ है कि हम शारीरिक असमर्थता के कारण आत्मोद्धार कैसे करें? वास्तव में, शरीर की समर्थता-असमर्थता से आत्मिक उत्थान में कोई अन्तर नहीं पड़ता, साधनों के न्यूनताधिक होने पर भी कुछ बनता-बिगड़ता नहीं। वास्तविक अन्तर तो मनःस्थिति का है, वही आत्मा को महान् और तुच्छ बनाती है। क्षुद्र स्वार्थ, अहंकार, अज्ञान, अविवेक, कुण्ठा, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर आदि से ग्रस्त मनःस्थिति वाला व्यक्ति अपने ही आत्मविकास के चरणों पर कुल्हाड़ी मारता है।



अच्छी से अच्छी मोटर भी अनाड़ी ड्राइवर के हाथ में पड़कर दुर्घटनाग्रस्त हो जाती है, उसे स्वयं तथा उसमें सवार को भी चोट खाने का संकट आ पड़ता है। इसी प्रकार अधिकांश अनाड़ी एवं दुर्बुद्धि आत्मा अपनी जीवन रूपी मोटर बार-बार दुर्घटनाग्रस्त करते हैं, अपने सम्पर्क में आने वाले परिवार, समाज एवं राष्ट्र को भी क्षति पहुँचाते हैं। इसलिए अधिक साधन जुटाने, परिस्थिति अनुकूल होने तथा श्रेष्ठ व्यक्तियों का सान्निध्य मिलने पर भी यदि मनःस्थिति ठीक नहीं है, तो वह व्यक्ति आत्मा का उत्थान करने के बदले प्रायः पतन ही करता है। यह देखा गया है, कि जिन लोगों के पास साधनों की प्रचुरता होती है, शारीरिक-बौद्धिक समर्थता-सक्षमता भी होती है, वे लोग आलस्य, अकर्मण्यता और पुरुषार्थहीनता के चक्कर में पड़कर आत्मा के उत्थान एवं विकास के अवसरों को चूक जाते हैं और जिनकी मनःस्थिति ठीक होती है, वे अल्प साधनों और अभावग्रस्त स्थिति में होते हुए भी आत्मा के उत्थान एवं विकास के प्रत्येक अवसर का उपयोग करते हैं।

**भाग्य का लेखा : शक्तियों के उपयोग के अधीन**

जीवन का लेखा-जोखा भी अपनी शक्तियों के दुरुपयोग-सदुपयोग पर तैयार होता है। यदि व्यक्ति में आत्मोत्कर्ष की लगन, उत्साह, कमठता, दृढ़ता, धैर्य, साहस एवं श्रमनिष्ठा है तो अवश्य ही वह अपने भाग्य को बदल डालेगा।

स्पष्ट है कि आन्तरिक मनःस्थिति गई गुजरी हो तो साधन-सुविधाओं की प्रचुरता से आत्मिक प्रगति और सुख-शान्ति नहीं हो सकती। इसके विपरीत, सद्गुण सम्पन्न मनःस्थिति हो तो स्वल्प साधन सुविधाएँ होने पर उनके सदुपयोग से आत्मिक प्रगति का पथ प्रशस्त हो सकता है। स्वयं ही उत्थान एवं पतन पर ले जाने वाला

बहुधा मनुष्य अपने असंयम, स्वाद, लोलुपता, नशैली वस्तुओं का उपयोग, खर्चीला एवं भड़कीला रहन-सहन, अविवेक, अदूरदर्शिता आदि दुर्गुणों के कारण आत्मा को स्वयं ही पतन के रास्ते पर ले जाता है। यदि चिन्तन का सही तरीका, स्वभाव में असाधारण उत्कृष्टताएँ तथा चारित्र्य-निष्ठा अपनाई जाए तो व्यक्ति अपनी आत्मा को उत्थान-पथ पर ले जा सकता है। दोनों ही मार्ग उसके सामने स्पष्ट हैं। वह स्वयं ही अपना भाग्य विधाता है। उत्थान और पतन, इन दोनों में से चाहे जो मार्ग अपना सकता है।



## सर्वतोमुखी आत्मविकास का उपाय : तप

### आत्मशुद्धि का सर्वश्रेष्ठ उपाय : तप

मनुष्य अपने शरीर को स्वच्छ एवं साफ करने के लिए साबुन, पानी आदि से मल-मल कर नहाता है। वस्त्र को स्वच्छ करने के लिए सोड़ा, साबुन, पानी आदि का प्रयोग करता है। बर्तन साफ करने के लिए राख, मिट्टी आदि का प्रयोग करता है। मकान की सफाई के लिए झाड़ू, ब्रुश, कपड़े आदि का प्रयोग करता है। परन्तु आत्मा की सफाई अर्थात्—शुद्धि के लिए, यानी आत्मा पर जमे हुए कषायों, राग-द्वेष, मोह, मत्सर, मद आदि विकारों या विषय-वासनाओं आदि के तथा कर्म, कुसंस्कार आदि के मेल एवं आवरणों को दूर करने के लिए कौन-सा सर्वश्रेष्ठ उपाय है ?

भारत ही नहीं, संसार के समस्त अध्यात्मवादो मनीषियों ने तप को ही आत्मशुद्धि का सर्वोत्कृष्ट उपाय बताया है। आत्मा पर राग-द्वेषादि विकारों के कारण लगे हुए कर्मों के मेल को साफ करने में तपश्चर्या ही उपयोगी साधन है। मनुस्मृति में स्पष्ट कहा है—

“अद्भिर्गात्राणि शुद्ध्यन्ति, मनः सत्येन शुद्ध्यति ।

विद्या-तपोभ्यां भूतात्मा, बुद्धिज्ञानेन शुद्ध्यति ॥”

“शरीर जल से और मन सत्य से शुद्ध होता है, बुद्धि ज्ञान से शुद्ध (परिष्कृत) होती है, जबकि आत्मा विद्या और तप से शुद्ध होती है।”

इतना ही नहीं, तपस्या से तन और मन दोनों शुद्ध-परिष्कृत होते हैं। शरीर में मल एवं रक्त का अवरोध, चर्बी के जमा होने आदि विकारों के कारण नाना व्याधियाँ मनुष्य को घेर लेती हैं। इसी प्रकार मन में

चिन्ता, व्यग्रता, अहंकार, उदासी, ईर्ष्या, उद्विग्नता, भय, द्वेष आदि विकारों के कारण नाना व्याधियाँ अड्डा जमा लेती हैं। ऐसी स्थिति में तपस्या ही तन और मन के उन रोगों को दूर करके दोनों को शुद्ध बना डालती है। तन और मन के शुद्ध होने पर आत्मा की परिशुद्धि होने में देर नहीं लगती।

### बाह्यतप से तन और मन का शोधन एवं निग्रह

जैन दर्शन में तपस्या के दो प्रकार बताए गए हैं—बाह्य तप और आभ्यन्तर तप। अनशन, ऊनोदरी, वृत्तिसंक्षेप, रस-परित्याग एवं कायक्लेश से प्रायः तन की, एवं प्रतिसंलोनता अथवा विविक्त शय्यासन से मन की शुद्धि होती है। उपवास, बेला, तेला आदि तपस्या के लाभ सर्वविदित हैं। पेट को विश्राम देने से उसमें जमा हुआ मल-निष्कासन होता है, अपच दूर होता है तथा थकान दूर होने से पाचन-क्रिया में तीव्रता आती है। प्राकृतिक चिकित्सा-पद्धति में रोग-निवृत्ति का प्रधान उपाय उपवास आदि तप को माना है। ऊनोदरी, वृत्तिसंक्षेप, रसपरित्याग (अस्वाद-व्रत) आदि से भी शरीर के अंदर जमे हुए विकार दूर होकर उसकी शुद्धि होती है। उदर-शोधन के अतिरिक्त उपवास आदि का विशेष लाभ यह है कि उससे मनो-विकारों का भी शमन होने लगता है। आयुर्वेदिक चिकित्सा पद्धति में 'लंघनं परमौषधम्'—लंघन को परम औषध कहा गया है।

स्वाद के लोभ में मनुष्य अधिक भोजन पेट में डाल लेता है। उससे अपच, गैस, अतिसार आदि नाना रोग पैदा हो जाते हैं। अतः रसपरित्याग (अस्वाद) तप बताया गया है, जिससे स्वाद पर काबू पाया जा सके। जैन धर्म में इसके लिए आयम्बल (आचाम्ल) एवं नीवी (निर्विकृतिक) तप बताया गया है। आयम्बल में किसी प्रकार के घी, तेल, दूध, दही, मीठा आदि विगइयों (विकृतिकों) (स्निग्ध पदार्थों) का तथा मिर्च-मसाले नमक आदि का सेवन नहीं किया जाता। निविग्ई में किसी प्रकार की विगई का सेवन नहीं किया जाता। कई लोग सरस स्वादिष्ट आहार ठूस-ठूस कर खा लेते हैं, कई लोग स्वाद के चक्कर में पड़ कर नाना प्रकार के सरस स्वादिष्ट भोज्य पदार्थों का सेवन करते रहते हैं, अथवा दिन भर कुछ न कुछ खाते रहते हैं। उनके लिए वृत्ति-संक्षेप तप बताया गया है। श्वेताम्बर जैनों में चैत्र सुदी तथा आसोज सुदी में आयम्बल की ओली तप के साथ नवपद-आराधना करने का विधान है। उसका उद्देश्य स्वादेन्द्रिय पर नियंत्रण और मनोबल बढ़ाकर गहराई से आत्मचिन्तन करना है। महात्मा

गांधीजी ने अपनी 'सप्त-महाव्रत' नामक पुस्तक में 'अस्वाद' व्रत को महत्वपूर्ण स्थान दिया है। उन्होंने लिखा है कि इस व्रत के पालन से मनोनिग्रह शुद्ध चिन्तन एवं ब्रह्मचर्य पालन में सफलता मिलती है।

धर्माचरण करने के लिए अथवा सेवा, परोपकार आदि करने में अथवा दूसरों की रक्षा करने में जो कष्ट सहना पड़ता है, या अपने किस निकट सम्बन्धी का वियोग होने पर अभाव पीड़ित होकर या इष्टवियोग के कारण असहाय होकर कष्टमय-पीड़ामय जिन्दगी धर्मपालन करते या शील पालन करते हुए बिताना पड़ता है, वह कायक्लेश नामक तप है।

इसी प्रकार पांचों इन्द्रियों को विषय-वासना से हटा कर एक मात्र आत्मा की सेवा में, आत्मचिन्तन में एकाग्र या तल्लीन करना; विषयों के प्रति आमक्ति, मोह या तृष्णा से हटा देना प्रतिसंलीनता नामक तप है।

इस प्रकार तन, मन और इन्द्रियों को अशुभ-अशुद्ध विपरीत मार्ग से निवृत्त करके, शुद्ध मार्ग में प्रवृत्त कर देना उसके लिए तन-मन को साधना कष्ट सहना, तपाना षड्विध बाह्य तप है।

### आभ्यन्तर तप से मन और आत्मा की अशुद्धि का निवारण

इसी प्रकार छह प्रकार का आभ्यन्तर तप है, जो मन और आत्मा की शुद्धि, परिष्कार और क्षमता-वृद्धि करने हेतु है। यद्यपि आत्मा अपने आप में शुद्ध है, किन्तु रागादि विकारों के कारण कर्ममल से आवृत होने के कारण वह अशुद्ध हो जाती है। रागादि विकारों का जनक मन है, जो आत्मा का प्रतिनिधि होकर काम करता है, आत्मा उसके बुरे चिन्तन, बुद्धि विचार आदि, तृष्णा, लोभ, मोह आदि का साक्षी एवं समर्थक बन जाती है इस कारण वह भी कर्ममल से लिप्त हो जाती है। उसी का दमन करने आत्माभिमुखी बनाने तथा आत्मा पर लगे हुए पाप-दोषों का शोधन करने के लिए तथा आत्मा को अध्यात्म साधना के लिए सशक्त बनाने हेतु प्रायश्चित्त आदि छह आभ्यन्तर तप हैं।

### तपःसाधना से मन की चंचलता और मुखलिप्सा का निवारण

इच्छानिरोध को जैन दर्शन में 'तप' कहा गया है। इच्छा की उत्पत्ति मन से होती है। तपःसाधना द्वारा बाहर में भटकते हुए, परभावों में बहते हुए मन को स्वभाव में लाया तथा आत्माभिमुखी बनाया जाता है।

मन की दो मुख्य विशेषताएँ सर्वविदित हैं—(१) चंचलता और (२)

सुखलिप्सा । मन को आवारा लड़कों की तरह इधर-उधर भटकने और मटरगश्ती करने में मजा आता है । बंदरों की तरह डाली-डाली पर उछलते रहने और चिड़ियों की तरह जहाँ-तहाँ फुदकते रहने में उसकी चंचलता को समाधान मिलता है । वह धर्मध्यान, सामायिक, प्रतिक्रमण, स्वाध्याय, कायोत्सर्ग आदि करते समय बार-बार दूसरे विकल्प लाकर साधना में विघ्न डालता है । कल्पना के घोड़े पर सवार होकर कषाय, राग-द्वेष-मोह, द्रोह, दम्भ, काम, मद, मत्सर आदि विकारों के मैदान में दौड़ता रहता है; नाना प्रकार की विषयेच्छाएँ करता है, आकाश-पाताल की सँर करता है । इस प्रकार भटकने में उसकी अधिकांश शक्ति नष्ट हो जाती है । इसे उधर से रोक कर आत्माभिमुख करना, स्वभावरमण या रत्नत्रय की उपयोगी साधना में केन्द्रित करने का काम प्रायः आभ्यन्तर तप करता है ।

मन को उपर्युक्त बाह्य विषयों से हटा कर आत्मिक क्षेत्र में लगा देने से आत्मा की प्रसुप्त शक्तियाँ जाग जाती हैं, आत्मा पर लगे हुए कर्ममल की उस-उस तप से शुद्धि होने में मन सहायक बन जाता है, आत्मा में निहित क्षमताएँ प्रकाश में आ जाती हैं । आभ्यन्तर तपस्या के कारण आत्मा की यह आन्तरिक प्रगति सामान्य मानव को महामानव-महापुरुष के स्तर पर ले जाकर खड़ी कर देती है । यह सब तप द्वारा मन के भटकाव को रोकने और उसे आत्मा के लक्ष्य केन्द्र पर नियोजित कर देने का ही प्रतिफल है । चंचलता की वृत्ति के कारण मन स्थिर नहीं रहता, वह उद्विग्न, व्यग्र, काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग-द्वेष आदि विकारों में ग्रस्त एवं विषयों की आसक्ति में लिप्त रहता है, परन्तु आभ्यन्तर तप द्वारा मन जब चंचलता की वृत्ति से छुटकारा पाता है, तब आत्मा में एकाग्र होकर, आत्मगुणों में—आत्मभाव में रमण करके सधा हुआ मन अनेक चामत्कारिक परिणाम उत्पन्न करता है ।

मन की दूसरी प्रवृत्ति है—विषय-सुखोपभोग की लिप्सा । वैषयिक सुख या पदार्थनिष्ठ काल्पनिक सुख शरीर और मन द्वारा विषय सुखों के उपभोग या काल्पनिक वस्तुनिष्ठ सुख के आस्वादन के रूप में माना जाता है । पाँचों इन्द्रियाँ एवं नो-इन्द्रिय (मन) इसके माध्यम बनते हैं । मधुर एवं मनोइच्छित इष्ट विषय को देखने, सूँघने, सुनने, चखने एवं छूने आदि की इन्द्रिय-विषयोपभोग लिप्सा भी इसी विलास क्षेत्र में आती है । स्वाद, कामभोग एवं अन्य विषय-सुख की कल्पना, लालसा एवं तृष्णा करने और साधन जुटाने के ताने-बाने बुनने में मन की अधिकांश शक्ति लगी रहती है,

तथा स्पर्शेन्द्रिय सुख का आस्वादन करने की अभिरुचि बनी रहती है। जाति, कुल, बल, रूप, श्रुत, तप आदि का मद तथा अपने अहंकार की पूर्ति के लिए मन एवं वचन उछलते रहते हैं, शरीर मन के निर्देशन में कई प्रकार की दुश्चेष्टाएँ करता है, वह अभिमान के तथा ऋद्धि-रस-साता के गर्व के आवेश में आकर सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र के प्रति भी अश्रद्धा, अविनय और उद्धतता प्रकट करता है, देव, गुरु एवं धर्म के प्रति (अवर्णवाद) निन्दा एवं आशातना करने लगता है। इसके निराकरण के लिए मन को विनय तप की साधना में लगाया जाता है। शरीर और शरीर से सम्बन्धित सजीव पदार्थों के प्रति अहंत्व, ममत्व, स्वामित्व एवं इष्ट वस्तुओं के प्रति राग और अनिष्ट के प्रति द्वेष के कारण अनघड़ मन आत्मा को नाना प्रकार के कर्मबन्धनों में जकड़ता रहता है। अहंता मद और ममता की तीव्रता के कारण मन श्रेष्ठ व्यक्तियों, धर्मधुरन्धरों या धर्म संघ की सेवा (वैयावृत्य) तप से वंचित कर देता है। फलतः साधक की ज्ञान-दर्शन चारित्र की साधना सच्चे माने में साकार नहीं होती, वह केवल परम्पराओं के पालन में, तथा साम्प्रदायिक कट्टरता के अनुसरण में ही समाप्त हो जाती है। इसके निराकरण हेतु वैयावृत्य तप की साधना ही बताई गई है। निरंकुश मन क्रोध, मान, माया, लोभ, मोह, मद, मत्सर आदि आन्तरिक शत्रुओं को सुखलिप्सा की दृष्टि से पपोलता रहता है, इन दुर्विचारों से मन को विरत करने एवं सद्विचारों एवं सम्यग्ज्ञान-तत्त्व-ज्ञान में प्रवृत्त करने हेतु स्वाध्याय तप की योजना है। मन को इस पतनोन्मुखी-बहिर्मुखी सुखलिप्सा की प्रवृत्ति से आत्मा को असीम हानि उठानी पड़ती है। आत्मा में निहित बहुमूल्य गुणसम्पदा इन्हीं उलझनों में नष्ट-भ्रष्ट होती रहती है। और आत्मा (मानवात्मा) इस सुरदुर्लभ अवसर का समुचित लाभ नहीं उठा पाती। बहुत बार वह इष्ट वियोग और अनिष्ट-संयोग के कारण आर्त्त रौद्र ध्यान में डूबी रहती है। आत्मा का मंत्री मन उसे इन दुर्घ्यानों में उलझाकर उसकी शक्तियों को प्रकट नहीं होने देता। इसलिए ध्यान तप की साधना का निर्देश किया गया है। शरीर और शरीर से सम्बन्धित सजीव-निर्जीव पदार्थों पर स्वामित्व, संग्रह, ममत्व और अहंत्व में मन की सुखलिप्सा की तृप्ति होती है, इसलिए आत्मा के सिवाय समस्त पर-पदार्थों से ममत्व, अहंत्व, स्वामित्व एवं संग्रह का विसर्जन करने हेतु व्युत्सर्ग तप की साधना बताई गई है। इसी प्रकार पूर्वकृत अशुभकर्मों के विशेषतः मोहनीय कर्म के फलस्वरूप मानव को साधना में आनन्द नहीं

आता। बार-बार उसकी साधना में बिक्षेप पड़ता है। उसकी रत्नत्रय साधना आत्म साधना आगे नहीं बढ़ पाती है। वह रत्नत्रय साधना या आत्मसाधना के मार्ग पर या तो ज्ञान-विवेक-शून्य क्रियाकाण्डों में ही उलझ जाता है, अथवा कोरा आत्मज्ञान बधारने में ही रह जाता है, वह ज्ञान को आचार में क्रियान्वित नहीं कर पाता। इस बाधा को दूर करने और अध्यात्मसाधना को निराबाध रूप से प्रगति के लिए 'प्रायश्चित्त' तप की साधना प्रस्तुत की गई है। प्रायश्चित्त तप से आत्मा पर लगे हुए दोषों-भूलों-अपराधों की आलोचना-निन्दना-गर्हणा, क्षमापना एवं क्षतिपूर्ति द्वारा शुद्धि की जाती है। इस प्रकार प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान और व्युत्सर्ग, यों छह प्रकार के आभ्यन्तर तप द्वारा आत्मा की शुद्धि और शक्ति में अभिवृद्धि होती है।

बाह्य और आभ्यन्तर, दोनों प्रकार की तप साधना में मन की चंचलता और मुखोपभोगलिप्सा की बहिर्मुखी प्रवृत्ति को रोक कर उसे आत्माभिमुखी-अन्तर्मुखी करने का प्रयास किया जाता है।

**मन और आत्मा के संघर्ष में जीत किसकी ?**

यद्यपि सुखानुभूति आत्मा की आकांक्षा भी है, परन्तु मन के स्तर से बहुत ऊँची एवं भिन्न है। मन को वासना, तृष्णा, अहंता, ममता आदि की पूर्ति में सुखलिप्सा पूर्ति की तृप्ति मिलती है, जबकि आत्मा को उच्च-स्तरीय आत्मिक गुणों या रत्नत्रय के पालन में आनन्द आता है, जिसे सन्तोष या शान्ति कहते हैं। संक्षेप में मन को भौतिक सुख की आकांक्षा रहती है और आत्मा को आध्यात्मिक सन्तोष एवं शान्ति की। दोनों में प्रायः रस्साकसी चलती रहती है। तपस्या से विरत मानव का मन यदि जीत जाता है, तो उसकी आत्मा असहाय स्थिति में असन्तुष्ट होकर पड़ी रहती है, परन्तु तपस्यारत साधक की आत्मा प्रायः जीतती है, ऐसी स्थिति में मन को दबना पड़ता है, आत्मा के आधीन होकर रहना पड़ता है। शुरू-शुरू में उद्धत मन को संयत बनाने में तपस्यारत साधक को काफी संघर्ष करना पड़ता है। परन्तु बाद में तपस्वी साधक की दृढ़ता और आत्मपरायणता देखकर मन समझौता कर लेता है। जिस प्रकार जंगली पशु जब पालतू बन जाते हैं, तो मालिक के इशारे पर चलने लगते हैं, इसी प्रकार मन भी तपस्वी के इशारे पर चलने लगता है। तपःसाधना द्वारा मन को इसी प्रकार साधा जाता है, जिस प्रकार सर्कस वाले सिंह जैसे आक्रमणकारी

प्राणी को आज्ञापालक, स्वामिभक्त, एवं विनीत बनाने में सफल हो जाते हैं। तपःसाधना और कुछ नहीं, वह मन की चंचलता और वैषयिक सुख-लिप्सा की अनघड़ आदतों और चेष्टाओं को छुड़ाकर उसे आध्यात्मिक जीवन के लिए उपयोगी प्रवृत्तियों में संलग्न होने, तथा बहिर्मुखी से अन्त-मुखी बनाने का अभ्यास है। तपःसाधना में वैषयिक सुख के बदले आत्मिक सुख या सन्तोष को प्रधान मानना है। यही वह परिवर्तन है, जिसे द्विविध तपस्यारत मानव को करना है। उभयविध तप में शारीरिक, ऐन्द्रियक, मानसिक एवं बौद्धिक तितिक्षा का, या सुविधाओं व इच्छाओं के निरोध का अभ्यास करना पड़ता है, ताकि तन-मन आदि की अनघड़ कुसंस्कारिता, चंचलता एवं सुखलिप्सा को छुड़ाया जा सके। उसे पतनोन्मुखी बाह्य इच्छाओं-लालसाओं से विरत करके उच्चस्तरीय आन्तरिक आत्मभाव में, आत्मगुणों में या रत्नत्रय के निरतिचार-निराबाध पालन में प्रवृत्त किया जा सके। यही उभयविध तपःसाधना का मुख्य उद्देश्य है।

दोनों प्रकार की तपःसाधना में साधक को तन-मन के प्रति जो जागृति, दृढ़ता एवं कठोरता अपनानी पड़ती है, वह तन-मन को आत्माभिमुखी बनाने तथा आत्मा को परिष्कृत एवं सशक्त बनाने के लिए है। जिस प्रकार सत्परिणाम प्राप्त करने के लिए किसान, विद्यार्थी, श्रमिक, व्यापारी, कलाकार आदि को शारीरिक सुख-सुविधाओं, एवं अनघड़ दुःप्रवृत्तियों से विरत होने के लिए मन को मारना पड़ता है तथा अपने सूखे एवं नीरस प्रयोजनों में एकाग्र होना पड़ता है।

इस प्रकार की तपःसाधना से तपस्वी का तन-मन और आत्मा निखर उठता है। यद्यपि प्रारम्भ में तपःसाधक को मन की उद्दाम इच्छाओं को मारना पड़ता है, शारीरिक सुख-सुविधाओं में कटौती करनी पड़ती है, कष्ट भी सहना होता है, परन्तु इन सबका परिणाम सुखद और सन्तोषजनक होता है। तपःसाधना के पीछे जो उज्ज्वल सम्भावनाएँ विद्यमान हैं, उन्हें देखते हुए यह घाटे का सौदा नहीं है।

**तपस्या का उद्देश्य : तितिक्षा बढ़ाना**

यह स्पष्ट है कि बाह्य एवं आभ्यन्तर दोनों प्रकार की तपस्याओं में शारीरिक संयम, इन्द्रिय-निग्रह, मनोनिग्रह, सुखोपलिप्सा पर नियन्त्रण, व्युत्सर्ग, आर्तरीद्र ध्यान-त्याग, मदत्याग, सुख-सुविधाओं में कटौती, आत्मशुद्धि, आदि सब तितिक्षा बनकर तपःसाधना के उद्देश्य को पूरा



करते हैं। दूसरे शब्दों में कहें तो जीवन सुविधाजनक प्रवाहों में बहता हुआ, ऐसे ही निरर्थक व्यतीत हो जाता है, तपःसाधना द्वारा किये गए अवरोध आत्मा में शक्ति भरते हैं। अवरोध की शक्ति सर्व विवित है। हवा के प्रवाह से टकराकर पनचक्कियाँ चलती हैं, पाल से बँधी नौकाएँ द्रुत गति से दौड़ती दिखती हैं। विपरीत दिशा में चलती हुई मशीनों की रोक-थाम न की जाए तो दुर्घटना उत्पन्न कर सकती हैं। बारूद कारतूस में बन्द न करके दागी जाती है, तो बिखरी स्थिति में होकर केवल चमकभर उत्पन्न होगी, निर्दिष्ट दिशा में गोली नहीं छूटेगी। सुविधाजनक जीवन पर रोक-थाम करके उसे कठोर तितिक्षाओं की ओर मोड़ने से आत्मिक शक्ति का प्रचण्ड होना स्वाभाविक है। अतः तपःसाधना का उद्देश्य सुविधाओं पर रोक लगाकर कठोर जीवन व्यतीत करना है।

सुविधाएँ मनुष्य को प्रायः आलसी और दुर्बल बना देती हैं और असुविधाओं में जीवन व्यतीत करने वाला तपस्वी आत्मबली बनता है। सुविधा भरे जीवन में कठिनाइयों से लड़ने का अवसर नहीं मिलता, फलतः ऐसे लोगों की प्रतिभा प्रसुप्त रहती है, आत्मा भी शक्तिशाली, एवं सहनशील नहीं बनती। प्रायः यह अनुभव सब को होता है कि सर्दी-गर्मी से डर कर हीटर और कूलर के सहारे वातानुकूलित कमरों में निवास करने वाले लोग उस समय तो आराम महसूस करते हैं। परन्तु उनकी सहनशक्ति कमजोर पड़ जाने से तनिक-सा ऋतु-प्रभाव सहन नहीं कर सकते। ऐसे लोगों को तनिक-सी सर्दी में जुकाम एवं तनिक-सी गर्मी में जलन की शिकायत धर दबाती है। अधिक कपड़ों से लदे रहने वालों की अपेक्षा जो कम कपड़े पहनते हैं, वे सर्दी-गर्मी सहने के अभ्यस्त होते हैं। ऋतु के प्रभाव से वे पीड़ित नहीं होते। अतः यह स्पष्ट है कि असुविधा भरा जीवन व्यतीत करने वाले तपःसाधकों की प्रखरता निखरती है, जबकि अमीरी के वातावरण में रहने वाले की प्रतिभा बहुत कम उभरती है।

सुख-सुविधापूर्ण जीवन बिताने वालों की आवश्यकताएँ बड़ी-चढ़ी होती हैं, वे मितव्ययी और सादगी से न्याय-नीतिमय जीवन गुजारने के अभ्यस्त नहीं होते। ऐसी स्थिति में उनका तप-तितिक्षा से शून्य जीवन प्रायः अधिक कमाने एवं अधिक भोगने के कुचक्र में ही समाप्त हो जाता है। परन्तु संयम और सादगी से जीवन बिताने वाले तपःसाधक परमार्थ-प्रयोजनों में, आत्मशक्ति को प्रखर बनाने में अपने समय, चिन्तन, साधन एवं श्रम का महत्वपूर्ण अंश लगा सकते हैं।

ऐसे अध्यात्म मार्ग के पथिकों को धर्मस्थापना एवं अधर्म का विरोध करने में आजीवन संघर्ष करना पड़ता है, अन्याय-अनीतिकर्ताओं एवं अधार्मिकों का विरोध और आघात एवं आक्रमण भी सहना पड़ता है। धर्म एवं नीति के समर्थकों को पद-पद पर कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। उन्हें अल्पतम साधनों से अपना निर्वाह करना पड़ता है, कभी-कभी कई दिनों तक भूखे-प्यासे भी रहना पड़ता है, योग्य आवास स्थान न मिलने से सर्दी-गर्मी का भी अनुभव करना पड़ता है। अतः आवश्यक है कि वे पहले से ही बाह्य आभ्यन्तर तपःसाधना द्वारा अपनी सहनशक्ति, धैर्य एवं साहस विकसित करें। अपनी मनःस्थिति एवं शारीरिक क्षमता ऐसी बना लें, जिससे बाद में उन्हें पछताने या किसी को कोसने की आवश्यकता ही न पड़े। तपश्चर्या से इसी आवश्यकता की पूर्ति होती है। ऐसा साधक यथालाभ सन्तोष की नीति अपनाकर प्रत्येक परिस्थिति में प्रसन्न रह सकता है।

**तप का फलितार्थ आत्मा के विकारों को जलाना और सामर्थ्य बढ़ाना**

तप का अर्थ तपाना है। आध्यात्मिक दृष्टि से यहाँ तप का विशेषार्थ होगा—तन, मन, इन्द्रिय और आत्मा को तपाना। तप गर्मी को कहते हैं। गर्मी आग है। आग से दो काम होते हैं—(१) जलाना, नष्ट करना या शुद्ध करना और (२) शक्ति सामर्थ्य को असंख्यगुना बढ़ा देना। तपाने से वस्तुएँ गर्म होती हैं, उससे उनमें छिपी शक्तियाँ उभरती हैं, उनका संशोधन होता है, स्तर बढ़ता है, तथा उनमें दृढ़ता आती है। वस्तुओं की तरह व्यक्ति भी तपःसाधना से परिष्कृत, सुदृढ़ एवं प्रबल होता है। तपश्चर्या से आत्मा में प्रचण्ड प्रखरता उत्पन्न होती है।

भौतिक जगत् में भी इसी तथ्य का अवलम्बन लिया जाता है। धातुओं में मिली हुई विकृतियाँ उन्हें भट्टी में डालने से जल कर नष्ट हो जाती हैं। कूड़े-कचरे को आग में डाल कर लोग उसकी दुर्गन्ध एवं सड़ान से छुटकारा पा जाते हैं। गर्म पानी में खोला कर लोग कपड़े का मैल छुड़ाते हैं। ठंडी बारूद को विस्फोटक बनाने का काम चिनगारी करती है, पानी को तपा कर उसकी भाप से रेलगाड़ी जैसे भारी वाहन को इंजिन द्रुतगति से घसीटता चला जाता है। आग ही तेल को शक्ति में परिणत करने का काम करती है जिससे मोटरों और जहाजों को चलाया जाता है। बल्ब का जरासा फिलामेंट गर्म होने पर प्रकाश देता है। अणु से निकलने वाले विकिरण भी अग्निमय होते हैं। तँजस् शरीर को जीवित (गर्म) रखने और अवयवों

के संचालन में जठराग्नि काम करती है। प्रकाश और गर्मी से सूर्य अत्यन्त तेजस्वी प्रतीत होता है। चूल्हे में आग की गर्मी में तप कर ही सारा आहार पचान योग्य, स्वादिष्ट एवं शक्तिवर्द्धक बनता है। मिट्टी गर्म होने पर पत्थर हो जाती है। कच्ची मिट्टी से बनी ईंटों से निर्मित मकान वर्षा में गलने लग जाता है, किन्तु वे ही ईंटें आग में पका ली जाती हैं तो, उनसे बनी इमारतें वर्षों चलती हैं। चूना और सीमेंट भी कंकड़-पत्थरों का आग में पकाया हुआ चूरा है। इन्हें कच्चा पीस कर इमारत में लगाया जाए तो काम नहीं चलेगा। अतः पकी हुई ईंटों और सीमेंट में मकान को चिरस्थायी बना देने की शक्ति उत्पन्न हो जाती है। खान में से मिट्टी मिली हुई लोहा, ताम्बा आदि कच्ची धातुओं को भट्टी में तपाया जाता है, तभी वे शुद्ध बनती हैं और काम में आती हैं। कच्चे लोहे को अधिक मजबूत और फौलाद बनाने के लिए उसे तपाया जाता है। काटने वाले शस्त्रों तथा औजारों की धार अधिक गर्मी देकर तेज एवं सुस्थिर की जाती है। रसायनशास्त्री अभ्रक भस्म, बंग भस्म, प्रवाल भस्म, लौह भस्म आदि गुणकारी भस्मों उन वस्तुओं को तपा कर गर्म कर ही बनाते हैं।

आग के सम्पर्क से ही दीपक प्रकाशवान होता है। आग में तपा कर ही सुनार विविध प्रकार के आभूषण बनाता है। अन्य धातुओं को आग में डालकर कोमल करने पर ही उनके औजार या उपकरण बनाये जाते हैं। गर्मी से ही वनस्पतियाँ विकसित होती हैं, अनाज पकते हैं। सामान्य पानी को औषधोपयोगी बनाने अर्थात्—डिस्टिल्ड वाटर बनाने हेतु उसे भट्टी पर चढ़ाया जाता है और भाप बनाकर अर्क निकाला जाता है। व्यायाम से उत्पन्न गर्मी से ही शरीर की मांसपेशियाँ बलिष्ठ बनती हैं। इसी प्रकार तपस्या द्वारा तन-मन एव आत्मा को तपाने से उनमें भी सर्वतोमुखी प्रखरता उत्पन्न होती है। मनुष्य की जड़ता एवं कठोरता को सुकोमलता, उदारता एवं नम्रता में बदलने और उसे आत्म साधना के ढाँचे में ढालने के लिए तपश्चर्या को अपनाना अनिवार्य है। उसके बिना आरामतलबी और सुख-सुविधा से भरे वातावरण में पले लोग अविकसित, निष्क्रिय और आलसी बन जाते हैं। उनकी क्षमताएँ विकसित नहीं होतीं। उस्तरे पर धार रखने से ही वह पैना होता है, उसमें चमक दीखने लगती है, उसे ऐसे ही एक कौने में पड़ा रहने दिया जाए तो जंग चढ़ती जाएगी, और एक दिन वह नष्ट हो जाएगा। इसी प्रकार तन-मन को तपस्या की धार दी जाए तो वे पैने और प्रखर हो जाएँगे। फौज के लोगों को नित्य 'परेड' कराते हैं तथा

दौड़ लगवाते हैं, अन्यथा वे थोड़े ही दिनों में भारी भरकम हो जाएँगे, उनके लिए युद्ध करना तो दूर, अपने शरीर का बोझ ढोना भी कठिन हो जाएगा ।

जैन शास्त्रों में राजकुमारों, रानियों, धनाढ्यों एवं शिल्पकारों के ऐसे कई उदाहरण कूट-कूट कर भरे हैं, जिन्होंने साधु जीवन अंगीकार करने से पहले आरामतलबी में जीवन बिताया था, लेकिन दीक्षा लेने के बाद रत्नावली, कनकावली आदि उत्कट तपस्याओं द्वारा अपने जीवन के कल्मषों को धोकर आत्मा को प्रखर, तेजस्वी एवं ओजस्वी बना लिया । कई साधकों को उत्कट तपस्या से विशिष्ट लब्धियाँ एवं सिद्धियाँ भी प्राप्त हुईं । वे लोग आत्मिक शक्तियों से सम्पन्न बने । तपश्चर्या की गर्मी के कारण व्यक्ति की प्रसुप्त शक्तियों को, मनोबल एवं आत्मबल को जागृत होने का अवसर मिलता है । आन्तरिक सत्पात्रता का संवर्धन करने के लिए तपःसाधना ही उत्तम उपाय है । व्यक्तित्व को समुन्नत एवं साधना से समृद्ध बनाने के लिए मुख्यतया चेतनात्मक सामर्थ्यों की जरूरत पड़ती है । साधन-सुविधाओं से बड़प्पन-मिल-सकता है, किन्तु तेजस्विता, महानता, ओजस्विता एवं मनस्विता उपार्जित करने के लिए आत्मिक सामर्थ्य, क्षमता एवं शक्तित्त के सिवाय और किसी साधन से काम नहीं चलता और आत्मिक शक्तियाँ किसी देवी-देव या भगवान् से वरदान या सन्त-महन्त से उपहार के रूप में प्राप्त नहीं हो सकतीं । अगर मिल गई होती तो अर्जुनमाली को मुद्गरपाणि यक्ष से मिल सकती थीं । इन्हें तपःसाधना के द्वारा यत्नपूर्वक अपने भोतर से ही उभारनी पड़ती हैं । यही श्रमण संस्कृति का वज्र आघोष है ।

अतः तपस्या का उद्देश्यमूलक फलितार्थ यही है कि आत्मा की उत्कृष्टता एवं आदर्शवादिता को अपनाने में जो कष्ट उठाने पड़ते हैं, उन्हें साहस एवं प्रसन्नता के साथ आमन्त्रित एवं शिरोधार्य करना । आध्यात्मिक प्रगति के पथिक को आत्मशुद्धि एवं आत्मनिर्माण की प्रचण्ड संकल्प-शक्ति के साथ प्रखरचेष्टा करनी पड़ती है । उस श्रेय मार्ग पर चलने में जो कठिनाइयाँ आती हैं, उन्हें प्रसन्नता और साहसिकता के साथ स्वीकार करना ही तपश्चर्या है । कौन-सा ऐसा कठिनतम कार्य है, जो तपस्या से प्राप्त नहीं हो सकता ? मनुस्मृति में बताया है—

यद्दुस्तरं यद्दुरापं यद्दुर्गमं च यद्दुष्करम् ।  
तत्सर्वं तपसा साध्यं तपोहि दुरतिक्रमम् ॥

जो बहुत दुस्तर है, बहुत कठिनता से प्राप्त किया जा सकता है, जो दुर्गम और दुष्कर है, वह सब तप द्वारा सिद्ध किया जा सकता है, क्योंकि तप के लिए कोई भी बेड़ा पार न होने जैसा नहीं है।

**साधना से पूर्व आत्मशुद्धि और आत्मशुद्धि के लिए तप आवश्यक**

यह ठीक है कि तपस्या से आत्मशुद्धि होती है, किन्तु तपःसाधना द्वारा वह आत्मशुद्धि, आत्मसाधना या उपासना पूर्व करना आवश्यक है। आशय यह है कि तपश्चर्या से पूर्वसंचित अशुभ कर्मों का क्षय हो जाता है, जैनशास्त्र उत्तराध्ययन (३०/६) इस तथ्य का साक्षी है—

**‘भवकोडिसंचियं कम्मं तवसा निज्जरिज्जइ’**

‘साधक करोड़ों भवों के संचित कर्मों को तपस्या के द्वारा क्षीण कर देती है।’

**‘तवेण परिसुज्जइ’**

‘तपस्या से आत्मा की परिशुद्धि होती है।’

यही तपःसाधना का प्रथम लक्ष्य है। संचित कषायों-कल्मषों के रहते कोई भी आत्मसाधना सफल नहीं हो सकती। विलासिता या चारित्र-शिक्षिता की स्थिति में रहकर आत्मसाधना करने वालों की तुलना में तपश्चर्या से आत्मशोधन (अशुभ कर्मों को निर्जरा एवं दोष-दुर्गुणों-अपराधों आदि की प्रायश्चित्त द्वारा शुद्धि) करके आत्मसाधना में लगने वाले व्यक्ति अपने लक्ष्य तक अच्छी तरह पहुँचते हैं, शीघ्र सफलता प्राप्त कर लेते हैं। पूर्वसंचित अशुभ कर्मों से तपस्या द्वारा निवृत्त हो जाने पर आत्म-साधना की सफलता में साधक शीघ्र सफल हो सकता है। दोष दुर्गुणों के रहते चिरस्थायी आत्मिक प्रगति के पथ पर चल सकना किसी भी व्यक्ति के लिए सम्भव नहीं हुआ है। आत्मशोधन के बिना उच्चकोटि की साधनाएँ निष्फल चली जाती हैं।

मैत्रायणी उपनिषद् (४/३) में भी स्पष्ट कहा है—

.....एतदप्युक्तं नातपस्कस्यात्मज्ञानेऽधिगमः कर्मशुद्धिवैत्येवं ह्याह-  
तपसा प्राप्यते सत्त्वं, सत्त्वात् संप्राप्यते मनः।  
मनसा प्राप्यते त्वात्मा, ह्यात्मापत्या निवर्तते ॥

“तपस्या के बिना आत्मा में ध्यान नहीं लगता, न कर्मशुद्धि होती है। तप से सत्त्व प्राप्त होता है, सत्त्व (ज्ञान) से मन का निग्रह होता है। मन स्थिर होने पर आत्मा की प्राप्ति होती है और बन्धन छूट जाते हैं।”

जैसे फूटे बर्तन में दूध दुहने से पल्ले कुछ नहीं पड़ता, पशु पालने और दुहने का श्रम निरर्थक चला जाता है। इसी प्रकार आत्मा में पापा-स्रवों के छिद्र रहते या दोषों-अपराधों के रहते आत्मसाधना करने का श्रम निरर्थक चला जाता है। गन्दे नाले में थोड़ा-सा गंगाजल डाल देने से उसकी शुद्धि नहीं होती, इसी प्रकार अन्तरंग और बहिरंग जीवन में निकृष्टता भरी रहे तो किसी भी अध्यात्म-साधना का लक्ष्य पूरा नहीं हो सकता। मैले-कुचैले चिकने एवं गन्दगी भरे कपड़े पर कोई अच्छा रंग चढ़ाना चाहे तो चढ़ नहीं सकता, उसी प्रकार राग-द्वेष-कषायादि से मलिन अन्तःकरण या कर्मों से मलिन आत्मा पर कोई धर्म-साधना का रंग चढ़ाना चाहे तो उसे भी सफलता मिलनी कठिन है। उत्तराध्ययन सूत्र में स्पष्ट कहा है—

‘धम्मो सुद्धस्स चिट्ठइ’

‘शुद्ध हृदय या परिष्कृत आत्मा पर ही धर्म का रंग ठहरता है।’

इस दृष्टि से आत्मपरिष्कार कपड़े की धुलाई है और आत्मसाधना रंगाई है। अतः साधना का प्रारम्भ आत्मशोधन एवं आत्मपरिष्कार से होना चाहिए।

न केवल अध्यात्म क्षेत्र में, वरन् भौतिक क्षेत्र में भी यही सिद्धान्त अपनाते देखा गया है। रक्त विकार जैसे रोगों के निवारण के लिए कुशल वैद्य पेट की सफाई करने के बाद ही रक्तशोधन चिकित्सा करते हैं। काया-कल्प-चिकित्सा में रोगी को बलवर्द्धक औषधियाँ देने से पहले वमन, विरेचन, स्वेदन आदि क्रियाओं द्वारा मल-निष्कासन का प्रयास किया जाता है। इसी प्रकार कुशल माली या किसान बीजारोपण से पूर्व भूमिशोधन करते हैं। भूमि को अच्छी तरह जोतकर, कंकड़-पत्थर, झाड़-झंखाड़ हटा कर, खरपतवार उखाड़ कर तथा नमी रखकर एवं खाद देकर इस योग्य बनाया जाता है, कि उसमें बोया हुआ बीज अच्छी तरह उग सके। यदि जल्दी फसल कमाने के लोभ में भूमिशोधन कार्य नहीं किया गया है तो उस किसान या माली का भूमि-साधना का श्रम व्यर्थ चला जाता है। जिस भूमि-साधना में प्रारम्भ में श्रम बचाने की बुद्धिमानी समझी गई थी, वहाँ बाद में उसमें बीज भी गँवा बैठने की निराशा ही हाथ लगती है।

अतः साधना का बीज बोने से पूर्व आत्मभूमि का परिशोधन होना आवश्यक है।

दुष्कर्मों के कारण चित्त पर जमे हुए कुसंस्कारों की मोटी परतें

आत्मिक प्रगति के मार्ग में सबसे अधिक बाधक हैं, इन्हें हटाने को आत्म-परिशोधन कहते हैं। निष्कर्ष यह है कि आत्मिक प्रगति की साधना का पूर्वार्ध आत्म-परिशोधन है और उत्तरार्ध है साधना द्वारा आत्मविकास। उत्तरार्ध से लाभ पाने की आशा में पूर्वार्ध की उपेक्षा करना साधक को बहुत ही मँहगा पड़ता है। ऐसी छलांग मारने वाला पूर्ण असफल न भी हो तो भी उसका प्रतिफल इतना अल्प दिखाई देता है, जो प्रारम्भ में सोचे या बताये गये लाभ की तुलना में बहुत ही कम होता है, साधक के मन को वह उदास कर देता है।

अधिकांश साधक आत्मा के अभिवर्धन से पूर्व परिशोधन के सिद्धांत की उपेक्षा करके असमंजस एवं निराशा की स्थिति में पहुँच जाते हैं। आसानी से शीघ्र उपार्जन के लोभ में ऐसी आतुरता अपनाई जाती है, जिसके आवेश में परिशोधन (तप द्वारा वर्तमान एवं भावी जीवन को पवित्र-परिष्कृत करने तथा प्रायश्चित्त तप द्वारा पूर्वकृत पापों-दुष्कृतों का परिमार्जन) नहीं किया जाता। ऐसे एकांगी अधूरे प्रयासों से आत्मिक अभिवर्धन में असफलता मिलती है। यह भयंकर भूल है कि आत्म-परिशोधन जैसी प्रारम्भिक प्रक्रिया को अपनाए बिना ही आगे की छलांग लगा दी गई। परिशोधन की उपेक्षा करके उपार्जन की उतावली अन्ततः निराशाजनक ही सिद्ध होती है। अतः आत्म-साधना की सनातन परम्परा में आत्मशोधन की सर्वप्रथम आवश्यकता और महत्ता है। परिशोधन को ही तपःसाधना कहते हैं जिसके अनेकों प्रकार हम संक्षेप में बता आए हैं। उन्हें आत्म-साधना से पूर्व अपनाने से मनोभूमि की कुसंस्कारिता हटती है, उर्वरता उत्पन्न होती है तथा अवांछनीय आदतें और गलत मान्यताओं के कारण अन्तःक्षेत्र में जमी हुई दुष्ट मनोवृत्तियाँ भी दूर हो जाती हैं।

बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकार की तपःसाधना से तन, मन, इन्द्रिय, बुद्धि एवं आत्मा पर लगे हुए दोष, रागद्वेषादिजनित कर्म नष्ट होते हैं और इस प्रकार की आत्मशुद्धि होने से आत्मिक विकास होने में देर नहीं लगती।



## मानसिक शान्ति के मूलसूत्र

### जीवन रूपी गाड़ी के लिए स्वस्थ मन अनिवार्य

हमारे जीवन के शारीरिक, वाचिक एवं बौद्धिक कार्य-कलापों का बहुत कुछ आधार हमारा मन है। मन की ही प्रेरणा से शरीर, इन्द्रियाँ, वाणी, बुद्धि आदि सब कार्य करते हैं। जिस प्रकार मोटर, इंजिन या मशीन ड्राइवर की प्रेरणा पर चलती है, उसी प्रकार हमारी जीवनरूपी गाड़ी मनरूपी ड्राइवर की प्रेरणा से चलती है। कुशल एवं स्वस्थ ड्राइवर गाड़ी को मंजिल तक सही-सलामत पहुँचा देता है, उसी प्रकार कुशल एवं स्वस्थ मन जीवन रूपी गाड़ी को लक्ष्य तक सही-सलामत पहुँचा देता है। अनाड़ी और अस्वस्थ ड्राइवर गाड़ी को कहीं भी दुर्घटनाग्रस्त कर सकता है, उसी प्रकार असंतुलित, अस्वस्थ एवं अनाड़ी मन जीवन नैया को मझधार में डुबा देता है—तोड़फोड़ देता है। अतः मानसिक शान्ति, स्वस्थता एवं संतुलन जीवन की सफलता एवं लक्ष्य तक सही-सलामत पहुँचने के लिए अनिवार्य है। इसके बिना जीवन बिना पतवार की नौका है, बिना ब्रेक की गाड़ी है, अथवा बिना लगाम का घोड़ा है।

### स्वस्थ एवं सशक्त मन के लिए स्वस्थ तन आवश्यक

स्वस्थ एवं सशक्त, अथवा शान्त एवं सन्तुलित मन के लिए सर्वप्रथम स्वस्थ तन होना आवश्यक है। यह निर्विवाद है कि अस्वस्थ शरीर में मन-शक्ति के प्रकट होने की आशा नहीं की जा सकती। अंग्रेजी में एक कहावत है—

'Sound mind in a sound body'

'सशक्त शरीर में ही सशक्त मन का निवास है।'

अस्वस्थ शरीर अपार मनोबल को धारण नहीं कर सकता। छिद्र



युक्त घड़े में दूध का दोहन सम्भव नहीं हो सकता। मोटर के कलपुर्जे टूटे-फूटे तथा कील-कांटे ढीले-ढाले एवं अंजर-पंजर हों तो उस मोटर में चलने-चलाने की क्षमता नहीं होती। इसी प्रकार शरीर ढीला-ढाला, सुस्त, अशक्त एवं बीमार होगा तो मानसिक संस्थान ठीक-ठीक काम नहीं कर सकेगा।

**पर्याप्त साधन-सम्पत्ति होने पर भी मानसिक अशान्ति**

कई लोगों के पास सुन्दर ढंग से जीने के लिए पर्याप्त साधन-सामग्री, आर्थिक समृद्धि, बौद्धिक योग्यता एवं उच्च शिक्षा तथा उच्च पद-प्रतिष्ठा होने पर भी उनका मन अशान्त एवं उद्विग्न देखा जाता है। कई अच्छे व्यापारी, नेता, पण्डित या अधिकारी होते हैं, फिर भी सतत खोये-खोये से प्रतीत होते हैं, वे भूले भटके राही, स्वयं भी परेशान रहते हैं, अपने परिवार वालों को भी परेशान और अशान्त करते रहते हैं। अधिकांश लोगों की लगभग एक ही शिकायत है—मन की अशान्ति, मानसिक परेशानी, मन की अस्वस्थता और अशान्ति। ऐसे लोगों का मन सदा असंतुलित, अस्वस्थ और व्यग्र रहता है। वे इसके लिए तरह-तरह का प्रयत्न करते हैं, फिर भी उन्हें समाधान नहीं मिल पाता।

**अशांत मन : अनेक बुराइयों का कारण**

जिसका मन अशान्त एवं उद्विग्न रहता है, उस व्यक्ति का भाग्य रूठ जाता है। उसके विकास और उन्नति की सारी सम्भावनाएँ नष्ट हो जाती हैं। निराशा और विषाद उसे रोग की तरह घेर लेते हैं। जीवन के सारे सुख उसे छोड़कर अन्यत्र चले जाते हैं। न उसे भोजन अच्छा लगता है, न नींद आती है। जरा-जरा-सी बात पर वह कुढ़ता है, खीजता है और दूसरों को कोसने लगता है। अप्रिय एवं अस्वास्थ्यकर मानसिक कुण्डाओं से उसका हृदय परिपूर्ण रहता है।

**मन की अशान्ति से विवेक, विचार और सन्तुलन नष्ट**

अनेक मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों से यह सिद्ध हो चुका है कि मन की अशान्ति एवं उद्विग्नता मनुष्य के स्नायु संस्थान पर अनुचित बोझ डाल कर उसे कमजोर बना देती है। वह विश्राम करता है लेकिन उसे आराम नहीं मिलता। अशान्त एवं उद्विग्नचित्त व्यक्ति जब सोकर उठता है, तब गहरी नींद न आने के कारण ताजगी और स्फूर्ति के बदले भारी थकान और सुस्ती का अनुभव करता है। उसका शरीर निडाल और लुंजपुंज हो

जाता है। आलस्य, शैथिल्य और दीर्बल्य आदि उसे बुरी तरह घेरे रहते हैं। इस प्रकार दुःखपूर्ण जीवन बिताने के कारण उसका स्वास्थ्य, बल और विवेक चौपट हो जाता है। जिस मन में अशान्ति अपना डेरा डाल देती है, वहाँ मानसिक सन्तुलन, विवेक, विचार एवं सम्यग्ज्ञान नष्ट हो जाते हैं। उस व्यक्ति की बुद्धि भी स्वस्थ और सन्तुलित नहीं रहती, जिसके फलस्वरूप वह अशान्ति के कारणों का निवारण करने में असमर्थ हो जाता है। अगर वह उद्विग्न मन से उलटे-सीधे प्रयत्न भी करता है, तो उसके परिणाम उलटे ही निकलते हैं।

**मानसिक अशान्ति : एक आपत्ति, एक व्याधि**

मानसिक अशान्ति भयंकर आपत्ति है, जो दूसरी आपत्ति को न्योता देती है। एक आपत्ति से छूट कर दूसरी में पड़ जाना, विषाद से छूट कर निराश हो जाना, क्रोध से छूट कर शोक और शोक से छूट कर भय के वशीभूत हो जाना, यह विष चक्र मानसिक अशान्ति का परिणाम है।

मानसिक अशान्ति से मानसिक संतुलन बिगड़ जाता है, तब विक्षिप्तता पैदा हो जाती है। हर समय दुःखी, अशान्त, चिन्तित और परेशान रहना उसके जीवन क्रम का विशिष्ट अंग बन जाता है। जिस प्रकार शरीर में ताप की अधिकता से ज्वर नामक शारीरिक व्याधि हो जाती है, उसी प्रकार अधिक संतप्त एवं उद्विग्न रहने वाले व्यक्ति को 'अशान्ति' नामक मानसिक व्याधि उत्पन्न हो जाती है। मानसिक अशान्ति मानव-जीवन की जोती-जागती नरक भूमि है। मानसिक अशान्ति से शरीर में भयंकर उत्तेजना भी पैदा होती है, जिससे उसके रक्त में भयंकर विष व्याप्त हो जाता है, जो रक्त के क्षार को नष्ट करके गठिया, यक्ष्मा, कैंसर आदि भयंकर व्याधियों को उत्पन्न करता है।

**अविद्या ही मानसिक अशान्ति का मूल कारण**

मानसिक अशान्ति का मूल कारण महापुरुषों ने 'अविद्या' को बताया है। उसी के साथ फिर मोह, काम, क्रोध, लोभ, असमता आदि अन्य कारण जुड़ते जाते हैं। भगवान् महावीर ने अन्तिम प्रवचन में दुःख और अशान्ति के मूल कारण की मीमांसा करते हुए कहा था—

**'जावंतोऽविज्जा-पुरिसा सव्वे ते दुक्खसंभवा'**

जितने भी अविद्यावान् पुरुष हैं, वे सब अपने लिए दुःख और अशान्ति पैदा करते हैं। सचमुच, ऐसे मनुष्य बुद्धि में बहुत बड़े-चढ़े होते हैं, वे तर्क,

युक्ति और पांडित्य में तथा भाषा ज्ञान में भी दूसरों से बाजी मार लेते हैं, किन्तु वे हृदय को महत्त्व नहीं देते। वे बुद्धि के बल पर शास्त्रों की लम्बी-चौड़ी व्याख्या कर सकते हैं, लच्छेदार भाषण दे सकते हैं, अनेक भाषाएँ बोल सकते हैं, परन्तु हृदय की जड़ता के कारण वे अविद्या के अन्धकार में भटक कर मानसिक अशान्ति के गहरे गर्त में पड़े रहते हैं। बुद्धि के बल पर भ्रान्तिवश वे व्यापार, शिक्षा, पाण्डित्य, विद्वत्ता, उच्च पद आदि से जीवन में सफलता के स्वप्न देखते हैं, परन्तु हृदय की व्यापक विशालता एवं सम्यग्ज्ञान के अभाव में सफलता उनसे कोसों दूर रहती है।

### अविद्या का लक्षण

आत्मा की विशिष्ट शक्तियों का ज्ञान न होना, अथवा बौद्धिक उड़ान को ही सम्यग्ज्ञान मानना अविद्या है। अविद्या के कारण ही मनुष्य शरीर को ही सब कुछ समझता है। उसके दुर्बल, रुग्ण, अशक्त, वेडौल एवं कुरूप होने को ही अपने आप (आत्मा) की दुर्बलता, रुग्णता, अशक्ति, कुरूपता या वेडौलपन समझता है। इसी प्रकार शरीर और शरीर से सम्बन्धित सजीव-निर्जीव वस्तुओं को अपनी और शाश्वत समझ कर मोह-ममत्त्ववश सुख-दुःख की कल्पना करता है, यही अज्ञान है, अविद्या है। इसी अविद्या के कारण मन में काम, क्रोध, लोभ, मोह, मात्सर्य, द्वेष आदि नागा विकार पैदा होते हैं, जिनसे मानसिक संक्लेश पैदा होता है। अगर मनुष्य अविद्या और उसके कारणों एवं परिणामों को समझ ले तथा उनसे दूर रहने का सतत् अभ्यास करे तो वह मानसिक अशान्ति से छुटकारा पा सकता है।

### अविद्या : एक प्रकार की नास्तिकता

इसी अविद्या के कारण कई मनुष्य स्वयं को दीन-हीन और दुःखी मान कर दिन-रात रोते-झींकते और चिन्ता करते रहते हैं। इससे मानसिक अशान्ति, तनाव और विपत्ति बढ़ती जाती है। स्वयं को दीन-हीन मान कर चलने वाले व्यक्ति जाने-अनजाने प्रायः नास्तिकता के घोर अन्धकार की ओर बढ़ते जाते हैं। नास्तिकता भी अविद्या का ही एक प्रकार है। निराश चिन्तित एवं अप्रसन्न रहना आत्मा का तिरस्कार है, आत्मा की अनन्त शक्ति के प्रति अश्रद्धा एवं अवमानना है, यह भी नास्तिकता है। आस्तिक व्यक्ति हर परिस्थिति और प्रत्येक दशा में प्रसन्न, सन्तुष्ट और उल्लसित रहता है। वह जानता है कि दीन, हीन, मलिन और अप्रसन्न रहने से आत्मा का तेज नष्ट होता है, आत्मा के अस्तित्व एवं उसकी प्रचण्ड शक्तियों पर से विश्वास

उठ जाता है। जिस मनुष्य को मानव शरीर में श्रेष्ठ आत्मा जैसे प्रसाद मिला हो, उत्तम चिन्तन करने के लिए बुद्धि और विवेक जैसा पुरस्कार मिला हो, विशिष्ट क्षमताओं, योग्यताओं और सामर्थ्यों से भरा मन मिला हो, शक्तिशाली, सुन्दर, स्वस्थ, सुघड़ शरीर मिला हो, वह मनुष्य दीन-हीन हो ही कैसे सकता है? दीनता-हीनता का अनुभव करना मानसिक अशान्ति को स्वयं न्यौता देना है।

### इस नास्तिकता के दुष्परिणाम

इसी नास्तिकता के परिणामस्वरूप मनुष्य स्वयं दुःखी एवं अशान्त होकर कभी-कभी आत्महत्या कर लेता है, जो निकृष्ट एवं पापपूर्ण कार्य है। ऐसे नास्तिक एवं अविद्यावान् लोग अपने अभावों एवं परिस्थितियों का रोना रोते रहते हैं। ऐसे लोग अपने मन-मस्तिष्क को परिस्थितियों की प्रतिकूलता को समर्पित कर आर्त्तध्यान करते रहते हैं। ऐसा करने से मनुष्य निर्बल, निकम्मा एवं निराश होकर अन्धेरे में भटकता रहता है, अपनी मानसिक क्षमताओं को नष्ट कर डालता है।

परिस्थितियों से घबराकर मन को अशान्त एवं असंतुलित बनाने अथवा अपने अभावों और विषमताओं पर रोते रहने के अभ्यासी लोगों का अपने पर से ही नहीं, वीतराग परमात्मा पर से भी विश्वास उठ जाता है। वह या तो निमित्तों को कोसता है या परमात्मा को। इस प्रकार वह अपना आत्मविश्वास खोकर अपने उपादान (आत्मा) का संशोधन नहीं करता, बल्कि आत्मशुद्धि के लिए व्रत, नियम, तप, संयम, त्याग का आचरण करना भी छोड़ देता है। वह अज्ञानवश पुराने अशुभ कर्मों का क्षय तो कर नहीं पाता, नये अशुभ कर्मों को और बाँध लेता है।

### अपनी परिस्थिति में सन्तुष्ट रहना सीखो

अगर व्यक्ति अपनी संकटापन्न परिस्थिति में धैर्य रखे, मन का सन्तुलन न खोए, अपनी स्थिति में ही सन्तुष्ट और प्रसन्न रहने का आस्तिक-भाव बनाए रखे अथवा शान्तिपूर्वक परिस्थिति का सामना करे, स्वयं को परिस्थिति के अनुरूप एडजस्ट करले तो वह मानसिक शान्ति भी प्राप्त कर लेता है, परमात्मा की कृपा का पात्र, गुरुदेवों के आशीर्वाद का भाजन एवं धर्माचरण को सक्षम भी बनाता है। अपनी आत्मा को भी ज्ञान-दर्शन के प्रकाश से विकसित कर लेता है।

आस्तिकता सम्पन्न व्यक्ति कभी दुःखी नहीं होते

अपनी परिस्थिति के विषय में इस प्रकार की आस्तिकता एवं

आध्यात्मिक विचारधारा रखने वाले कभी दुःखी नहीं होते। प्रतिकूल एवं विषम परिस्थितियाँ उन्हें दीन-हीन, व्याकुल एवं अशान्त नहीं बना पातीं। उनका आत्मविश्वास बढ़ता जाता है। वे अधिकाधिक परिश्रमी, दूसरों के प्रति उदार, सहिष्णु एवं आत्मीयता की भावना से ओतप्रोत बन जाते हैं। ऐसे आत्मा और परमात्मा के प्रति दृढ़विश्वासी व्यक्ति जीवन की कठिन परीक्षा में उत्तीर्ण होकर एक दिन अवश्य ही वास्तविक सुख-शान्ति के अधिकारी बनते हैं।

**वह आवश्यकताओं की कटौती करता है**

ऐसा आस्तिक व्यक्ति अपने उपादान (आत्मा) को शुद्ध करने का प्रयत्न करता है। वह स्वेच्छा से अपनी आवश्यकताएँ घटाता है, आवश्यकताओं की छँटनी करके उनमें से अनिवार्य आवश्यकताओं का—इच्छाओं का परिमाण करता है। वह मन में यह निश्चित धारणा बना लेता है कि आनन्द, सुख, सन्तोष या सम्पन्नता धन-सम्पत्ति एवं बाह्य साधनों में नहीं हैं। ये सब—मनुष्य की आत्मा में निवास करने वाले आस्तिकभाव-दैवी-भाव में है। यदि सुख आदि का निवास बाह्य साधनों में होता तो संसार का प्रत्येक धनवान, साधन सम्पन्न एवं भौतिक सम्पदा में आसक्त व्यक्ति सन्तुष्ट, सुखी और प्रसन्न होता, परन्तु ऐसा होता नहीं।

**आवश्यकता बढ़ाने से अशान्ति बढ़ेगी**

अविद्यावान् नास्तिक लोग अपनी आवश्यकताएँ बढ़ा लेते हैं, अथवा दूसरों की देखादेखी आवश्यकताएँ बढ़ाने का विचार करते रहते हैं। घर में पर्याप्त वस्त्र होते हुए भी वे कपड़े की दूकान में प्रवेश करके विभिन्न किस्म के कपड़े देखकर मन में जलते रहते हैं—‘आह! ऐसा कपड़ा मेरे पास नहीं है। काश! मैं इसे खरीद सकता!’ ऐसा करके कभी तो वे कर्ज लेकर ऐसी अनावश्यक वस्तुओं को खरीदते रहते हैं, अथवा मन ही मन अशान्ति का अनुभव करते रहते हैं।

मानसिक शान्ति और भौतिक वस्तुओं की लालसा एक दूसरे के कट्टर विरोधी हैं। निष्कर्ष यह है कि मानसिक शान्ति के लिए देखादेखी से, अनावश्यक वस्तुओं को खरीदने का विचार करने से, भौतिक वस्तुओं की लालसा से अथवा लोभ से प्रेरित होकर प्रतिस्पर्धा करने से दूर रहना चाहिए।

### ईर्ष्या से मानसिक अशान्ति

कई लोगों के पास पर्याप्त धन एवं साधन होते भी हैं, फिर भी वे उनका सदुपयोग करने के बदले दूसरों के प्रति ईर्ष्या और प्रतिस्पर्द्धा करके दुःखो होते रहते हैं। वे दूसरों की स्थिति अपने से अच्छी देखकर स्वयं को दीन-हीन एवं निर्धन महसूस करने लगते हैं। उसे अपने पास के साधन कम मालूम होते हैं। किसी की उन्नति देखकर ऐसे व्यक्ति जलने-कुढ़ने लगते हैं। ऐसे अभागे अज्ञानग्रस्त व्यक्ति जीवन में स्थायी शोक-सन्ताप के सिवाय और क्या पा सकते हैं ?

संसार में एक से एक बढ़कर धनवान और एक से एक बढ़कर निर्धन या अभावग्रस्त पड़े हैं। इसलिए अपनी स्थिति पर असन्तुष्ट होकर रोने या दूसरों से जलने की अपेक्षा मनुष्य को अपने से निर्धन एवं अभाव पीड़ित की ओर देखना चाहिए। तभी सन्तुष्टि और मनःशान्ति प्राप्त हो सकती है। अपनी स्थिति में जो दुःखी हो रहा है, उसे सोचना चाहिए कि क्या उसकी स्थिति समाज में सबसे गई गुजरी है ? ऐसा तो नहीं है। तब उसका खेद करना कथमपि उचित नहीं है। ईर्ष्या, प्रतिस्पर्द्धा और भौतिक लालसा मानसिक शान्ति में बाधा उत्पन्न करने वाली हैं। अपने दुर्भाग्य के लिए दूसरों की दुःखी-चीनी, टीका टिप्पणी या मिथ्या आलोचना करना भी उचित नहीं। ऐसा करने से दुर्भाग्य तो मिटेगा नहीं, उलटे अशुभ कर्मबन्ध होने से बढ़ेगा ही। अतः दुर्भाग्य को सौभाग्य में परिवर्तित करने के लिए व्यक्ति समभाव, सन्तोष, तप, त्याग, संयम, प्रत्याख्यान, कषायविजय, विषयासक्ति त्याग, धैर्य आदि का अभ्यास बढ़ाना चाहिए।

### परिस्थितियों से घबराकर विचलित न हों

मनुष्य के जीवन में कुछ परिस्थितियाँ अनिवार्य होती हैं, उन्हें प्रसन्नतापूर्वक सहे बिना छुटकारा नहीं। मानव जीवन में सैकड़ों प्रतिकूलताएँ, विपत्तियाँ, दुःख, बीमारी, इष्टवियोग-अनिष्टसंयोग आते हैं। शान्ति और धैर्यपूर्वक उनका सामना करना या उन्हें सहन करना सीखना चाहिए। ऐसा करने से आत्मबल, धैर्य एवं गाम्भीर्य बढ़ेगा। उसकी इच्छाशक्ति मजबूत बनेगी। फलतः प्रतिकूलताएँ या विपरीत परिस्थितियाँ भी अनुकूल बनाई जा सकेंगी।

### परालम्बिता का यथाशक्ति त्याग करो

कई बातों में मनुष्य स्वावलम्बी बन सकता है, परन्तु थोड़ी-सी

सुविधा एवं सुकुमारता के चक्कर में पड़कर वह परावलम्बी बन जाता है। यह परावलम्बीपन आगे चलकर उसके लिए ही दुःखदायी एवं मानसिक संताप का कारण बन जाता है।

### विरोधों और अवरोधों से घबराओ मत।

कई लोग सत्कार्य करते हैं, परन्तु उनमें जब विरोध या अवरोध आते हैं, अथवा कठिनाइयाँ या कसौटियाँ आती हैं, तो घबरा उठते हैं। परन्तु घबरा जाने से मानसिक शान्ति भंग हो जाएगी। इसके बदले विरोधों और अवरोधों की परवाह किये बिना शान्ति और धैर्यपूर्वक सत्कार्य करते रहना चाहिए। सत्कार्य करने में विघ्न बाधाएँ, मुसीबतें या कठिनाइयाँ तो आती ही हैं। बल्कि मुसीबतें मानव जीवन में अनिवार्य हैं। अवरोध, संकट या विरोध से बिचलित नहीं होना चाहिए, न ही उनके आगे घुटने टेकने चाहिए; क्योंकि ये सब व्यक्ति की निष्ठा, श्रद्धा और धैर्य की कसौटी करते आते हैं। जिस समय विरोध या अवरोध आएँ, उस समय व्यक्ति को अपनी इच्छाशक्ति मजबूत बनाकर दृढ़तापूर्वक सत्कार्य करने का निश्चय करना चाहिए। अगर व्यक्ति उस समय विरोधों, कठिनाइयों या मुसीबतों को देखकर दूर भाग जाएगा, या सत्कार्य छोड़कर आलसी बनकर चुपचाप बैठ जाएगा तो वह किसी भी सत्कार्य को कर नहीं पाएगा। उसके मन में विरोधों या अवरोधों से हार खाने का कांटा सदैव बना रहेगा।

विरोधों या अवरोधों के समय शान्त और स्वस्थ मन से परमात्मा से उन्हें सहने की शक्ति की प्रार्थना करनी चाहिए। श्रेष्ठ प्रेरणादायक पुस्तकों के स्वाध्याय, सत्संग या जप में स्वयं को लगाए रखना चाहिए, ताकि आत्मबल प्राप्त हो।

### दूसरों की पंचायत में न पड़ो

कई बार मनुष्य दूसरों के कार्य में मगजपच्ची करता रहता है। दूसरे क्या करते हैं? या किस प्रकार चलते हैं? इसकी आलोचना या टीका टिप्पणी करके अशान्त और अस्वस्थ होना, स्वयं चलाकर अशान्ति को मोल लेना है। मानसिक शान्ति के लिए यह अनिवार्य है कि मनुष्य दूसरों के काम में हस्तक्षेप न करे। जो विश्व के समस्त पदार्थों से मानसिक शान्ति का मूल्य अधिक मानता है, उसे इस नियम का दृढ़ता से पालन करना चाहिए।

### अपमान को भूल जाओ

मान लो, किसी व्यक्ति ने अज्ञानतावश तुम्हारा अपमान कर दिया या तुम्हारी भावना को आघात पहुँचाया, तो उसके प्रति तुम्हें अपने हृदय में द्वेष, दुर्भाव, क्रोध या अनिष्ट करने का विचार नहीं लाना चाहिए। दुर्भाव या द्वेषभाव का सेवन करना एक प्रकार का मानसिक कैंसर है। इस प्रकार की संतापवृद्धि करने की आदत व्यक्ति के अपने लिए भी हानिकारक है। ऐसा करने से उस व्यक्ति की नींद हराम हो जाएगी, रक्त जहर बन जाएगा। रक्तचाप भी बढ़ जाना सम्भव है। किसी के द्वारा किये गए अपमान को अगर बार-बार याद किया जाएगा तो उससे मन में दुष्ट विचार आएँगे, हृदय में जलन होगी, इसकी अपेक्षा उस अपमान का कड़वा घूंट पी जाने से अपमानित करने वाले व्यक्ति पर भी उसका असर होगा, मन को भी शान्ति मिलेगी।

### लौकिक लोगों से प्रशंसा या प्रतिष्ठा की अपेक्षा न रखो

जो व्यक्ति दुनियादार लोगों से अपने कार्य की या अपनी प्रशंसा या सार्वजनिक सम्मान-प्रतिष्ठा चाहता है, वह अपने लिए मानसिक अशान्ति और शारीरिक अस्वस्थता का सृजन करता है। जब प्रशंसा या सम्मान मिलेगा, तभी वह काम करेगा, अन्यथा, सत्कार्य को छोड़ बैठेगा। अथवा मन में घुटता रहेगा कि मैं इतना अच्छा कार्य करता हूँ, फिर भी मेरी कोई प्रशंसा या कद्र नहीं करता है। दुनियादार लोगों में अधिकांश अज्ञानी एवं चापलूस होते हैं, उनके द्वारा किये गए गुणगान का मूल्य इतना क्यों आंका जाए? परमात्मा एवं चारित्र्यशील महात्माओं के आशीर्वाद एवं कृपाप्रसाद प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। धर्मशास्त्रों के उपदेशों तथा सदाचार के नियमों एवं साधु-सन्तों तथा पवित्र पुरुषों के मत को ही महत्त्व देना चाहिए।

### श्रेय-प्रेय का विवेक करना सीखो

जो व्यक्ति मानसिक शान्ति चाहता है, उसे प्रत्येक अवसर पर अच्छे-बुरे, सत्-असत् या श्रेय-प्रेय का विवेक करना सीखना चाहिए। सन्मार्ग का निर्णय करने के लिए आत्म निरीक्षण की आवश्यकता है। अर्थात्—उसे आत्माभिमुख होना चाहिए। जो अन्तर् की गहराई में उतर कर आत्म विकास की दृष्टि से खोज करेगा, वह अवश्य ही आनन्द पाएगा। वह अपने अन्तर् में विवेक का गज डालकर श्रेय (कल्याणकारी मार्ग) और प्रेय दोनों



को पहचान लेगा। यदि मन इन्द्रियों की भावुकता भरी मांग का अनुसरण करके प्रवृत्ति करेगा तो वह मायाजाल भरे प्रेय मार्ग में फंसा देगा। अर्थात्—जब मन तुम्हें संसार के फिसलन वाले भोग विलासपूर्ण आपात रमणीय मार्ग की ओर ले जाने लगे अथवा दूसरों का अनुसरण करने को ललचाए, तभी व्यक्ति को संभल कर अपनी विवेक बुद्धि का उपयोग करके श्रेय मार्ग को पकड़ना चाहिए, भले ही उसमें प्रारम्भ में कष्ट, कठिनाइयाँ या विघ्न बाधाएँ आएँ, परन्तु उसका परिणाम सुख शान्ति-दायक होगा।

जब श्रेय मार्ग का निर्णय हो जाए तो उसे क्रियान्वित करने हेतु जुट पड़ना चाहिए। सच्चा मार्ग—आत्माभिमुखी पथ—पकड़ा कि उस व्यक्ति पर परमात्मा की कृपा अनायास ही उतरने लगेगी, जो उसके जीवन को अधिकाधिक उदात्त बनाएगी, और इसी से उसे मानसिक शान्ति प्राप्त होगी।

### विचार, वाणी और व्यवहार में एकरूपता लाओ

अतः मानसिक शान्ति का मूल सूत्र है—अपनी आत्मा के प्रति वफा-दार रहो। जो लक्ष्य निश्चित किया है, अथवा गृहस्थ धर्म या साधु धर्म दोनों श्रेयस्कर मार्गों में से जिस मार्ग पर चलने का निश्चय किया है, उसके प्रति पूर्ण अनन्य श्रद्धापूर्वक चल पड़ो। विचार, वाणी और व्यवहार में अधिकाधिक मात्रा में एकरूपता लाओ। जैसा विचार हो, तदनुसार बोलो और व्यवहार करो। छल, झूठ-फरेब या दम्भ को जीवन में से निकाल फेंको। तभी सच्चे माने में मानसिक शान्ति प्राप्त होगी।

भौतिक सतह पर तुम से कम भाग्यशाली हो, उसके साथ अपनी तुलना करो और आध्यात्मिक सतह पर तुम से अधिक भाग्यशाली हो, उसके साथ अपनी तुलना करो। यह उपाय तुम्हारे अन्तर् में भौतिक सन्तोष और आध्यात्मिक असन्तोष जागृत करेगा। इस उपाय से तुम आध्यात्मिक प्रगति और मानसिक शान्ति प्राप्त कर सकोगे। आध्यात्मिक समृद्धि ही वास्तविक समृद्धि है। यह आत्मा की पूंजी होगी। उपर्युक्त उपाय के बदले उलटा उपाय अजमाओगे, अर्थात् भौतिक समृद्धि में तुम से बढ़े-चढ़े लोगों की ओर तथा आध्यात्मिक समृद्धि में तुम से निम्न कोटि के लोगों की ओर मुख रखोगे तो तुममें भौतिक असन्तोष एवं आध्यात्मिक अहंकार का अनिष्ट प्रभाव पैदा होगा।

### मानसिक शान्ति के लिए कुछ प्रेरणासूत्र

एक बात और, मानसिक शान्ति के लिए किसी को बिना मांगे सलाह या सुझाव मत दो, अनावश्यक वार्तालाप बंद करो, शब्दों को तौल-तौल कर हेतुपूर्वक ही बोलो। अन्यथा, कई बार सदाशय से बोले गए निर्दोष शब्द भी गलतफहमी पैदा कर देते हैं, फलतः संघर्ष और अशान्ति खड़ी हो जाती है। सलाह देने वाला व्यक्ति अपनी बात उससे मनवाने का आग्रह करता है। अगर वह तुम्हारे मत से विरुद्ध मत रखता है तो तुम्हें क्या? सहिष्णुता रखकर तो तुम उसे धीरे-धीरे अपने मत का बना सकोगे, विरोध या आग्रह करने से बात तन जाएगी, अतः दूसरों को सुधारने के चक्कर में पड़ कर अपना समय और शक्ति मत खर्च करो, ऐसा करने से तुम थक कर निराश हो जाओगे, उसे अपना शत्रु बना लोगे। अतः स्वस्थ और शान्त रहकर आध्यात्मिक गुणों की वृद्धि करने में लगे; यही मानसिक शान्ति का राज-मार्ग है।



## आध्यात्मिक प्रगति के मूलाधार

### प्रगति की होड़

वर्तमान वैज्ञानिक युग में मनुष्य में प्रगति की होड़ लगी हुई है। प्रायः सभी मनुष्य प्रगति चाहते हैं। शायद ही कोई अभागा या मूर्ख ऐसा होगा, जो प्रगति न चाहता हो। यह बात दूसरी है कि लोगों के प्रगति-सम्बन्धी केन्द्रबिन्दु भिन्न-भिन्न हों। कोई आर्थिक प्रगति चाहता है, तो कोई शारीरिक। किसी को राजनैतिक प्रगति के विषय में आकर्षण है, तो किसी को सामाजिक प्रगति सम्बन्धी रुचि है। कई लोग धार्मिक-साम्प्रदायिक प्रगति के लिए लालायित हैं तो कई आध्यात्मिक प्रगति के इच्छुक हैं। प्रगति के इन विविध मनोनीत केन्द्रबिन्दुओं में से मनुष्य जिस क्षेत्र की प्रगति चाहता है, उसके लिए साधन जुटाता है और तदनुकूल प्रयत्न भी करता है।

### प्रगति में सफलता क्यों नहीं ?

इतना सब होते हुए भी लोग अपने-अपने अभीष्ट विषय में प्रगति की आकांक्षा और तदनुकूल प्रयत्न भी करते हैं, फिर भी प्रायः देखा जाता है कि वे सदा सफल नहीं होते, भरसक परिश्रम करने पर भी वे पिछड़ कर रह जाते हैं। प्रश्न होता है, ऐसा क्यों होता है ? अवश्य ही कोई कारण होगा, जो अग्रसर होते हुए चरणों को यथास्थान रोक लेता है। या तो प्रगति के लिए यथेष्ट एवं पर्याप्त साधना नहीं हुई होगी। या फिर समुचित साधन नहीं अपनाए होंगे ? अथवा प्रगति में जो अवरोधक तत्व हैं, उनका ज्ञान न होने से अन्धाधुन्ध गति की होगी। अथवा प्रगति में साधक-बाधक तत्त्वों की ठीक जानकारी नहीं होगी। प्रगति को रोकने वाला कोई

न कोई बाधक तत्त्व अवश्य होना चाहिए, जो जिस क्षेत्र में वास्तविक प्रगति होनी चाहिए, उस क्षेत्र में प्रगति न होने देता हो ।

प्रगति भौतिक नहीं, आत्मिक होनी चाहिए

प्रगति की पुकार सवत्र है । प्रगति की आकांक्षा सर्वत्र जोर-शोर से उभर रही है और उसके लिए अभोष्ट प्रयत्न भी द्रुतगति से हो रहे हैं । आर्थिक दृष्टि से लोग पहले की अपेक्षा अधिक सम्पन्न हुए हैं । राजनैतिक दृष्टि से प्रायः सभी राष्ट्रों में स्वतन्त्रता का बिगुल बज उठा है । अब दूसरों के गुलाम कहे जा सकने वाले देश भी बहुत थोड़े रह गए हैं । परन्तु नये ढंग की (शारीरिक-मानसिक) गुलामी मानव जाति को पुनः जकड़ने लगी है । विलासिता और कदाचार की आदतों, संकीर्ण स्वार्थपरता और अहम्मन्यता ने मनुष्य को भौतिक प्रगति के साथ-साथ आत्मिक अवनति के पथ पर ला पटका है । उचित-अनुचित हिताहित, कर्तव्य-अकर्तव्य, आत्मिक हानि-लाभ की मानवीय विवेक-बुद्धि भौतिक प्रगति के साथ-साथ कुण्ठित हो चली है । सामाजिक प्रगति के नाम पर कुछ जातियों, व्यावसायिक संगठनों, यूनियनों, श्रमिक दलों आदि के द्वारा अपना-अपना संगठन बना कर अपनी अनुचित माँगें पूरी कराने के लिए हिंसक आन्दोलन, घेराव, पथराव, तोड़फोड़, आगजनी, दंगा-फसाद, सिरफुटोव्वल आदि का दौर-दौरा चलाया जाता है । समाज में प्रायः समाजनिष्ठा, मानवता, सहानुभूति, सच्चरित्रता, नैतिकता, व्यसनत्याग, आत्मा-परमात्मा (देव) महात्मा (गुरु) और धर्म-संघ के प्रति आस्था-श्रद्धा समाप्त हो चली है । सामाजिक प्रगति के पंख कट गये हैं । समाज में एक ओर कुछ लोगों में अहम्मन्यता पनप रही है तो दूसरी ओर आत्महीनता एवं निराशा अपने पैर पसारने लगी है । समाजनेताओं और राजनेताओं में आत्मिक प्रगति प्रायः नहीं है, उसका कारण भी यही है कि उनमें दूरदर्शिता, विवेकशीलता, उदारता, आत्मसंयम, त्याग-तप की तेजस्विता क्षीण हो गई है । यही कारण है कि आम जनता में तप, त्याग, आत्मकल्याण की आकांक्षा, आत्मसंयम, विवेक, ईमानदारी, उदारता, मानवता, शिष्टाचार एवं परस्पर स्नेह-सद्भाव धीरे-धीरे विदा हो रहे हैं । परिश्रमवृत्ति, नैतिक श्रमनिष्ठा एवं त्याग-तप-निष्ठा के अभाव के कारण गरीबों में उक्त सद्गुण लुप्त हो रहे हैं, जबकि अमीरों में अमीरी के कारण उद्धतता, विलासिता, यौन स्वेच्छाचार, शराब, जुआ, व्यभिचार, देहेज कम लाने पर नववधू पर अत्याचार, आत्महत्या आदि अपराध भी धड़ल्ले के साथ बढ़ते जा रहे हैं । आर्थिक एवं बौद्धिक साम्प्र-

दायिक एवं जातीय उन्नति होने के साथ-साथ मनुष्य की आत्मिक प्रगति ठप्प हो जाने से मनुष्य मानव से दानव और देव बनने के बदले राक्षस बनता जा रहा है। भौतिक उन्नति के साथ आध्यात्मिक उन्नति का सन्तुलन न होने अथवा भौतिक विकास पर आध्यात्मिकता एवं नैतिकता का अंकुश न रहने से मनुष्य विनाश के कगार पर जा खड़ा हुआ है। ऐसे अनैतिक, अधार्मिक एवं भौतिकता परायण मानव बर्बादी के नये दौर से गुजर रहे हैं। थोड़े से देशों या व्यक्तियों के भौतिक दृष्टि से समृद्ध बन जाने पर भी उनमें आत्मिक दृष्टि से असमृद्धता के कारण उत्पन्न हुई इन बुराइयों की बाढ़ हम देख रहे हैं।

अमेरीका की जनसंख्या संसार भर की जनसंख्या में सिर्फ १४ प्रतिशत है, वह आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न होने पर भी सामाजिक, धार्मिक एवं आध्यात्मिक दृष्टि से बहुत पिछड़ा हुआ है। आर्थिक समृद्धि के साथ अमेरीकन जनता की आवश्यकताएँ दिनानुदिन बढ़ती जा रही हैं। दूसरी ओर उनकी आत्मा में असन्तोष, ईर्ष्या, स्वार्थपरता, अहंकार, काम, क्रोध, मोह, रागद्वेष आदि दुर्गुण भी पनपते जा रहे हैं। फलतः प्रगति तो हुई, परन्तु हुई भौतिक दिशा में ही। इसे हम प्रगति के नाम पर अवगति, उत्थान के बदले पतन, अभ्युदय के बदले कर्मोदय और विकास के बदले ह्रास कह सकते हैं। वैज्ञानिक उपलब्धियों के बावजूद आवश्यकताएँ अमेरीका आदि देशों में अत्यधिक बढ़ी हुई हैं, जो बर्बादी का कारण हैं। अमेरीका आदि देशों में जीवन का स्तर ऊँचा उठाने का अर्थ समझा जाता है भौतिक समृद्धि। फिर ऐसे देश अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति दो तरह से करने का प्रयत्न करते हैं—समर्थ राष्ट्र द्वारा असमर्थ राष्ट्रों का शोषण—उत्पीड़न करना अथवा अगली पीढ़ी के लिए आवश्यक साधनों को वर्तमान पीढ़ी द्वारा ही निचोड़ कर समाप्त कर दिया जाना, अगली पीढ़ी के लोगों के लिए जीने के साधन शेष न रहने देना। जिस प्रकार मारपीट करके भी गाय से सीमित मात्रा में ही दूध लिया जा सकता है, अथवा पेट चीरने पर भी मुर्गी से बहुत अंडे नहीं प्राप्त किये जा सकते, उसी प्रकार जीने के उन साधनों का दोहन उतना ही हो सकता है, जितना प्रकृति में सामर्थ्य है। पिछले पचास वर्षों में विश्व की आबादी दुगुनी हो गई है। परन्तु इसके बावजूद जनता में नैतिकता, मानवता एवं आध्यात्मिकता का स्तर बढ़ा नहीं, घटा है। उनकी भोजन, वस्त्र, मकान, शिक्षा, आरोग्य, न्याय और सुरक्षा की व्यवस्था का खर्च बहुत बढ़ गया है। और तो और ईंधन का खर्च ग्यारह

गुना तथा कागज का खर्च चौदह गुना बढ़ गया है। शिक्षा सम्पन्न होने पर भी नई पीढ़ी में विवेक, विनय, विज्ञान, आत्मिक विकास आदि अत्यन्त घटे हैं। ग्रामीण क्षेत्रों को छोड़ कर शहरों में जा बसने की प्रवृत्ति तेजी से बढ़ रही है। फलतः एक ओर देहातों से प्रतिभासम्पन्न लोगों का पलायन हो रहा है; जबकि शहरों में अवांछनीय निरंकुशता बढ़ रही है। धिचपिच बस्ती में रहने से बढ़ती हुई गंदगी को हटाने की समस्या अत्यन्त जटिल होती जा रही है। सफाई का सन्तुलन बिगड़ता जा रहा है। स्वच्छता के लिए धनशक्ति और जनशक्ति की भारी आवश्यकता है। जितनी तेजी से सफाई एवं सामग्री का सन्तुलन बिगड़ता जा रहा है, उतनी ही तेजी से आत्मिक दृष्टि से जीवन धन का ह्रास हो रहा है। शहरों का आकर्षण उनकी आबादी को तेजी से बढ़ा रहा है। क्षेत्र विस्तार उतना नहीं होता, जितनी धिचपिच बढ़ती जा रही है। कल-कारखानों का प्रदूषण, हवा में धुआं और नदियों में गंदा पानी बढ़ता जा रहा है। इससे जनजीवन के स्वास्थ्य को भारी क्षति पहुँचती है। अमेरिका जैसे साधन-सम्पन्न देशों में १५ प्रतिशत मानव अपने जन्म स्थान में मृतक का-सा जीवन बिताते हैं, शेष यायावरों की तरह भटकते और एक स्थान से दूसरे स्थान पर अपना बसेरा करते हुए जीवन बिताते हैं। फुरसत नाम की चीज जनजीवन में से बिदा हो गई है। आदमी अत्यन्त व्यस्त हो गया है, इस भौतिक और वैज्ञानिक युग में। मनुष्य जितने-जितने समृद्ध हैं, उतने-उतने ही अधिकाधिक उपभोग के लिए लालायित हैं। अधिकाधिक उपभोग की आदतों ने उपभोग-परिभोग-परिमाण की—संयम की वृत्ति समाप्त कर दी है। उपभोग की आदतों में इतनी प्रगति है कि उसकी पूर्ति के लिए अपना समय, श्रम, धन, साधन एवं समग्र चिन्तन शक्ति झोंक देने पर भी उनकी पूर्ति नहीं हो पा रही है। ऐसी स्थिति में आत्मिक प्रगति कैसे हो? निष्कर्ष यह है कि भौतिक प्रगति और उसकी पूर्ति की दौड़ में मनुष्य आध्यात्मिक दृष्टि से इतना पिछड़ गया है कि उसे व्यस्तता, तनाव, खोज, चिन्ता और अतृप्ति-जन्य खिन्नता के सिवाय और कुछ हाथ नहीं लगता।

**बाह्य प्रगति कितनी अनर्थकर ?**

प्रसिद्ध दार्शनिक 'रिचार्ड बी. ग्रेग' ने ठीक ही लिखा है कि "विश्व के इतिहास में ऐसे आन्तरिक अनिश्चितता भरे बुरे दिन कभी नहीं आए, जितने इस समय में हैं। जनसंख्या और यातायात के साधनों में तेजी आ रही है, उसके साथ-साथ शहरी संस्कृति का विस्तार, फ़ैलाव एवं विला-

सिता के उपकरण बढ़ते जा रहे हैं। मनुष्य इस बाह्य प्रगति के होते हुए भी अन्तर में खोखला होता चला जा रहा है।”

भारतीय संस्कृति जहां त्याग एवं संयम-प्रधान थी, वहाँ आज वह भोग एवं विलासिता प्रधान होती जा रही है। फलतः वह पहले जैसे मानवीय अन्तःकरणों को जोड़ती थी, वैसे अब वह उन्हें तोड़ती और विखेरती जा रही है। फलतः मानवीय अन्तःकरण की आन्तरिक प्रगति का भयावह अवरोध संकट पैदा हो गया है। इस औद्योगिक युग में प्रगति तो अवश्य हो रही है, लेकिन वह किस दिशा में हो रही है, इसका लेखा-जोखा करने तथा आत्मचिन्तन एवं आत्मनिरीक्षण करने की मनुष्य को फुरसत नहीं है। यह अनघड़, अनिश्चित और अस्थिरतावर्द्धक दौड़ मनुष्य को कहाँ पहुँचाएगी, इसका कोई ठिकाना नहीं। मनुष्य के जीवन में वह आनन्द, उल्लास, मस्ती और शान्ति प्रायः गायब हो गई है। मनुष्य बाहर से गगनचुम्बी अट्टालिकाओं में रहता हुआ तथा मुद्रास्फीति के कारण अर्थ-सम्पन्नता का अनुभव करता हुआ भी भीतर से स्वयं को अनिश्चित, अनिश्चित, असहाय और असुरक्षित महसूस कर रहा है। मनोविनोद के लिए वर्तमान युग के गृहस्थ प्रायः क्लवों, मदिरालयों, सिनेमाघरों एवं टी० वी० आदि की शरण में जाते हैं, जहाँ उन्हें तथा उनकी संतति को घटिया मनोरंजन के साथ-साथ मर्यादाहीन यौनाचार, भ्रष्टाचार, चोरी, डकैती आदि अपराधों का प्रशिक्षण जाने-अनजाने मिल जाता है। इससे मानवीय चिन्तन एवं प्रगति की दिशा भीतिकता, विलासिता एवं स्वार्थ-परता की ओर तेजी से अग्रसर हो रही है। इसके फलस्वरूप पहले जहाँ मनुष्य बड़े कुटुम्ब के रूप में हिलमिल कर रहते थे, परस्पर सहयोग से काम करते और बांटकर खाते थे, वहाँ आज का मनुष्य अपना-अपना घरौंदा अलग-अलग बना कर रहता है, अपने ही परिवार—स्त्री बच्चों के लिए सोचने और अपने ही स्वार्थ में, अपने और अपनों के पेट, प्रजनन और पालन में तत्पर रहता है। जीवन में परमार्थ, परोपकार और सेवाभाव के उच्चस्तरीय मूल्य समाप्तप्रायः होते जा रहे हैं। अगर भौतिक प्रगति के साथ मनुष्य में सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों की समझदारी और तदनुसार गति करने की वृत्ति होती तो वह जीवन के उच्चस्तरीय आध्यात्मिक मूल्यों को अपनाता, केवल अपने और अपनों के विषय में सोचने के बजाय वह अपने से अधिक पीड़ित, पददलित, शोषित, अंगविकृत एवं निराश्रित लोगों के लिए कुछ करने तथा आत्मीयता एवं सेवाभावना

में वृद्धि करता। सेवा तपस्या और सहयोग के साथ प्रसिद्धि, प्रतिष्ठा और प्रशंसा की भूख ने स्वार्थ की सौदेबाजी को उच्च स्थान दे दिया है। साक्षरता एवं सम्पन्नता के साथ सज्जनता, शालीनता, उदारता, निःस्वार्थ सेवा, आत्मीयता और सहकारिता जैसे आध्यात्मिक मूल्यों को मानव प्रायः खो बैठा है। आत्मिक प्रगति के इन मूलाधारों को अपनाए बिना मानव जीवन में आनन्द, प्रसन्नता, सुख-प्राप्ति एवं निश्चितता प्राप्त होना दुर्लभ है। इसी कारण समाज-व्यवस्था, अर्थ-व्यवस्था और शासन-व्यवस्था जर्जर होती जा रही है। इससे भविष्य में यांत्रिक प्रगति पर अवलम्बित रहकर मनुष्य स्वयं एक यन्त्र बनकर रह जाएगा, अपनी मौलिक विशेषताओं को खो बैठेगा। अतः अर्थ, समाज और शासन की सुव्यवस्था को सुदृढ़ बनाने के साथ-साथ आध्यात्मिक आस्थाओं को परिष्कृत और वृद्धिगत करना चाहिए। भौतिकता के परिप्रेक्ष्य में जीवन स्तर न बढ़ाकर आध्यात्मिकता के परिप्रेक्ष्य में जीवन-स्तर बढ़ाने की बात सोचनी चाहिए। अन्यथा, आदर्श-विहीन प्रगति व्यक्तित्व को विकृत करेगी, नाना संकट, कुष्ठाएँ और चिन्ताएँ पैदा करेगी, भविष्य में वह अवगति से भी मंहगी पड़ेगी।

अन्य क्षेत्रों में प्रगति होने पर भी यथोचित उपयोग नहीं

माना कि आर्थिक आदि क्षेत्रों में प्रगति हुई है, परन्तु उसके साथ उसका उपयोगकर्ता व्यक्ति का आध्यात्मिक विकास नहीं है, तो वह प्रगति ही उस व्यक्ति और उससे सम्बद्ध परिवार को ले डूबेगी। मोटर अच्छी है, उसकी गति भी तीव्र है, परन्तु यदि उसका ड्राइवर कुशल और बाहोश नहीं है तो वह उस मोटर को दुर्घटनाग्रस्त कर देगा। ऐसी स्थिति में मोटर की सवारी पैदल चलने से भी अधिक मंहगी और भारी पड़ेगी। चोर, उचक्के, ठग, डाकू कितना कमाते हैं? परन्तु उसका समुचित लाभ न तो वे स्वयं उठा पाते हैं और न ही वे अपने परिवार वालों को दे पाते हैं। उनका निकृष्ट बना हुआ व्यक्तित्व (आत्मा) सिर्फ अपराध प्रवृत्ति अपनाकर अनीति, अन्याय, अधर्म और पाप को उपार्जन करने की दिशा में प्रगति तो करता ही है, साथ ही उसने जो पाया-कमाया है, उसे वह शराब, मांसाहार, व्यभिचार, जुआ आदि दुर्व्यसनों और अनाचारों में लगा कर आत्मिक ही नहीं, शारीरिक-मानसिक स्थिति को और भा अधिक बुरी बना लेता है। इसके विपरीत आध्यात्मिक प्रगति करने वाला गृहस्थ साधक अथवा सन्त स्वल्प साधनों से, न्याय-नीति से उपार्जित साधनों से मस्ती भरा आनन्दमय जीवन जोता है, और अपने सम्पर्क में आने/रहने



बालों को भी इसी प्रकार का जीवन जीने की प्रेरणा देता है। फलतः वह आत्मिक प्रगति के साथ-साथ शारीरिक मानसिक विकास तो अनायास ही प्राप्त कर लेता है।

आर्थिक उन्नति की चरम सीमा पर पहुँचे हुए अमेरिका जैसे देशों का वर्तमान स्वरूप हमारे सामने है। वहाँ आर्थिक या भौतिक प्रगति के साथ-साथ व्यक्तियों के आध्यात्मिक विकास की ओर ध्यान दिया जाता तो स्थिति ही दूसरी होती। अगर अमेरिकन लोगों ने भौतिक उन्नति के जितनी ही आध्यात्मिक उन्नति को महत्व दिया होता तो, उतने ही साधनों से न केवल वे स्वयं आनन्द का जीवन जीते; अपितु उन्हीं साधनों से दूसरों को भी आनन्दमय जीवन जीने की प्रेरणा प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से देने में सफल होते।

अतएव यह अवश्य विचारणीय है, कि भौतिक साधनों में प्रगति चाहे जितनी हुई हो, उसका उपयोगकर्ता मनुष्य यदि आध्यात्मिक विचार से शून्य है, आत्मिक विकास में अकुशल है तो उससे लाभ के बजाय हानि ही अधिक है। बंदर के हाथ में यदि तलवार दे दी जाए ता वह अपनी रक्षा के बदले अपनी हानि ही अधिक करेगा। धन, बल, विद्या, सुकुल, मुजाति, अधिकार, चानुर्य आदि सम्पदाएँ प्रचुर मात्रा में उपाजित कर लेने पर भी यदि उनका उपयोग आर्थिक दृष्टि से करना न आया तो उनसे लाभ के बदले हानि ही अधिक हो सकती है। सुसम्पन्न लोग जब अदूरदर्शी और अविवेकी बनकर कुमार्गगामी बनते और अनर्थ पर उतरते हैं तो अपनी या अपनों की ही नहीं, पूरे समाज की भयंकर क्षति करते हैं। अतएव भौतिक स्तर को ऊँचा उठाने की अपेक्षा, मनुष्य का आन्तरिक स्तर उठाया जाना सर्वप्रथम आवश्यक है। आर्थिक, वैज्ञानिक, शारीरिक, बौद्धिक आदि भौतिक क्षेत्रों में विकास के लिए जितने प्रयत्न किये जाते हैं, उससे अधिक नहीं तो कम से कम समकक्ष प्रयत्न तो आध्यात्मिक क्षेत्र में विकास के लिए किया ही जाना चाहिए।

आत्मिक विकास मनुष्य-जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि है। इसी आधार पर गई-गुजरी एवं बौद्धिक दृष्टि से पिछड़ी हुई स्थिति में पड़े हुए व्यक्तियों को महात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा के स्तर तक विकसित होने का अवसर मिला है, मिलता है, और मिल सकता है। हरिकेशबल मुनि जाति, कुल से, शरीर सम्पदा से या बौद्धिक दृष्टि से हीनतर थे, किन्तु जब उन्होंने तप-त्याग-संयम एवं नियम को अपना कर अपनी आत्मा को आध्या-

त्मिक विकास के पथ पर लगा दिया तो उनके व्यक्तित्व (आत्मा) का विकास तो हुआ ही उसके साथ मानसिक-बौद्धिक विकास भी अनायास ही हो गया। उन्होंने अपनी उपलब्धियों का सदुपयोग भी किया और दूसरों को भी आध्यात्मिक विकास के साथ प्राप्त साधनों का सदुपयोग करने की प्रेरणा दी। आध्यात्मिक दृष्टि से निम्न स्तर के लोग गुण, स्वभाव, पुण्य तथा तप-संयम से दीन-हीन होने के कारण धन, बल, ज्ञान, यश आदि से भी वंचित रहते हैं और साधन एवं अवसर रहने पर भी वे उनका यथोचित सदुपयोग नहीं कर पाते। फलतः चिन्ता, कुण्ठा, भीति एवं खिन्नता ही उन्हें अहर्निश घेरे रहती है। आध्यात्मिक दृष्टि से व्यक्तित्व का पिछड़ापन अनेक संकटों और अभावों का अड्डा बन जाता है, जबकि आत्मिक दृष्टि से विकसित व्यक्तित्व के धनी जटिल परिस्थितियों से जूझ कर भी अपने लिए प्रगति का मार्ग बना लेते हैं, और जो साधन एवं अवसर उपलब्ध हैं, उसी का श्रेष्ठतम सदुपयोग करते हुए आत्मिक प्रगति की दिशा में आगे बढ़ते जाते हैं। संसार के आध्यात्मिक प्रगतिशील महामानवों का जीवन इस तथ्य का साक्षी है।

प्राचीन काल में धन, सुविधा और साधन आज की अपेक्षा बहुत कम थे। मोटर, रेल, वायुयान, पुल, रेडियो, वायरलेस, टेलीफोन, टेलीविजन आदि साधन कहाँ थे? बिजली, भाप, गैस और कोयले आदि से शक्ति उत्पन्न करके लाभान्वित होने की स्थिति भी कहाँ थी? और कहाँ हुआ था, शिक्षा, चिकित्सा, भौतिक विज्ञान आदि का इतना विकास? लोकतंत्रीय शासन, शस्त्रास्त्रसम्पन्नता एवं प्रबल सैन्य शक्ति उन दिनों कहाँ थी? इतनी अधिक साधन-सुविधाएँ उपलब्ध होने के बावजूद वर्तमान काल का मानव अनेक समस्याओं, चिन्ताओं और संकटों के जंजाल में बुरी तरह फंसा हुआ है, पिछली पीढ़ियों की तुलना में मानव स्वास्थ्य की दृष्टि से क्रमशः गिर रहा है। दुर्बलता, रुग्णता, परवशता आदि गहरी घुसती जा रही हैं। मनुष्यों में पारस्परिक स्नेह, सहयोग एवं सद्भाव में भी अत्यधिक कमी हुई है। फलतः एक-दूसरे को ऊँचा उठाने के बदले सम्पन्न मानव शोषण और उत्पीड़न में ही प्रायः संलग्न है। संसारभर में अपराधी प्रवृत्तियाँ तेजी से बढ़ रही हैं, वे सामाजिकता की जड़ें खोखली करती जा रही हैं। फलतः अनेकानेक संघर्ष, कलह-क्लेश, बैर-विरोध एवं भयावह समस्याएँ उठ रही हैं, जो मनुष्यों को मनःस्थिति को कुत्साओं और कुण्ठाओं से जकड़े हुई हैं। अतः सुख-सुविधा और साधनों की प्रचुरता होने पर भी आज का

मनुष्य द्वारा, थका, टूटा, खिन्न, चिन्तित और निराश दिखाई दे रहा है। खिन्न मनःस्थिति में गम और उदासी के निवारण के लिए मनुष्य शराब आदि व्यसन, व्यभिचार एवं अनाचार जैसे क्षुद्र उपायों का आश्रय लेते जा रहे हैं।

इन सब अवांछनीयताओं का कारण केवल एक ही उभर कर आता है—आत्मिक प्रगति की पहल किये बिना की गई भौतिक प्रगति, घोड़ा-गाड़ी में गाड़ी आगे और घोड़ा पीछे जोतने की तरह भयावह है। आत्मिक प्रगति का महत्व इसलिए अधिक है कि उसके बिना उदात्त दृष्टिकोण, मानवता, विश्वमैत्री, प्रखर चरित्र एवं दूसरे के लिए स्वयं कष्ट सहने का, सहिष्णुता एवं सेवाभावना का विकास नहीं हो सकेगा। अतः आत्मिक प्रगति की दिशा में व्यक्तिगत और सामूहिक दोनों प्रकार से प्रबल प्रयास होने चाहिए। आखिर परिष्कृत चेतना ही संसार के पदार्थों का मही उपयोग कर सकती है। गीताकार ने भी स्पष्ट कहा है—

“परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ।”

“मनुष्यो ! तुम एक-दूसरे के साथ परस्पर सद्भाव एवं सहयोग करते हुए भी परम श्रेय को प्राप्त कर सकोगे ।”

**चेतना की प्रगति और बौद्धिक प्रगति में अन्तर**

आजकल बुद्धि वैभव की चमत्कारी प्रगति प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर हो रही है। विज्ञान से लेकर शिक्षा तक के सभी क्षेत्रों में उन्नति हो रही है, शक्ति और साधनों के नये-नये स्रोत हस्तगत हो रहे हैं, प्रकृति की रहस्यमय परतों पर से पर्दा उठता जा रहा है। परन्तु यहाँ ध्यान रखना चाहिए कि यह बौद्धिक क्षेत्र की प्रगति है, चेतना की प्रगति नहीं। चेतना और बुद्धि का अन्तर समझ लेना चाहिए। बुद्धि का केन्द्र मस्तिष्क पत्र भौतिक शरीर का एक अवयव मात्र है। वह मन का ही एक भाग है, जिसे जैन शास्त्रों में नो-इन्द्रिय (अध-इन्द्रिय) कहा गया है। पैरों में दौड़ने की, हाथों में वजन उठाने की, जीभ में बातें बनाने की कुशलता बढ़ जाए तो उसे शारीरिक उन्नति ही समझा जाएगा, चेतना (आत्मा) की नहीं। चेतना की परतें बुद्धि से उतनी ही गहरी हैं, जितनी कि शरीर की तुलना में आत्मा की। शरीर से बलिष्ठ व्यक्ति दंगल में जीत सकता है, पर वह भक्ति भावना, सहृदयता और चरित्र की उत्कृष्टता में भी बढ़ा-चढ़ा हो, यह प्रायः नहीं देखा जाता। चेतना का क्षेत्र भावना का है। वह (चेतना) शरीर के साथ

जुड़ी होने पर भी अस्तित्व की दृष्टि से भिन्न है। किसी रूग्ण व्यक्ति में भी विश्वमैत्री, सहृदयता, आत्मीयता आदि उदात्त भावनाएँ हो सकती हैं और किसी स्वस्थ एवं सशक्त व्यक्ति में कठोरता, क्रूरता, स्वार्थपरता एवं निर्दयता हो सकती है। अतः बुद्धि से चेतना की स्थिति भिन्न समझनी चाहिए। बुद्धि वैभव भी एक प्रकार से भौतिक प्रगति के अन्तर्गत ही है। उसके कारण सांसारिक उपलब्धियाँ भले ही हस्तगत होती हों, किन्तु आध्यात्मिक उपलब्धियाँ हस्तगत नहीं होतीं।

अगर बौद्धिक प्रगति आध्यात्मिक प्रगति होती तो इस धरती पर एक-दूसरे को काटने-गिराने एवं हानि पहुँचाने की बात सर्वथा त्याज्य होती और स्नेह-सहयोग की उदार नीति अपना कर आगे बढ़ने में योगदान दिया जाता। इसी प्रकार पतन के प्रयास उत्थान के प्रयास होते।

चेतना की प्रगति तो समूचे व्यक्तित्व को प्रभावित करके, अपने प्रभाव से भावना, विचारणा और साधना की धारा को उच्च स्तरीय बना देती है। चेतना का उत्कर्ष होने पर व्यक्ति की स्थिति कैसी होती है? इसके लिए दशवैकालिक सूत्र के चतुर्थ अध्यायन की गाथा १३ से १५ तक देखिये। नौवीं गाथा में इसका दिग्दर्शन कराया गया है—

सव्वभूयप्पभूयस्स सम्मं भूयाइं पासओ ।

पिहिआसवस्स दंतस्स पावकम्मं न बधइ ॥

जिस साधक ने आस्रवों का निरोध कर लिया है, और जो शान्त-दान्त है, समस्त प्राणियों को आत्मतुल्य देखता है, वह सर्वभूतात्मभूत साधक पापकर्म का बन्धन नहीं करता।

ऐसे उत्कृष्ट चेतना के धनी भावितात्मा का पुरुषार्थ अपनी चेतना को ही नहीं, सारे संसार को प्रभावित करता है। 'अप्पाणं भावेमाणे विहरइ' 'वह अपनी आत्मा को भावित करता हुआ विचरण करता है'; के उद्घोष से शास्त्र उसकी साक्षी देते हैं। ऐसे महान् भावितात्मा 'तिन्नाणं तारयाणं, बुद्धाणं बोहयाणं और मुत्ताणं मोयगाणं' बनते हैं और इतिहास के पृष्ठों पर अमर रहकर चिरकाल तक संसार को अपनी प्रेरणा का प्रकाश देते रहते हैं। वह व्यक्ति अपने आप में तृप्त, आनन्दित एवं पूर्ण आत्मसुख से सन्तुष्ट, ज्ञान दर्शन से पूर्ण हो जाता है।

दुर्भाग्य से भौतिक प्रगति को ही चेतना की प्रगति समझा गया, जो कि चेतना की अधोगति थी, उसे ही आवश्यक और महत्वपूर्ण समझा गया।

आत्मा का स्वभाव सदैव ऊर्ध्वगति करने का है, किन्तु उस पर जब बौद्धिक, मानसिक आदि विकारों का बोझ अधिक डाल दिया जाता है, तब वह दब जाता है, अधोगति करने लगता है। चेतना की प्रगति का लक्षण यह है कि वह क्रमशः ऊर्ध्वगति करता है, स्वरूप-स्वभाव में रमण करता है, परभावों से, विभावों से दूर रहता है। ज्ञान-दर्शन-चारित्र्य के उत्कर्ष से आत्मा को सच्चिदानन्दमय बना लेता है।

### आत्मिक प्रगति में बाधक एवं अवरोधक कारण

आत्मिक प्रगति और भौतिक प्रगति का मार्ग, दृष्टि एवं पुरुषार्थ की दिशा भिन्न-भिन्न है। आत्मिक प्रगति करने के लिए सर्वप्रथम आन्तरिक और बाह्य अवरोधों को दूर करना आवश्यक है। पंचेन्द्रिय-विषय-वासनाओं, कषाय-कल्मषों एवं राग-द्वेष-मोह की उत्कटता के रहते व्यक्ति की आत्मिक प्रगति होनी कठिन है। ये ही आन्तरिक अवरोध हैं। जैन परिभाषा में जिन्हें आस्रव कहा जाता है, वे आत्मिक प्रगति में अवरोधक हैं। संक्षेप में, मिथ्यात्व, अविरति (हिंसादि पंच पाप) प्रमाद, कषाय और योग मन वचन काया की अशुभ प्रवृत्ति, ये पांच आस्रव के कारण हैं। इन्हीं का विस्तार होने से आत्मा कर्म-कल्मषों से भारी हो जाती है। जिनके मुख्य बीज हैं—राग और द्वेष। अज्ञान और मोह इनके प्रादुर्भूत होने में प्रधान कारण हैं। अज्ञान के कारण मनुष्य आत्मिक प्रगति के लिए उपयुक्त क्षेत्र, मार्ग, दृष्टि या पुरुषार्थ की दिशा का चयन एवं निर्णय नहीं कर पाता। फलतः अपनी भावना और क्षमता में सन्तुलन नहीं बना पाता। उसे श्रेय और प्रेय (पाप) का बोध नहीं होता। कहा भी है—

“अज्ञानी किं काही, किंचा नाही य सेय-पावण !”

बेचारा अज्ञानी मोहान्धकार से आवृत होने के कारण क्या पुरुषार्थ कर सकता है, अथवा श्रेय और पाप को कैसे जान सकता है? अज्ञान से आक्रान्त अदूरदर्शी व्यक्ति न तो अपने लक्ष्य को देख सकता है और न ही तदनुरूप मार्ग का चयन एवं कार्यपद्धति का निर्माण कर सकता है। मोह के कारण अहंकार, लोभ, एषणा आदि नाना विकार प्रादुर्भूत होते हैं, जो आत्मिक प्रगति के साधक के चरण की गति अवरुद्ध कर देते हैं। ये साधक की दृष्टि से बचकर बहुरूपिया बन जाते हैं और उसकी जड़ काटते रहते हैं। ये आत्मिक प्रगति के भयंकर शत्रु हैं। अभिमान, गर्व, अस्मिता, टम्भ अविनय, वाचालता, कठोरता, मिथ्या आकांक्षा, शेखी बघारना, अपर्न

प्रशंसा और प्रतिष्ठा का ढिढोरा पीटना, दूसरों को दबाना-सताना, क्रूरता, कठोरता, परदमन आदि अहंकार के ही विविध रूप हैं, जो अवसरानुकूल अपना रोल अदा करके आत्मिक प्रगति के अवरोधक बन जाते हैं, अहंकार मनुष्य को स्थगनशील एवं दीर्घसूत्री बना देता है।

अहं प्रधान व्यक्ति जरा-सी उन्नति के फूल हाथ में आते ही मदोन्मत्त बन जाता है, गर्ववश दूसरों पर रौब जमाने, दूसरों को दबाने और कठोर व्यवहार करने लग जाता है। उसकी भावनाएँ, स्थितियाँ, चालढाल आदि सब विपरीत हो जाती हैं। उसमें विनम्रता के बदले कठोरता और कर्कशता आ जाती है। अहंकारी व्यक्ति लोगों के सामने डींग हाँकता रहता है कि वह जब चाहेगा, तब उन्नति के शिखर पर जा पहुँचेगा। कार्य प्रारम्भ करने के बाद बढ़ता ही चला जाएगा, किन्तु बढ़ना तो दूर रहा, वह उठ कर खड़ा ही नहीं होता, न ही ऊपर चढ़ने के लिए क्रियाशील होता है। उत्तराध्ययन सूत्र की भाषा में—

**भणता अकरंता य बंध-मोक्ख-पइण्णिणो ।**

**वायावीरियमेत्तेण समासासेंति अप्पयं ॥**

“वे केवल कहते हैं, बन्धन से मुक्तिप्राप्त करने की बड़ी-बड़ी प्रतिज्ञा करते हैं, किन्तु वे करते कुछ नहीं, क्रियाशील नहीं होते। वाणी की वीरता से अपने आपको या अपनों को आश्वासन देते रहते हैं।”

ऐसी दशा में उनके जीवन के सारे अवसर, क्रिया करने के सारे मौके चले जाते हैं, एवं उन्नति की सभी सम्भावनाएँ समाप्त हो जाती हैं। अहंकार के सिवाय उसके पल्ले कुछ भी नहीं पड़ता।

**आत्मिक प्रगति के लिए पर्याप्तियाँ प्राप्त होने पर भी अवरोध क्यों ?**

मनुष्य गति ही ऐसी गति है, जिसमें मनुष्य को आत्मिक प्रगति के लिए १० प्राण और ६ पर्याप्तियाँ प्रायः मिलती हैं। श्रोत्रेन्द्रिय बल प्राण आदि पाँचों इन्द्रियबल प्राण, मन-वचन-काय बल प्राण, श्वासोच्छ्वास और आयुष्यबल प्राण, ये १० प्राण तथा आहार, शरीर (मानव-तन), इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा एवं मनःपर्याप्ति, ये ६ पर्याप्तियाँ प्रायः हर मानव को प्राप्त होती हैं। इतने सब साधन प्राप्त होते हुए भी मनुष्य की प्रगति में अवरोध क्यों खड़ा हो जाता है ? इसका सामान्य उत्तर यह है कि जैसे भौतिक जगत में वायु का दबाव गति का अवरोध करता है वैसे ही आत्मिक जगत में आन्तरिक दुर्बलता अर्थात् मनुष्यों के अपने दोष-

दुर्गुण ही अवरोध उत्पन्न करते हैं। आत्म-प्रगति में बाधक एवं अवरोधक तत्व तो अधिकतर स्वयं उत्पन्न किये जाते हैं। इन अवरोधी बलों को बुद्धि, परिश्रम, समय, विश्वास और मनोयोग लगाकर यदि बड़ी मात्रा में एकत्रित एवं प्रयुक्त न किया जाए तो आत्मिक प्रगति-पथ पर व्यक्ति अग्रसर और गतिमान होने लगेगा। यदि पतनोन्मुख पापकर्म बन्धक मन-वचन-काया की निम्नगामी प्रवृत्तियों से दूर एवं उदासीन रहा जाए तो आत्मिक प्रगति क्रम का लाभ उठाया जा सकता है। दुर्भाग्य से आज उपाजर्न विधायक सदगुणों का नहीं, विनाशक तत्वों का किया जाता है। वे ही मानव की आत्मिक प्रगति में ब्रेक का काम करते हैं।

जैसे भौतिक जगत का नियम है कि हर वस्तु को पृथ्वी की गुरुत्वाकर्षण शक्ति अपनी ओर खींचती है, जिससे वह ऊपर से नीचे की ओर गिरती है, जबकि आत्मिक जगत का यह नियम है कि परम-आत्मा प्रत्येक आत्मा को अपनी ओर खींचता है, जिससे वह नीचे से ऊपर उठती और आगे बढ़ सकती है। अगर मनुष्य आत्मा की ऊर्ध्वगतिशीलता को अपना ले, और उस पर से दुर्गुणों, कुसंस्कारों और कषायादि विकारों का लेप हटा ले तथा आन्तरिक दुर्बलताओं को दूर कर दे, तो कोई कारण नहीं कि वह द्रुतगति से आत्मिक प्रगति के उच्च शिखर पर न पहुँच सके।

विपरीत परिस्थितियाँ, साधनों की कमी, साथियों का सहयोग तथा प्रतिरोध आदि मिलकर आत्मिक प्रगति में बाधक बन जाते हैं, एकान्ततः यह सोचना भ्रांतिमूलक है। सबसे बड़ी कठिनाई तो अपने गुण, कर्म, स्वभाव की, यानी व्यक्तित्व की दुर्बलताएँ या त्रुटियाँ हैं। अभीष्ट पुरुषार्थ न जुटाना, तनिक-सी विघ्न बाधा या कठिनाई आते ही हिम्मत हार बैठना, एक रास्ता रुक जाने पर दूसरा न तलाशना, साथियों पर झल्लाना, सहृदय शुभ चिन्तक हितैषी मित्रों के साथ कटु व्यवहार, दूसरों के दोष ढूँढना और उनकी कटु समीक्षा—निन्दा-बदनामी करना, जैसे व्यक्तिगत दोष-दौर्बल्य ही आत्मिक प्रगति में सबसे अधिक बाधक हैं। अपने प्रति पक्षपात और दूसरों के प्रति कठोरता-कड़ाई की नीति एक प्रकार की आत्मवंचना है, जो प्रगति को ठप्प कर देती है।

**आत्मिक प्रगति में अवरोधक तीन दुःप्रवृत्तियाँ**

आत्मिक प्रगति के पथ में अवरोध उत्पन्न करने वाली दुःप्रवृत्तियों में तीन मुख्य हैं—कामक्षणा, वित्तक्षणा और लोकक्षणा। वासना, कामुकता

वृष्णा और अहंता की प्रवृत्तियाँ प्रबल होने पर इन एषणाओं के रूप में परिलक्षित होती हैं। इन्हें क्रमशः ताड़का, सूर्पणखा एवं सुरसा की उपमा दी जाती है। कामुकता की वृत्ति ही कामैषणा को जन्म देती है। यौनाचार की कल्पना और उसकी क्रियान्विति में उलझा हुआ मन-मस्तिष्क अपनी महत्वपूर्ण क्षमता को ऐसे जाल में फंसा देता है, जिसमें पाना तो कण भर है, किन्तु गँवाना मन भर है। अतः यौनाचार लिप्सा जीवन-रस को—आत्मा के ओजस, तेजस् एवं वर्चस् को क्षणिक आवेश एवं उन्माद के वशीभूत होकर निचोड़ देती है। फिर जब आत्मा में खोखलापन बच जाता है तो उसके बल पर आत्मिक प्रगति कैसे हो सकती है? कामैषणा को पुत्रैषणा का नाम देकर लोग अपने आत्मिक गुणों का अपव्यय करते हैं, आत्मशक्ति के स्रोत का ह्लास करते हैं। अतः कामैषणा प्रथम अवरोध है।

दूसरा अवरोध है—वित्तैषणा। येन-केन-प्रकारेण धन कमाने की धुन मनुष्य को आत्म-चिन्तन आत्म-निरीक्षण आदि से हटा देती है। फिर अनुचित तरीकों से कमाए हुए धन का उपयोग जब मनुष्य विलासिता में, दुर्व्यसनों में, उद्धत प्रदर्शनों में, अथवा फिजूलखर्ची में करता है, तब न तो भौतिक प्रगति होती है और न ही आत्मिक प्रगति। अमीरी का रहन-सहन, दिखावा, दम्भ और भड़कीला जीवन आत्मा को उठाता नहीं, गिराता है। ऐसे लोग अपनी सन्तान को जाने-अनजाने परावलम्बी, उद्धत, अहकारी, आलसी एवं दुर्व्यसनी बनाते हैं।

तीसरा अवरोध है—लोकैषणा। धन के क्षेत्र में जितनी आपा-धापी, छीना-झपटी, लुट-खसोट होती है, उससे भी अधिक आपा-धापी होती है, लोकसेवा के क्षेत्र में। मनुष्य की लोकैषणा उसे लोभो, प्रतिष्ठा और प्रशंसा का भूखा, आडम्बरशील एवं प्रदर्शन-प्रिय बना देती है। अनावश्यक ठाठ-बाट, प्रदर्शन आदि की विडम्बना के जंजाल में जितनी शक्ति लगाई जाती है, अगर उससे चौथाई शक्ति भी चुपचाप निःस्वार्थ भाव से लोकसेवा में लगाई जाए तो मनुष्य आत्मा की शक्तियों को शीघ्र विकसित करके उन्नति के शिखर पर पहुँच सकता है। लोकैषणाग्रस्त व्यक्ति यश, सम्मान, प्रशंसा और प्रसिद्धि के चक्कर में पड़ कर गुणी लोगों को, सच्चे लोकसेवकों और साधकों को बदनाम करने, नीचा दिखाने और मिथ्या आलोचना करने में लग जाते हैं। ऐसे व्यक्ति स्टेज-कौशल, वाचालता, संस्थावाजी एवं नेता-गीरी के सहारे शीघ्र प्रसिद्धि पाने की धुन में रहते हैं। लोकैषणा-त्त्वर



व्यक्ति उच्च साधक भी पदलिप्सा, अधिकारलिप्सा, प्रसिद्धिलिप्सा एवं प्रशंसालिप्सा की चाण्डाल-चौकड़ी के फेर में पड़ जाते हैं। यह सार्वजनिक एवं आध्यात्मिक जीवन के लिए अभिशाप एवं सेवाक्षेत्र को कलुषित करने वाली है।

इसीलिए भगवान ने आत्मिक उन्नति के साधकों को सावधान करते हुए कहा है—

‘न लोगस्सेसणं चरे’

‘साधक लोकैषणा के चक्कर में न पड़े।’

जो साधक या लोकसेवक निःस्वार्थ या निःस्पृह भाव से लोकसेवा करता है, वह जनता को सम्यग्ज्ञान-सम्यग्दर्शन-सम्यक्चारित्र के पथ पर चलने की प्रेरणा-शिक्षणा देता है, उसकी प्रसिद्धि और प्रशंसा स्वतः ही होती है, लोग उसे पूजनीय-वन्दनीय समझते हैं। उसे अपने जीवन में सहज ही आनन्द-उल्लास, स्फूर्ति और तप-त्याग करने का आत्मबल प्राप्त होता है।

अतः कामैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा को हेय एवं आत्म-विकास में बाधक समझकर इनका परित्याग करना चाहिए।

**प्रगति के लिए प्रबल आकांक्षा और पुरुषार्थ आवश्यक**

अतः आत्मिक प्रगति के लिए पूर्वोक्त अवरोधक तत्वों से दूर रहकर चलना आवश्यक है। परिस्थितियों की प्रतिकूलता और साधनों की कमी से हताश नहीं होना चाहिए, क्योंकि ये दोनों चीजें प्रगति में बाधक या अवरोधक नहीं हैं, बशर्ते कि व्यक्ति में प्रबल आकांक्षा हो और अपने लक्ष्य के अनुकूल पुरुषार्थ हो। जिसके पास ये दो साधन हैं, उसकी आत्मिक उन्नति को कोई भी रोक नहीं सकता।

यों तो उन्नति की आकांक्षा प्रायः सभी में होती है, परन्तु लालसा का रूप नहीं होनी चाहिए। लालसा तो एक लहर के समान है, जो आती है, और बाद में विलीन हो जाती है। उसकी आकांक्षा एक व्रत या संकल्प के समान सुदृढ़ और अनन्य होनी चाहिए। आज विद्वान बनने की आकांक्षा है, कल समाजसेवा करने की, कभी एकान्त सेवन की और कभी राजनेता बनने की, इस प्रकार की परिवर्तित होने वाली तरंगों या विभिन्न वृत्तियाँ आत्मिक प्रगति के लिए घातक हैं। आत्मिक प्रगति की साधना के लिए सर्व-

प्रथम ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तपरूप मोक्ष की आराधना आवश्यक है, इन चारों की साधना में सहायक क्षमादि दशविध उत्तम धर्म, महाव्रत-अणुव्रत, समिति, गुप्ति, कषायविजय, परीषहजय, इन्द्रियदमन आदि का आश्रय लिया जा सकता है। निष्कर्ष यह है कि उसे मोक्षरूप लक्ष्य की आकांक्षा के प्रति समर्पित होकर तदनुकूल सतत निराबाध प्रबल पुष्पार्थ करना चाहिए। तभी आत्मिक प्रगति में यथेष्ट सफलता के दर्शन होंगे।



## आत्मबल : सर्वतोमुखी सामर्थ्य का मूल

### विभिन्न बलों से लाभ

मनुष्य में अनेक बल निहित हैं। शरीर बल, बुद्धिबल, धनबल, समूह बल, साधन बल आदि। इन बलों के आधार पर साधारण व्यक्ति भी विशिष्ट लाभ प्राप्त कर लेता है। शरीरबल से श्रम करके कमाने, खाने और पचाने का लाभ मिलता है। बुद्धिबल के आधार पर मनुष्य अधिक जिम्मेदारी के कार्य संभाल सकता है तथा श्रेय साधन पा सकता है। समूह बल के आधार पर साधनहीन लोग भी मिल-जुलकर बहुत-से विशिष्ट कार्य कर गुजरते हैं। संघबल इसका एक ज्वलन्त उदाहरण है। साधनबल के आधार पर अकुशल व्यक्ति भी बुद्धिमानों और अनुभवियों से अधिक सफलता प्राप्त करते देखे जाते हैं। सम्यग्दृष्टिविहीन और तपोबल के आधार पर मनुष्य लम्बी तपस्या करके दूसरों को हटा या गिरा सकता है, दूसरों को हानि पहुँचाने या पद भ्रष्ट करने में सफल हो सकता है, दूसरों को नीचा दिखाने या बदनाम करने में भी सफलता प्राप्त कर सकता है। ये सारे चमत्कार शक्ति के हैं।

### आत्म-बल के अभाव में ये सारे बल प्रभावहीन

विभिन्न बलों की साधना विविध क्षेत्रों में अपने-अपने ढंग से की जाती है। भौतिक प्रगति और सुख सुविधा के लिए उपर्युक्त बलों का उपयोग किया जाता है। शक्ति के बल पर ही प्रयत्नपूर्वक साधन जुटाए जाते हैं और उनके सहारे सुख सुविधा पाने की अभिलाषा पूर्ण करने का प्रयास किया जाता है। परन्तु आश्चर्य यह है कि साधनों का महत्व मानने तथा उन्हें प्राप्त करके अभीष्ट कार्य में सफलता पाने की बात भौतिक स्तर तक ही सीमित रखी जाती है। केवल शरीर की बलिष्ठता और साधन संपन्नता

जैसी क्षमताएँ प्राप्त करना ही पर्याप्त समझा जाता है। किन्तु यह सब उथली सतह पर किया जाता है। शरीर की क्रिया और मन की सुखेच्छा का ही इसमें समावेश रहता है। उच्च स्तरीय भाव, अध्यवसाय, आत्म-उत्थान, कर्म, आत्मबल, वीर्य और आत्म-पराक्रम (पुरुषार्थ), साहस आदि का समावेश होता तो अवश्य ही यह प्रयत्न आकाश में स्थित सूर्य-चन्द्र के समान आत्मा को चमकाता; आत्मा का यह अद्भुत चमत्कार है।

ऊपरी सतह पर जो हलचलें होती हैं, वे अपने प्रयत्न और साधनों के अरूप स्वल्प परिणाम तो उत्पन्न करती हैं, किन्तु विशिष्ट और आत्मानुलक्ष्य परिणाम उत्पन्न नहीं कर पातीं। मोटर का इंजिन खराब हो, पेट्रोल की टंकी भी खाली हो तो उस मोटर को धक्का देकर कुछ दूर तक ले जाया जा सकता है, किन्तु उस मोटर से अभीष्ट मंजिल तक नहीं पहुँचा जा सकता। उस मोटर से तीव्रगति से अभीष्ट मंजिल का लाभ तभी मिल सकता है, जबकि उसका इंजिन सही हो और पेट्रोल भी पर्याप्त हो। इसी प्रकार शरीर और मन के पूर्वोक्त समन्वित प्रयत्नों से जीवन की गाड़ी को कुछ सीमा तक धकेला जा सकता है, परन्तु चरम लक्ष्य तक द्रुतगति से पहुँचने के लिए तो गहन अन्तराल का दृढ़ आत्मबल होना आवश्यक है। दृढ़ आत्मबल होगा, वहाँ तनबल, धनबल, साधनबल आदि भौतिक बल के अभाव में भी सफलता मिलेगी। दृढ़ आत्मबल के साथ धैर्य, साहस, उत्साह, अदम्य संकल्प, आत्मविश्वास आदि तो स्वतः आ जुटते हैं। ये सभी उच्च स्तरीय तत्व शरीर और मन के क्षेत्र से ऊपर के हैं। वे अन्तःकरण की गहन गुफा में भरे हैं, वहीं से उभर कर बाहर आते हैं। यदि अन्तःशक्ति का वह पावर हाउस प्रसुप्त स्थिति में पड़ा हो तो प्रत्येक प्रयास उथले स्तर का रहेगा और उसका परिणाम भी स्वल्प ही निकलेगा।

**बाह्ययुद्ध की तरह आन्तरिक युद्ध में भी आत्मबली विजयी**

यह एक जाना माना तथ्य है कि युद्ध के मैदान में लड़ने के लिए पैनी तलवार काम देती है और सिर भी उसी से कटते हैं। परन्तु इतने में ही युद्धकौशल मान बैठना अज्ञानता होगी। तलवार चलाने के लिए योद्धा की कलाई की मजबूती और मस्तिष्क की अभ्यस्त क्रिया कुशलता भी आवश्यक होती है। अगर ये दोनों चीजें नहीं होंगी तो कीमती और पैनी तलवार भी कुछ काम न कर सकेगी। कमजोर भुजाएँ न तो तलवार का भार सह सकेंगी और न ही यथास्थान प्रहार कर सकेंगी। इतना ही नहीं,

यदि खड्ग चलाने की कुशलता और उचित सूझबूझ से अभ्यस्त मस्तिष्क नहीं है, तो भी वह शस्त्र निरर्थक साबित होगा। साथ ही एक महत्वपूर्ण तथ्य और विचारणीय है कि यदि उक्त व्यक्ति में योद्धा के योग्य साहस, शौर्य, धैर्य एवं आत्मविश्वास नहीं है, उसके अन्तःकरण में भीरुता और उदासीनता है, देशभक्ति नहीं है, तो ऐसी आन्तरिक दुर्बलता के कारण तलवार की अच्छाई और कलाई की मजबूती भी उसके लिए कारगर सिद्ध न होगी। अन्तर् में घबराया हुआ, कांपता, डरता और लड़खड़ाता सैनिक युद्ध में कभी विजयी नहीं हो सकता।

बाह्ययुद्ध में विजय के लिए साहस, शौर्य, आत्मविश्वास आदि आत्मबल के निकट सहयोगी तत्व आवश्यक हैं, इसी प्रकार आन्तरिक युद्ध के लिए तो उससे भी अधिक आत्मबल एवं उसके सहयोगी तत्वों का होना आवश्यक है। इनके बिना काम, क्रोध, लोभ, मोह, मत्सर, दम्भ, ईर्ष्या, द्वेष, वैर-विरोध, आसक्ति, ममत्त्व आदि आन्तरिक शत्रुओं से जूझना और तप, जप, सुध्यान, महाव्रत, समिति, गुप्ति, समत्व, क्षमा आदि शस्त्रों से उन विचारों पर प्रहार करना और उन्हें परास्त करना अतीव कठिनतर होगा। उन विकार रिपुओं पर विजय पाना तो और भी दुष्कर होगा।

निष्कर्ष यह है कि तनबल, साधनबल आदि होते हुए भी व्यक्ति यदि आत्मबलहीन है, अपने विकारों से जूझने में डरता-कांपता है, घबराता है, साधनों का समुचित उपयोग करने में उसका मस्तिष्क अभ्यस्त नहीं है, उसे अपने पर विश्वास नहीं है, संशयी और संकोची है, अथवा अन्य-मनस्कता, उदासी, निष्क्रियता, प्रमाद, आलस्य और दीर्घसूत्रता बनकर आन्तरिक दुर्बलता छापी है, तो ऐसा व्यक्ति बहुत कुछ कर सकने योग्य होते हुए भी कुछ नहीं कर सकेगा। उसकी बहुमूल्य जीवन सम्पदा पूर्वोक्त आन्तरिक प्रखरता के अभाव में यों ही नष्ट हो जाएगी।

### समस्त शक्तियों का स्रोत आत्मबल

वस्तुतः मनुष्य की सभी शक्तियों का स्रोत—पावर हाउस—आत्मबल है। वास्तविक बलवान वही है, जिसकी अन्तरात्मा बलिष्ठ है। समर्थता और दुर्बलता का यथार्थ मूल्यांकन इसी आन्तरिक सबलता और निर्बलता को देख कर किया जाता है। आत्मबल के बिना अन्य सब बल व्यर्थ हैं, बल्कि अनर्थकर हैं। हिन्दी के महान कवि सूरदास ने अपने एक भजन में इस तथ्य को उजागर करते हुए कहा है—

“सुने री मैंने निर्बल के बल । म ।

आत्मबल, तपबल और बाहुबल, चौथो है बल दाम ।  
 'सूर' किशोर कृपा ते सब बल, हारे को हरिताम ॥”

इसका भावार्थ यही है कि अन्य बलों के साथ यदि परमात्मबल—आत्मबल नहीं है, तो वह निर्बल है। उसके शरीरबल, बुद्धिबल, तपोबल, बाहुबल या धनबल आदि आत्मबल के अभाव में निरर्थक हैं। इतिहास साक्षी है कि आश्चर्य चकित कर देने वाली अति महत्वपूर्ण सफलताएँ न तो तन-मन-धन आदि साधनों के सहारे प्राप्त हुई हैं और न ही बुद्धि-कौशल से। वे प्राप्त हुई हैं आत्मबल से।

महात्मा गाँधीजी शरीर से बहुत दुर्बल थे, उनका वजन केवल ६६ पौंड था। शारीरिक दृष्टि से उनका सामर्थ्य उपहासास्पद मालूम होता था। उन्हें कोई भी किशोर दौड़ने या लड़ने की चुनौती दे सकता था। किन्तु जिन्होंने उन्हें भारतीय स्वातंत्र्य संग्राम के अजेय योद्धा के रूप में देखा है, वे जानते हैं कि उनमें कितना आत्मबल था, कितनी कार्यक्षमता, सूझबूझ, संकल्प शक्ति और सामर्थ्य थी। उनका व्यक्तित्व हिमालय से भी उन्नत और समुद्र से भी विस्तृत एवं गम्भीर था। उनके सुदृढ़ चरित्र का स्रोत उनका सुदृढ़ आत्मबल ही था। उनकी प्रचण्ड आत्मशक्ति की टक्कर ब्रिटिश सरकार से हुई और इस कुशती में वे ही विजयी हुए। धन-बल, तनबल और साधनबल से भी यह युद्ध जीतना कठिन था। बड़े से बड़े पहलवान के लिए भी इतनी बड़ी कुशती लड़ना कठिन था। किन्तु गाँधीजी के आत्मबल ने भारतीय स्वतन्त्रता-संग्राम में जो भूमिका अदा की, उससे स्पष्ट है कि आत्मबल संसार के सब बलों का सरदार है। इससे बढ़कर कोई बल इस संसार में नहीं है।

जैन सिद्धान्त की दृष्टि से देखें तो भी ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य, इन चारों में से प्रत्येक आत्मा भी अनन्त-अनन्त शक्ति से सम्पन्न है। अर्हंत, केवली, तीर्थंकर एवं सिद्ध परमात्मा को आत्मा के ये अनन्त चतुष्टय प्राप्त होते हैं। अनन्त आत्मिक बल-वीर्य से सम्पन्न होने पर तो आत्मा में इतनी सामर्थ्य हो जाती है कि वह चाहे तो सारे ब्रह्माण्ड को हिला सकता है। वैसे ही उसे शरीर वज्र-ऋषभनाराव-संहनन एवं सम चतुरस्र-संस्थान से युक्त मिलता है। और तो और आत्मिक शक्ति से सम्पन्न मुनि चाहे तो पलाकलब्धि से चक्रवर्ती की समग्र सेना को चर कर सकता है। वैक्रियादि

समुद्घात से भी अपने शरीर को समग्र जम्बूद्वीपव्यापी बना सकता है। सारे जगत से अकेला अहिंसक प्रतिकार द्वारा जूझ कर विजयी बन सकता है। आत्मबल सम्पन्न व्यक्ति के सामने चाहे जितनी भयंकर तोपें, मशीन-गनों, प्रचण्ड भौतिक शक्ति सम्पन्न सेना खड़ी हों, वह निर्भय होकर अकेला डट जाता है और भौतिक बल सम्पन्न व्यक्ति को झुका देता है। आत्मबल से सम्पन्न व्यक्ति प्रत्येक अवरोध, सकट और प्रतिकूल परिस्थिति से जूझते हुए बिना थके, बिना रुके प्रयत्नरत रहता है। जितने भी महत्वपूर्ण कार्य हैं, उनकी सफलता पूर्णतया उसी आत्मबल पर निर्भर रहती है। आन्तरिक प्रखरता से ही शक्ति का उद्गम स्रोत उमड़ता है। शरीर और मन-मस्तिष्क में तो उसका केवल प्रवाह चलता है। व्यक्तिगत जीवन की गरिमा भी उस आत्मबल पर निर्भर है, जिसमें आदर्श और सत्संकल्प का समान रूप से समन्वय होता है। सदुद्देश्य में भाव भरी दृढ़ श्रद्धा और कर्तव्य-पालन में प्रचण्डनिष्ठा का समन्वय होने से उस आत्मबल का प्रादुर्भाव होता है। उसी के बल पर व्यक्ति लोभ और क्षोभ, द्रोह और मोह, द्वेष और रोष, भय और दुर्जय के अवरोधों को एक झटके में दूर हटा देता है, और उच्च-स्तरीय आदर्शों को स्थापित कर पाता है।

अपने अनुकरणीय आदर्शों को छोड़ जाने वाले या महत्वपूर्ण कार्यों को कर गुजरने वाले व्यक्तियों के व्यक्तित्व का विश्लेषण किया जाए तो उन सभी में आत्मबल की प्रखरता ही मालूम होगी।

लौकिक जीवन में यशस्वी और जननायक बनने की आकांक्षा भी आत्मबल के बिना पूर्ण नहीं हो सकती। समाजसेवा की परमार्थ-परायणता गहरी और उच्चस्तरीय तभी होगी, जब व्यक्ति में आत्मबल होगा।

ये लोग आत्मबल प्राप्त नहीं कर सकते

तिकड़मबाजी से कुछ समय के लिए सस्ती वाहवाही की लूट हो सकती है, परन्तु उतने भर से यश-कीर्ति और प्रतिष्ठा चिरस्थायी नहीं हो सकती, क्योंकि उसके पीछे आत्मशक्ति नहीं है। धूर्तता के बल पर समेटी हुई प्रशंसा और प्रतिष्ठा में स्थायित्व नहीं होता।

आतंक, अन्याय-अनीति, अत्याचार और धूर्तता का प्रश्रय बेकर आतंकवादी, दुष्ट, दुरात्मा, धूर्त एवं अत्याचारी भी बलिष्ठता का ढिंढोरा पीटते देखे जाते हैं। कुछ दुर्बल प्रकृति के लोग उनकी उद्दण्डता से डरते, घबराते और नतमस्तक होते देखे गए हैं। परन्तु इस प्रकार की उद्दण्डता

और दुष्टता को आत्म-शक्ति का रूप कतई नहीं माना जा सकता। ऐसे अनैतिक आतंक में यत्किञ्चित् सामर्थ्य भी है तो वह विनाश का है, सृजन का बिल्कुल नहीं। सृजन का तत्व जिसमें हो, वह व्यक्ति आत्मबल की उपलब्धि प्राप्त कर सकता है। दूसरों को हानि पहुँचाने और अनैतिक ढंग से आक्रमण करने वाले का बल उसी के लिए अभिशाप सिद्ध होता है, पापकर्मबन्ध के फलस्वरूप वह अनेकानेक जन्मों तक दुःखों की भट्टी में जलता रहता है, उसे उन कुगतियों और अशुभ योनियों में आत्मस्वरूप एवं मोक्षमार्ग का सदबोध नहीं मिलता। ध्वंस को शस्त्र बनाकर चलने वाले का जीवन-दीप सदैव अस्थिर, भयाक्रान्त और व्याकुल रहता है, आत्मबल तो उसमें नाममात्र को नहीं है। माचिस की तीली अग्निकाण्ड तो रच सकती है, परन्तु उसी आग में जलकर उसे भी समाप्त होना पड़ता है। पागल कुत्ता कई प्राणियों को काट सकता है, परन्तु खैर उसकी भी नहीं है। दुष्टता के विरुद्ध उभरे आक्रोश रूप प्रकृति-दण्ड से उसे मृत्यु-मुख में जाना ही पड़ता है, जबकि उसके द्वारा काटे हुए लोग तो दवा-उपचार से ठीक भी हो सकते हैं। यह निःसंदेह समझ लेना चाहिए कि जो लोग दुष्टता के सहारे बलिष्ठ बनने का प्रयत्न करते हैं, उनका वह अवलम्बन न तो आसान होता है और न ही सफल। दुष्टता अपनाते से सम्मान और सहयोग दोनों से वे वंचित हो जाते हैं तथा अपने चारों ओर घृणा, तिरस्कार और धिक्कार का ताना-बाना बुन लेते हैं। अन्त में, वे मित्रविहीन होते चले जाते हैं। अतः कुटिलता का आश्रय लेकर दूसरों को दबाने-सताने का ध्वंसात्मक सामर्थ्य आत्मशक्ति से कोसों दूर है। जिसमें सृजन का सामर्थ्य है, उसी की अन्तरात्मा बलवान है।

### आत्मबल सम्पन्न व्यक्ति का भगीरथ पराक्रम

आत्मबल के धनी व्यक्ति के लिए शास्त्रकार कहते हैं—

“अप्पाणमेव जुञ्जाहि, किं तं जुञ्जेण बज्जओ।”<sup>1</sup>

‘हे साधक ! यदि तुझे आत्मबल सम्पन्न बनना है तो अपनी आत्मा से अर्थात्—आत्मा में संचित कुसंस्कारों, दुष्कर्मों, विषय वासनाओं, राग-द्वेष, मोह, घृणा, मत्सर, काम तथा क्रोधादि कपाय रूप विकारों से लड़, बाह्य शत्रुओं से लड़ने से क्या मतलब ?’

१ उत्तराखण्डन सूत्र अ. ६ गा. ३५



वस्तुतः अपने संचित कुसंस्कारों एवं दुष्कर्मों से जूझना और उन्हें उखाड़ फेंकने का प्रबल पुरुषार्थ आत्मबल के बिना नहीं हो सकता। दूसरों से लड़ने की अपेक्षा अपने दुरात्मा बने हुए आत्मा से लड़ना तथा आन्तरिक शत्रुओं को परास्त करना महादुष्कर है। आत्मालोचना, आत्मनिन्दा, गर्हा, आत्मनिरीक्षण, अनुप्रेक्षण एवं आत्मशोधन के मोर्चे पर लड़ना और प्रति-क्षण सावधान रहकर विजय प्राप्त करना अतीव कठिन है। ऐसी लड़ाई प्रचण्ड आत्मबल के सहारे ही लड़ी जा सकती है।

**मृगापुत्र का संकल्प : आत्मबल का परिचायक**

मृगापुत्र ने जब मुनि दीक्षा लेने का संकल्प किया, तब उसके पिता ने उसे समझाया कि “पंच महाव्रतों का पालन करना, जीते जी लोहे के चने चवाना है। नंगे पैर अप्रतिबद्ध विहार करना, निर्दोष कपोतवृत्ति से भिक्षा करके निर्वाह करना, केशलोच करना, बीमार होने पर उचित औषधोपचार न मिलने का कष्ट तथा वाईस प्रकार के परीषह एवं नाना उपसर्ग सहना अत्यन्त दुष्कर है, इसलिए तुम गृहस्थाश्रम में ही रहकर अपना जीवन सुख-पूर्वक बिताओ।”

इस पर मृगापुत्र ने जो उत्तर दिया, वह उसके प्रबल आत्मबल का परिचायक है। उसने पिता से कहा कि नारक के भव में नरक में मैंने जितने भयंकर कष्ट उठाए हैं, मरणान्तक पीड़ा सही है, घोर यातनाएँ झेली हैं। उनकी अपेक्षा महाव्रत-पालन, केशलोच आदि के कष्ट तो कुछ भी नहीं हैं। जन्म-मरण के भयंकर दुःखों के समक्ष ये दुःख तो उनके पासंग के बराबर भी नहीं हैं। अतः मैं इन दुःखों को सहर्ष सहन करूँगा, आत्म-ज्योति जगाऊँगा, मुक्ति के प्रशस्त आग्नेय पथ पर मैं हंसते-हंसते चलूँगा। मैं इन जन्म-मरण के दुःखों और उनके स्रोत अशुभ कर्मों से अत्यन्त घबरा उठा हूँ। अब इस भव में उनका अन्त करना ही मेरा लक्ष्य है, उसके लिए चाहे जितने कष्ट सहने पड़ें, मैं धैर्यपूर्वक सहूँगा। जंगल में स्वच्छन्द विचरण करने वाले मृग को बीमार पड़ने पर कौन औषध देता है, कौन आहार-पानी देता है, प्रकृति पर निर्भर रहकर वह स्वतः ही स्वस्थ हो जाता है, स्वयं आहार पानी लेने लगता है। इसी प्रकार मैं भी मृगचर्या करूँगा।’

**आत्मबल सम्पन्न व्यक्ति का जीवन प्रतिलोतगामी**

यह हैं आत्मबल के स्वर ! जो अपने स्वार्थों, इच्छाओं और आशा-

तृष्णा का दमन कर सकता है, अंकुश लगा सकता है तथा मितव्ययी एवं यथालाभ-संतोषी जीवन क्रम अपना सकता है, अहंलिप्सा, आत्मप्रशंसा एवं प्रतिष्ठा को तिलांजलि दे सकता है तथा दूसरों के हित एवं कल्याण के लिए स्वयं को बादल की तरह निचोड़ सकता है, किसी के कुम्हलाये हुए पौधे को नवजीवन दे सकने में समर्थ हो सकता है, वही आत्मबल का धनी है। लौकिक लोगों का जीवन प्रवाह रूढ़ियों में, कुप्रथाओं, कुरीतियों और कुटेबों की दिशा में बहता है, किन्तु आत्मबली साधक आत्मनिष्ठ होकर ठीक उससे विपरीत दिशा में अपनी जीवन नैया को खेता हुआ चला जाता है। वह अनुश्रोतगामी न होकर प्रतिश्रोतगामी होता है। हाथी जैसे विशालकाय प्राणी जिस प्रकार नदी-प्रवाह में बहते चले जाते हैं, इसी प्रकार बड़े-बड़े सत्ताधारी, धनाढ्य, उच्चपदस्थ, व्यक्ति तक प्रवाह की दिशा में बहते चलते हैं। मछलो की तरह प्रवाह से विपरीत दिशा में चलने की साहसिकता निःसन्देह असाधारण होती है, वह आत्मबली में ही हो सकती है। परमार्थ-प्रयोजनों में सच्चे मन से लग सकना उसी के लिए सम्भव हो सकता है, जो बाह्य जीवन में श्रेय एवं सहयोग पाने के लिए स्वयं को गलाता है, स्वयं कष्ट सह कर दूसरों को जिलाता है। समाज को सही दिशा में मोड़ने के लिए जो अद्भुत शौर्य और साहस प्रदर्शित कर सकते हैं, युग की समस्याओं को सुलझाते हैं ऐसे ऐतिहासिक महामानव अपनी प्रतिकूल परिस्थिति को मनःस्थिति से अनुकूल बना पाते हैं, वे ही आत्मशक्ति-सम्पन्न पुरुष हैं। आदर्शवाद के मार्ग पर चलना लोकमान्यता के अनुसार घाटे का काम है। भृगापुत्र के पिता के समान तथाकथित स्वजन सम्बन्धी एक स्वर से स्व-पर-कल्याण, आत्मनिष्ठा, समाजसेवा, परोपकार-परायणता, तप-त्याग या संयम की ओर कदम बढ़ाने से चित्र-विचित्र तर्क-वितर्क गढ़ कर रोकते हैं। शत्रुओं का प्रतिरोध सरल है, किन्तु स्वजनों के आग्रह को सुना-अनसुना करने वाली एकाग्र आदर्श-निष्ठा का परिचय दे सकना प्रचण्ड आत्मबली का कार्य है। इस अग्नि-परीक्षा में सफलता पाना आत्मबल के बिना सम्भव नहीं है। आन्तरिक प्रलोभनों और भ्रान्त करने वाली विभीषिकाओं तथा परिजनों के आग्रहों को ठुकरा कर प्रचण्ड आदर्शवाद या स्वनिर्धारित लक्ष्य के प्रति गमन आत्मबल के आश्रय से ही हो सकता है। स्वजनों एवं स्नेहीजनों की मोह शृंखला को तोड़ डालना आत्मबली का ही कार्य है। अपने व्यक्तित्व का परिष्कार अपने प्रति कठोर और दूसरों के प्रति कोमल बनने, निर्मोहत्व-निर्ममत्व-

पूर्वक अपने दोषों-दुर्गुणों को खदेड़ देना, तप-त्याग एवं संयम द्वारा आत्म-शुद्धि करना, तभी सम्भव है, जब व्यक्ति अटूट धैर्य और अदम्य साहस तथा उत्कृष्टता के प्रति असीम श्रद्धा रख कर चले। प्रतिदिन के आँधी-तूफानों से तथा उत्ताल ज्वार-भाटों से आत्मनिष्ठा के दीपक को न बुझने देकर अपनी जीवन नैया को सकुशल खेकर अपने गन्तव्य तक ले जाने की तरह यह अत्यन्त दुष्कर है। यह भवबन्धनों की लोह-शृंखला को अपने मजबूत इरादों, बुलंद होंसलों एवं प्रबल साहस से काटने जैसी कठिन प्रक्रिया है। मानवीय उत्कृष्टता को प्राप्त करने की ललक तो बहुत से लोगों में होती है, परन्तु उसे पूर्ण कर पाने की सफलता तो आत्मबल-संपन्न धीर-वीर को ही मिलती है।

**आत्मिक प्रगति के लिए परम्परा से आत्मबल आवश्यक**

जिस प्रकार भौतिक बलों से भौतिक साधन मिलते हैं, उसी प्रकार आत्मिक बल से आत्मिक प्रगति के साधन मिलते हैं। संसार में लोकबन्ध एवं विश्वपूज्य व आत्मवादी साधक आत्मबल के सहारे से ही बनते हैं, बने हैं। प्रायः प्रत्येक क्षेत्र में यह सिद्धान्त लागू होता है कि बल से साधन और साधन से सफलता मिलती है।

आत्मिक प्रगति के लिए भी आत्मबल सम्पादित करना और आत्म-बल से साधन उपलब्ध करना आवश्यक है। उसके सहारे से देवों को भी झुकाया जा सकता है। और स्वतः सहयोग के लिए भी बाध्य किया जा सकता है। दशैकालिक सूत्र में इसी तथ्य को अनाकृत किया गया है—

“देवा वि तं नमंसन्ति, जस्स धम्मे सया मणो ।”

“जिसका मन सदैव आत्म धर्म में लीन रहता है, उसे देवता भी नमन करते हैं ।”

यदि आत्मबल एवं आत्मधर्म में निष्ठा रखने के बदले देवताओं के आगे गिड़गिड़ाने और उन्हें रिझाने, फुसलाने की नीति अपनाई जाए तो न तो देवों को झुकाया-मनाया जा सकता है और न ही आत्मिक क्षेत्र की महान उपलब्धियाँ अर्जित की जा सकती हैं। महा-मानवों की या महा-साधकों की जीवन गाथाओं पर दृष्टिपात करने से एक बात स्पष्ट प्रतीत होती है, कि उनमें से कोई भां जन्मजात या परम्परागत अनुकूलताएँ लेकर

१ दशैकालिक सूत्र अ. १ गा. १

नहीं जन्मा । अनुकूलताएँ न तो ऊपर से बरसी हैं और न ही देवों ने प्रारम्भ से ही उन्हें अनुकूलताएँ प्रदान की हैं वरन् अपने आत्मा में निहित बल— पराक्रम को स्वयं प्रकट करके आगे बढ़े हैं, प्रतिकूलताओं से जूझकर स्वयं अपना रास्ता बनाया है; प्रतिकूल परिस्थिति में भी उन्हें दूसरों का सहारा या सहयोग न लेकर स्वयं अपने पैरों से चलना पड़ा है । भगवान महावीर के सामने इन्द्र ने स्वयं उपस्थित होकर प्रार्थना की—“भगवन् ! आप पर भयंकर संकट और ऋष्ट (उपसर्ग) आने वाले हैं, यदि आप आज्ञा दें तो मैं आपकी सेवा में रहकर इन कष्टों एवं संकटों से बचाने में आपकी सहायता करूँ ।” इस पर प्रभु महावीर ने जो उत्तर दिया, वह उनके आदर्श आत्मबल का परिचायक है—‘इन्द्र ! ऐसा न तो कभी हुआ है, न होता है, और न ही होगा कि जिनेन्द्र दूसरे के बल पर अपना परम पद (मोक्ष) प्राप्त करें—

“स्ववीर्येणैव गच्छन्ति जिनेन्द्राः परमं पदम्”

जिनेन्द्र अपने बल-वीर्य के सहारे से ही परमपद को प्राप्त करते हैं । अपना आत्मबल ही कर्मों को काटने, संवर और निजरा के लिए तथा आत्मशुद्धि के लिए पुरुषार्थ करने में समर्थ है । लोगों ने ऐसे महान पुरुषों को ऐसे ही कन्धे पर नहीं चढ़ाया, वरन् वे अपनी विशेषताओं के आधार पर हर किसी की आँखों के तारे बने और लोक हृदय में प्रतिष्ठित हो गए ।

**आत्मबल संचय के चार आधार**

शरीरबल के लिए जिस प्रकार आहार, विहार, संयम और उत्साह जैसे साधन जुटाने पड़ते हैं, धनबल बढ़ाने हेतु पूंजी, योग्यता, परिश्रम और कुशलता जुटानी पड़ती है, शिक्षणबल के लिए अध्यवसाय, शिक्षक, शिक्षा-संस्थान, एवं प्रशिक्षण-सामग्री जुटानी पड़ती है, ठीक इसी प्रकार आत्मबल प्राप्त करने के लिए संकल्प, संयम, विश्वास और समर्पणता इन चार आधारों को जुटाना पड़ता है । परमात्मा की कृपा या दैवी अनुग्रह अथवा देवों का आगमन-आकर्षण इसी चुम्बकत्व के सहारे सम्भव होता है । निजरा की कुदाली से आन्तरिक क्षेत्र को खोदते-कुरेदते हुए आत्मा की मुक्ति चार साधनों से सम्भव है ।

**प्रथम आधार: संकल्प**

संकल्प का अर्थ ऐसा मनोबल है, जिसके सहारे निश्चय को कार्या-

नित्त करने की साहसिकता अक्षुण्ण बनी रहे। आत्मिक प्रगति के मार्ग पर चलने के लिए साधक को कई व्यवधानों—विघ्न-बाधाओं से जूझने के लिए संकल्प बल की आवश्यकता पड़ती है। संचित दुष्कर्मों एवं कुसंस्कारों को निरस्त करके उनके स्थान पर सत्प्रवृत्तियों और सद्गुणों को स्थापित करने के लिए किया जाने वाला प्रबल संघर्ष से टक्कर प्रचण्ड मनोबल के कारण ही ली जा सकती है। धैर्यपूर्वक चिरकाल तक बिना उत्साह गिराए निर्धारित मार्ग पर चलते रहने के लिए दृढ़ संकल्प चाहिए। इसी से आत्म-शक्ति बढ़ती है। त्याग प्रत्याख्यान एक प्रकार का संकल्प या प्रण है। जिससे आत्मा की शक्ति बढ़ती है। सामान्यतया सांसारिक वृत्ति के लोग बालबुद्धि एवं वानरवृत्ति के होते हैं। वे अधिक देर तक निर्धारित लक्ष्य पर टिके नहीं रह सकते। ज्यों ही कोई प्रलोभनों का झोंका आया अथवा कुविचारों या कुकर्मों का सुविधाजनक आकर्षण आया, कि वे फिसलने लगते हैं। पानी फैलते ही बिना किसी प्रयास के नीचे की ओर बहने लगता है इसी प्रकार चंचल वृत्ति के लोग प्रलोभन, मोहन और आकर्षण का दबाव पड़ते ही शीघ्र विचलित होकर दुष्कर्मों में या पाप-प्रवाह में बहने लगते हैं। मोक्ष मार्ग पर चलने पर अदृश्य आन्तरिक सफलता मिलने की बात स्थूलबुद्धि को विशेष आकर्षक नहीं लगती। अतः क्षणिक आवेशवश कदम बढ़ाये जाने पर भी तत्काल फल मिलने की उतावली में धैर्य और मनोबल टूट जाता है। आत्मनिर्माण या आत्मशुद्धि का मार्ग श्रम-साध्य, एवं समयसाध्य है। योग दर्शन में भी स्पष्ट कहा है—

“स तु दीर्घकाल-नेरन्तर्य-सत्कारासेवितो दृढभूमिः।”

उत्कृष्टता का वह मार्ग दीर्घकाल तक सतत सत्कार और श्रद्धा-पूर्वक साधना करने पर ही सुदृढ़ होता है।

अतः चंचलता को ठुकराने वाला, प्रलोभनों और दबावों से बचाने वाला तथा दुष्प्रवृत्तियों से जूझने वाला प्रचण्ड मनोबल आत्मसाधना के द्वारा शक्ति, तेजस्विता एवं क्षमता प्राप्त करने वाले साधक का सर्वप्रथम आधार है। बाल्य चंचलता को हटाकर दृढ़ निश्चयी प्रौढ़ता उत्पन्न करने में प्रचण्ड मनोबल की ही मुख्य भूमिका रहती है। ऐसी दृढ़ता मनस्वी कार्यार्थी लोगों में होती है। इसके लिए शूरवीरों जैसी पराक्रमी मनःस्थिति चाहिए। इतना दृढ़ निश्चयी संकल्पबल जुटाए बिना किसी के लिए हिमालय की चोटी पर चढ़ने जैसा आत्मशक्ति का कीर्तिमान स्थापित

करना सम्भव नहीं है। व्रत, प्रत्याख्यान, तप, त्याग, तितिक्षा, परीषह-सहन, उपसर्ग-विजय, कषाय-विजय, मौन, ब्रह्मचर्य, अहिंसादि महाव्रत आदि के अनेकों विधि-निषेध आत्मानुशासन-पालन में सहायक हैं। ये सब दृढ़ संकल्पबल के बिना कथमपि सफलतापूर्वक सम्पन्न नहीं हो सकते। प्रातःकाल नित्य कृत्य से निवृत्त होने पर नियत स्थान और समय पर नियत मर्यादाओं का पालन करते हुए उपासना के लिए सुखपूर्वक बैठने तथा मेरुदण्ड सीधा रखना, शारीरिक अनुशासन तथा नियत मात्रा में नियत विधान से उपासना क्रम सम्पन्न करने की—आत्मानुशासन की प्रक्रिया संकल्प बल के साथ ही जुड़ी हुई होती है। अस्तव्यस्तता एवं अव्यवस्था को इसी कठोरता, नियमितता, व्यवस्थितता एवं उपयोगिता के आधार पर निरस्त किया जा सकता है। इस प्रकार के आत्मानुशासन को फौजी अनुशासन की तरह निवाहते चलने पर मनोनिग्रह की सफलता मिलती है। यही आत्मबल प्राप्ति का प्रथम चरण है। ऐसा आत्मशक्ति सम्पन्न साधक जीवन-संग्राम में बड़े-बड़े आदर्शवादी पुरुषार्थ एवं पराक्रम करने में समर्थ होता है।

**द्वितीय आधार : संयम**

संकल्पबल अभ्यास का विस्तृत प्रयोग क्षेत्र 'संयम' का मैदान है। परीक्षा-स्थल भी यही है। संयम का अभ्यास जीवन को संतुलित और स्वभाव में घुसी हुई उच्छृंखलता, स्वच्छन्दता एवं अनाचारिता का दमन करने में उपयोगी है। इन्द्रियाँ अपने-अपने विषय में मर्यादातिक्रमण करने को मचलती हैं, वे खुली छूट चाहती हैं। उन पर अकुश न लगाया जाय तो वे उच्छृंखल बनकर तन, मन, वचन, आत्मिक गुण धन एवं सम्मान में आग लगाती चली जाएँगी और आत्मा ने जो कुछ शक्ति उपाजित की है, उसे स्वाहा कर देगी। जननेन्द्रिय का असंयम किस प्रकार मनुष्य को निस्तेज, निर्वीर्य एवं खोखला बना देता है, इसके उदाहरणों से संसार का इतिहास भरा पड़ा है। जिह्वा लोलुपता किस प्रकार पेट और शरीर को खराब करती है, सड़ाती है, नाना रोग उत्पन्न करती है, यह किसी से छिपा नहीं है। तृष्णा, लोकषणा एवं वित्तैषणा के वशीभूत होकर लोग किस प्रकार पापकर्मों को संचित करने लगते हैं और उसे संकीर्ण दुष्प्रयोजनों में लगाकर किस प्रकार अनर्थ उत्पन्न कर रहे हैं, यह भी किसी से अज्ञात नहीं है। अहता-ममता एवं मदोन्मत्तता मनुष्य को किस प्रकार दम्भ, मिथ्याडम्बर एवं मिथ्या-प्रदर्शन का घटाटोप रचती और कैसे ईर्ष्या-द्वेष

के विष-चीज बोती है ? इसका अवांछनीय नग्ननृत्य कहीं भी देखा जा है। छल-प्रपंच रचकर कमाये गए धन का विलासिता में, व्यसनों में, ठाठ-बाट में, आतंक-अनाचार में व्यय करना शारीरिक और मानसिक असंयम का ही एक प्रकार है। वासना, तृष्णा, लोभ, लालसा, द्रोह एवं मोह आदि को संयत किया जाए तो इन दुष्प्रयोजनों में लगने वाली शक्ति की बर्बादी रुक सकती है और योजनाबद्ध रूप से सत्प्रयोजनों में लगी हुई वह शक्ति हर दृष्टि से कल्याणकारी, अशुभ कर्म क्षयकारी और आत्म-शक्ति संबर्द्धनकारी बन जाती है।

फूटे बर्तन में दूध दुहने से दुधारु गाय पालने का तथा दुग्धपान का सौभाग्य निरर्थक चला जाता है, इसी प्रकार शरीर और मन में कषाय-कल्मषों और विषय-वासनाओं के अगणित छिद्र हो रहे हों, तो आत्मिक शक्ति बटोरने के बजाय वह शक्ति रिस-रिस कर समाप्त हो जाएगी। शक्ति का अपव्यय करने से वह शक्ति खत्म हो जाती है, फिर इस जन्म में या अगले जन्मों में भी वह शक्ति प्राप्त होनी अतीव दुष्कर है। आत्मबल के उपाजन का लाभ भी तभी मिल सकता है, जब उसे संयमपूर्वक अनर्थ-प्रवाह से रोका जाए। पानी के उच्छृंखल बहते प्रवाह को रोककर विशाल बांध बनाए जाते हैं, फिर उस पानी के संग्रह का सदुपयोग करके सिंचाई, बिजली, पनचक्की आदि कितने ही लाभ प्राप्त किये जाते हैं। ठीक यही बात संयम के विषय में है। तन, मन, सद्गुण, धन, वचन एवं मस्तिष्क की क्षमताएं किसी के पास भले ही स्वल्प मात्रा में हों, यदि वह इन्हें अपव्यय से बचाकर सत्कार्यों में, स्वपरकल्याण-साधना में सदुपयोग करता है तो उसका प्रतिफल बलवानों, धनवानों और विद्वानों की सम्मिलित शक्ति से भी बढ़कर श्रेय-स्कर हो सकता है। इसे हम संयम का ही चमत्कार कह सकते हैं।

एकाग्रता से शक्ति को अपने लक्ष्य में केन्द्रित किया जाता है, उससे व्यक्ति साहित्य, विज्ञान, कला, शिल्प आदि में पारंगत हो जाता है, इसी प्रकार आत्मिक चिन्तन में एकाग्र होने पर आत्मिक शक्ति के उच्च शिखर पर पहुँचा जा सकता है। यह एकाग्रता और कुछ नहीं मस्तिष्कीय संयम है, इसे ही शास्त्रीय भाषा में सुध्यान कहा जाता है। मनःसंयम, मस्तिष्कीय संयम, विचार-संयम, वाणी-संयम, इन्द्रिय-संयम, समय-संयम, स्वभाव-संयम, आदि के रूप में आत्मियों को रोककर यदि उसी संचित आत्म-सामर्थ्य को संवर में, सदाचार में, सत्प्रयोजनों में निष्ठापूर्वक लगाया जा सके तो समझना चाहिए कि आत्मा कषायादि कालुष्यों को मिटाकर उत्तरोत्तर शुद्ध हो

रही है, शक्ति सम्पन्न होती जा रही है, आत्मोत्कर्ष का उद्देश्य भी इसी प्रकार सफल हो सकता है। इन्हीं तथ्यों को ध्यान में रखते हुए तत्त्वज्ञ श्रमणों, श्रमणोपासकों एवं आत्मबल बढ़ाने के लिए संकल्प बल बढ़ाने के साथ-साथ सत्रह प्रकार के शास्त्रोक्त संयम के आचरण में कठोरता अपनाई है। अपने साथ कड़ाई और दूसरों के साथ नरमी यही संयम की नीति है। तपस्या, तितिक्षा, परीषह सहन, उपसर्ग-विजय, समिति-गुप्त आदि की अनेकानेक साधनाएँ संयम का ही उद्देश्य पूर्ण करती हैं। योग-दर्शन में वर्णित कतिपय चमत्कारी सिद्धियाँ चित्तवृत्तियों के संयम से प्राप्त उपलब्धियाँ ही हैं।

इस प्रकार संकल्प और संयम ये दोनों शरीर और मन की संयुक्त उपलब्धियाँ हैं। ये दोनों आत्मबल की साधना के पूर्वार्द्ध हैं। इनका सीधा सम्बन्ध भौतिक (शारीरिक, मानसिक आदि) शक्तिविधियों के साथ है। उत्तरार्ध के रूप में विश्वास और श्रद्धा इन दोनों की गणना, भावसंवेदनाओं में होती है। ये अन्तरात्मा के गहन स्तर से निकलते हुए अमृतस्रोत हैं।

**विश्वास : तृतीय आधार**

यह आत्मशक्ति को प्रखर बनाने का तृतीय आधार है। विश्वास से दृढ़ निश्चय की स्थिति उत्पन्न होती है जिससे चंचलता, व्यग्रता, अस्थिरता, सन्देह, आदि का बिखराव नष्ट होता है। किसी विषय में जब तक कोई सुस्थिर स्थापना न हो जाए तब तक मन शंकाशील बना रहता है, ऐसी स्थिति में कोई निश्चित कदम नहीं उठ पाता। विश्वास उस अनिश्चितता का अन्त करता है, जो आत्मबल में बाधक है, क्योंकि आत्मबल पूरे मनो-योग से कार्य करने की तत्परता उत्पन्न करता है।

संदिग्ध मनःस्थिति में किसी सिद्धान्त सम्मत मान्यता को अपनाना कठिन होता है, क्योंकि निष्ठा या अगाध विश्वास के आधार पर ही मान्यता को प्राणवान और क्रियान्वित करने की शक्ति उत्पन्न होती है।

**अन्धविश्वास से सतर्क रहकर सम्यक् विश्वास को अपनाएँ**

विश्वास के क्षेत्र में अन्धविश्वास के घुस पड़ने की पूरी गुंजाइश बनी रहती है। सामाजिक, पारिवारिक, सांस्कृतिक एवं साम्प्रदायिक अन्ध-परम्पराएँ, पूर्वाग्रह, अन्धविश्वास एवं अन्धमान्यताएँ लोगों के मन-मस्तिष्क पर बुरी तरह छाई रहती हैं और लोगों की शक्ति को बर्बाद कर रही हैं। आध्यात्मिक क्षेत्र में भी ऐसा होना सम्भव है। अध्यात्म क्षेत्र का अन्ध-



विश्वास बहुत ही हानिकारक दुष्परिणाम उत्पन्न करता है। अतः विवेक-युक्त विश्वासों को ही मानना चाहिए। जिन आदर्शों और सिद्धान्तों को मान्यता दी जानी है, उनके सम्बन्ध में आवश्यक छानबीन करके यथार्थता और उपयोगिता का निर्णय किया जाए। नैतिकता, आध्यात्मिकता और उच्चस्तरीय आदर्शवादिता का तथ्यपूर्ण समर्थन करने वाली मान्यता पर दृढ़ विश्वास करके चलना चाहिए। जैनागमों में किसी भी आदर्श या सिद्धान्त को स्वीकार करके क्रियान्वित करने का क्रम इस प्रकार है—श्रद्धा, प्रतीति, रुचि, स्पर्शना, पालना और अनुपालना। श्रद्धा से लेकर स्पर्शना तक के क्रम में उस सिद्धान्त या मान्यता को ठोक-बजा कर अपनाया जाता है। अध्यात्मपथ के पथिकों को विवेकपूर्वक पूर्वोक्त रीति से अपने आदर्शों की यथार्थता और लक्ष्य की प्रखरता के सम्बन्ध में असंदिग्ध मनःस्थिति का अन्त करना चाहिए और लक्ष्य एवं साधन पर प्रगाढ़ विश्वास का प्रखर चुम्बकत्व उत्पन्न करना चाहिए। इसी से आत्मशक्ति प्रबल होगी एवं आध्यात्मिक उत्कृष्टता के विषय में स्वतः सफलता मिलती जाएगी।

### चतुर्थ आधार : समर्पणा

आत्मशक्ति को प्रखर बनाने का सर्वाधिक प्रबल एवं समर्थ अन्तिम ब्रह्मास्त्र है—समर्पणता। 'अप्पाणं वोसिरामि' कहकर साधक जब अपने परम आदर्श या आदर्श-शिरोमणि महापुरुष के प्रति अपना व्युत्सर्ग कर देता है, तब वह चारों ओर से अपनी समस्त आत्म-शक्तियों को एकमात्र एक लक्ष्य में केन्द्रित—समर्पित कर देता है। इस प्रकार की समर्पणता में उत्कृष्टता के प्रति इतनी गहन संवेदना और भव्यभावपूर्ण उत्सुकता होती है, कि जिसके कारण उसे पाने के लिए साधक अपना सर्वस्व (अपने माने हुए शरीर तथा शरीर से सम्बन्धित समस्त सजीव-निर्जीव पदार्थ) न्यौछावर करने के लिए उद्यत हो जाता है। इस सम्बन्ध में दीपक और पतंगों का चन्द्र और चकोर का, पपीहा और स्वातिबिन्दु का उदाहरण अधिक संगत बैठता है। प्यार बराबर वालों से तथा स्नेह छोटों से किया जा सकता है, उत्सुकता तो व्यसन और विनोद के लिए भी हो सकती है, प्रणय तो पति-पत्नी में होता है, और उमंग एवं ललक तो दुष्कर्मों के लिए भी उठती है, लिप्सा और तृष्णा तो अर्थ, पद-प्रतिष्ठा आदि पाने के लिए भी हो सकती है; किन्तु समर्पण भाव तो उच्च आदर्शों एवं शुद्ध धर्म के सिद्धान्तों अथवा अध्यात्म की पराकाष्ठा पर पहुँचे हुए पूर्ण या शुद्ध परमात्मा या परमात्मा के मार्ग पर चलने वाले साधक (गुरुदेव) के प्रति

होता है, जिनकी शरण ग्रहण करने पर या जिनका अनुसरण करने पर स्व-पर-कल्याण का पथ प्रशस्त हो।

**विश्वास और समर्पणता : अन्तरात्मा की सूल पूंजी**

देवाधिदेव, गुरु और धर्मतत्व पर जितना गहरा विश्वास और समर्पण भाव होगा, साधक उतना ही शीघ्र मोक्ष या परमात्मा (सिद्ध) के निकट पहुँचेगा। अतः आत्मशक्ति की प्रखरता बढ़ाने में विश्वास और समर्पणभाव दोनों आवश्यक हैं। विश्वास और समर्पण भाव अन्तरात्मा की वे दिव्य शक्तियाँ हैं, जिन पर आत्मिक प्रगति की समग्र सम्भावनाओं का दारोमदार है।

**ज्ञानादि आत्मिक शक्तियों की अभिवृद्धि के लिए चारों आवश्यक**

तन और मन-मस्तिष्क दोनों ही आन्तरिक विश्वास और समर्पण भाव से प्रेरित एवं संचालित होते हैं। मन अपने विषय के अनुरूप इन्द्रिय में चेतना का विद्युत्प्रवाह चल पड़ने से अपना काम करता है। इन दोनों को आदर्श और उत्कृष्टता के साथ विश्वास एवं समर्पण भावपूर्वक जोड़ दिया जाए तो उच्चस्तरीय आत्मशक्ति बढ़ जाएगी, जिससे आत्मा उच्च-स्तरीय आत्मिक प्रगति की दिशा में द्रुत गति से आगे कूच करती जाएगी। अतः विश्वास और समर्पण भाव, ये दोनों आत्मा की ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य (पराक्रम) की शक्ति की अभिवृद्धि करते हैं। निष्कर्ष यह है कि मोक्ष अर्थात्—आत्मा के परम उत्कर्ष के शास्त्रोक्त चारों पथ—(ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप) इन चारों को आत्मशक्ति-साधनों से प्रशस्त किये जा सकते हैं। आत्मा की ज्ञानादि चारों शक्तियों की अभिवृद्धि इन चारों साधनों से की जा सकती है। निःसन्देह विश्वास और समर्पण भाव से ज्ञान और दर्शन की तथा संकल्प और संयम से तप और चारित्र की शक्ति बढ़ती है।

## आत्मनिर्माण का सर्वतोभद्र उपाय : स्वाध्याय

### उत्कृष्ट वातावरण कैसे मिले

आज हम जिस विश्व में रहते हैं, उसमें इन दिनों संकीर्ण स्वार्थपरायणता का दौरदौरा है। आदर्शों की ओर कदम बढ़ाने की अपेक्षा अधिकांश लोग निकृष्ट कृत्यों की ही बात सोचते हैं। उज्ज्वल भविष्य का निर्माण करने की अपेक्षा लोगों को तात्कालिक लाभ प्राप्त करने में अधिक रुचि है, फिर भले ही उसके लिए अन्याय, अनीति और भ्रष्टाचार का मार्ग ही क्यों न अपनाना पड़े। चारों ओर निकृष्टता और पतन वृत्ति के पर्वत खड़े दिखाई देते हैं। नैतिक पतन, भ्रष्टाचार-परिवर्धन एवं निकृष्ट स्वार्थलिप्सा की परिस्थितियाँ मक्खी-मच्छरों की तरह पैदा होती और बढ़ती रहती हैं। श्रेष्ठ और उपयोगी मानवों को तथा नीतिमत्ता और श्रेष्ठता को प्रयत्नपूर्वक ढूँढ़ना और उनसे सीखना पड़ता है। सुसंस्कृत, चारित्रवान् और उत्कृष्ट मनुष्य सदा अल्पमत में ही रहे हैं, फिर श्रेष्ठता का प्रभाव क्षेत्र भी उतना व्यापक नहीं होता, जितना कि निकृष्टता का। बहुमत का अनुसरण मनुष्य की एक ऐसी दुर्बलता है, जिसे कठिनाई से रोकना और बदलना शक्य है। पानी नीचे की ओर बहता है, इसी प्रकार मनुष्य की पाशविक वृत्तियाँ उसे नीचे की ओर धकेलती हैं, पृथ्वी की गुस्त्वाकर्षण शक्ति की तरह वे उसे अपनी ओर खींचती हैं। सामान्य बुद्धि का रुझान दूरदर्शी बनकर नीतिमत्ता, श्रेष्ठता एवं पारमार्थिक पथ को अपनाने की अपेक्षा किसी भी उपाय से तुरन्त भौतिक सुख-साधनों से लाभान्वित होने की ओर होता है। चारों ओर ऐसे ही निकृष्ट वातावरण का प्रभाव देखा जाता है।

साधारण तौर पर भौतिकता का जीवन ही दृष्टिपथ में आता है।

सांसारिक लोगों की प्रमुख अभिरुचि शारीरिक वासना के उपभोग में तथा मानसिक संग्रह तृष्णा में जकड़ी रहती है। अहंकार का परिपोषण ही उनकी महत्वाकांक्षाओं का केन्द्र होता है। जीवन निर्वाह की आवश्यकताएँ स्वल्प होते हुए भी मनुष्य वासना, लालसा, तृष्णा और अहंता से प्रेरित होकर सतत व्यस्त रहता है, उनकी पूर्ति के साधनों को जुटाने में। वह आकांक्षाओं की जितनी पूर्ति करता जाता है उतनी ही वे सुरसा की तरह तीव्र और बुद्धिगत होती जाती हैं। ऐसी स्थिति में सुरदुर्लभ मानव-जीवन को सफल बनाने के अवसरों का अधिकांश भाग इसी आपाधापी, भगदड़ और उधेड़बुन में लग जाता है। स्वजन-सम्बन्धियों से लेकर मित्रों और हितैषियों का सारा परिकर अपने ही माने हुए विधि-विधानों, रीति-नीतियों, और परम्पराओं को अपनाये रहने के लिए दबाव डालता है; खुले दिल-दिमाग से चिन्तन-मनन एवं अनुप्रेक्षण करने को अवकाश नहीं देता। चारों ओर की परिस्थिति, वातावरण एवं घटना क्रम भी प्रायः निम्नतर होता है, जो अन्तश्चेतना पर उसी प्रकार के संस्कारों के सांचे में ढलने को बाध्य करता है। अतः अधिकांश जनता का जीवन लक्ष्य भी मौज-शौक के साधन जुटाना और वैषयिक सुखों से लिपटे रहना होता है। तदनुसार उनकी चेष्टाएँ और आकांक्षाएँ भी अनैतिक एवं भ्रष्ट तरीकों से भौतिक सुख-साधन सम्पादित करने की होती हैं। इससे ऊँचे उठकर आत्मा की उन्नति और उत्कृष्टता तथा स्व-भाव में रमणता, आत्मशक्ति—आत्मशान्ति में बुद्धि के विषय में सोचना-समझना सम्भव ही नहीं हो पाता। यदि आत्मनिर्माण को महत्व देकर उसके परिष्कार एवं परिपोषण को अपनाया हो तो उपर्युक्त वातावरण से दूर रहकर नये, शुद्ध एवं उत्कृष्टता-प्रेरक वातावरण में अपने को रखने के साधन जुटाने पड़ेंगे; क्योंकि श्रेष्ठता, उत्कृष्टता और आदर्शवादिता की दिशा में चलना ही तो उसके लिए वैसा प्रेरक वातावरण अपेक्षित होगा। जहाँ ऐसा परिकर मिले, वहाँ रहने का भी प्रभाव पड़ता है। सामान्यतया मनुष्य जीवन बाह्य परिस्थितियों और व्यक्तियों के सम्पर्क से ही बनता है। मनुष्य को जैसा भी वातावरण मिलता है, उसका व्यक्तित्व, गुण, कर्म, स्वभाव उसी ढांचे में ढलता है। यदि मानव-जीवन के महत्व को समझा गया है और उसकी श्रेष्ठ उपलब्धि के प्रति आकर्षण है तो उसका उपाय यही है कि उच्चस्तरीय वातावरण में रहा जाए। परन्तु ऐसा प्रभावोत्पादक आध्यात्मिक वातावरण ढूँढने पर भी सहज में कहाँ मिलता है? फिर उसमें रहने

की परिस्थितियाँ कितनों को प्राप्त होती हैं। इसीलिए प्राचीनकाल में ऐसे प्रभावोत्पादक उत्कृष्ट वातावरण के लिए साधक को त्यागी एवं चारित्र्य-शील गुरुजनों के सान्निध्य में रहकर ग्रहण-शिक्षा और आसेवन-शिक्षा से अभ्यस्त होना पड़ता था। तथाकथित आश्रमों का वातावरण बाह्यरूप से आध्यात्मिक लगता है, परन्तु भीतर घुसने पर वहाँ भी प्रायः वे प्रवृत्तियाँ एवं परिस्थितियाँ नये परिवेश में मंडराती रहती हैं, जिनसे छूटने के लिए उन आश्रमों का आश्रय लिया गया था। एकान्त गुफा में एकाकी या सामूहिक रूप से रहने की कल्पना भी विकट है। वहाँ निर्वाह की सामान्य व्यवस्था भी स्वावलम्बनपूर्वक नहीं बन सकती, उसके लिए किसी सम्पन्न व्यक्ति का सहारा लेना पड़ता है। प्राचीनकाल में उनके अनेक कार्य सेवा-भाव से दूसरे कर देते थे, अथवा उच्च साधक स्वयं यथालाभ-संतुष्ट रह कर अल्प साधनों से जीवन निर्वाह कर लेते थे। परन्तु अब वे सारे अन-भ्यस्त झंझट स्वयं ही ओढ़ने पड़ते हैं अथवा शरीर यात्रा की आवश्यकताएं इतनी बढ़ गई हैं कि एकाकी जीवन का अधिकांश समय उसी की उधेड़बुन में लग जाता है जिसके लिए घर-बार छोड़कर एकान्त में रहने का खतरा उठाया गया, वे प्राचीनकालिक परिस्थितियाँ इस युग में नहीं रहीं, और न ही स्वल्प सन्तोषी कष्टसाध्य क्रम अपना कर भी प्रसन्न रहने की साधकों की मनःस्थिति है। ऐसी दशा में आत्मा के परिष्कार के लिए प्रेरक वातावरण जुटा पाना अतीव कठिन है।

जो ऐसे निःस्पृही, त्यागी एवं चारित्र्यात्मा सन्त, सज्जन, मनीषी या तत्त्वज्ञानी इस संसार में हैं, उनकी एक कठिनाई है—अत्यधिक व्यस्तता की। परन्तु जिस व्यक्ति ने मानव जीवन का मूल्य समझा है और उसका श्रेष्ठतम उपयोग करना चाहता है, उस अध्यात्मपथ के जिज्ञासु को उसकी सुविधा एवं इच्छा के अनुरूप वे वैसा उत्कृष्ट वातावरण और इतना अव-काश शायद ही दे सकें। ऐसे महान साधकों के दर्शन, वन्दन, उपासना आदि के स्वल्प सम्पर्क से ही जन-साधारण को संतोष करना पड़ता है। कदाचित्त उनके सामूहिक प्रवचन का लाभ वह उठा सकता है, परन्तु प्रभावोत्पादक वातावरण तो उतने अल्प समय में मिलना दुष्कर है। जैसे सांसारिक वातावरण अन्तश्चेतना को भौतिकता के रंग में रंगकर, मोह लोभ के जटिल बन्धनों में दृढ़ता से जकड़ देता है, वैसा ही आध्यात्मिक वातावरण हो, जो आत्मा को आध्यात्मिकता के रंग में रंग सके और उत्कृष्ट व्यक्तित्व बना सके।

कदाचित् सत्संग का लाभ लेने के लिए दो-चार दिन के लिये चले भी जाएँ तो उतने भर से वातावरण नहीं बनता। अन्तश्चेतना प्रभावोत्पादक त्याग-वैराग्य, तत्त्व-दर्शन एवं आत्म-जागृति के उत्कृष्ट रंग में भीगती नहीं। प्रतिदिन सत्संग का लाभ लेने के लिये उक्त व्यक्ति का जा सकना एक या दूसरे कारण से कहाँ बन पाता है ?

ऐसी स्थिति में आत्मा को श्रेष्ठता की दिशा में अग्रसर करने वाला प्रभावोत्पादक वातावरण जिज्ञासु और मुमुक्षु को स्वयमेव बनाना पड़ता है। मन-मस्तिष्क पर त्याग-वैराग्य की छाप छोड़ने वाला समानान्तर वातावरण उसे स्वयमेव निर्मित करना होता है, जो तथाकथित संलग्न संसार के आसक्तिमूलक वातावरण के प्रभाव को निरस्त कर सके। इस प्रकार का वातावरण चिन्तन-मनन, स्वयं अध्ययन, वाचन, चर्चा-विचारणा आदि के माध्यम से ही निर्मित किया जा सकता है, जो परोक्ष अधिक, प्रत्यक्ष कम होता है।

### स्वाध्याय ही इसका प्रथम चरण

इस दिशा में प्रथम चरण स्वाध्याय का है। जीवित या दिवंगत, निकटस्थ या दूरस्थ, मोक्षगामी या मुक्त महामानवों, तत्त्वदर्शी मनीषियों के साथ अपने मनोनोत विषय पर खुले दिल से विचार-विनिमय करते रहना, इसी उपाय से सम्भव हो सकता है। उनके पवित्र अनुभवयुक्त वाणी से उनके साथ चाहे जिस समय, चाहे जितनी देर तक सम्पर्क साथे रहना इसी सरल उपाय से सम्भव हो सकता है। इसे ही 'स्वाध्याय' कहा जाता है।

स्वाध्याय के द्वारा अपनी रुचि के भविष्य का मार्गदर्शन देने वाले जीवन-चरित्रों का संग्रह किया जा सकता है, उन्हें मनोयोगपूर्वक पढ़कर उनमें से प्रेरणास्पद प्रसंग, जो अपनी वर्तमान परिस्थिति में कार्यान्वित हो सकें, अलग से नोट कर लेना चाहिए। अपनी मानसिक-कायिक दुर्बलताएँ, अभ्यस्त आदतें, विकृत अभिरुचियाँ निकृष्टता की ओर खींचती हैं। कुटुम्बियों के अपने स्वार्थ, मित्रों के दबाव तथा प्रचलित लोक-प्रवाह, सामान्य मानव को संयुक्त शक्ति से दुनियादारों द्वारा अपनाई हुई गति-विधियों को अपनाने के लिये प्रेरित करते हैं। श्रेष्ठता की प्रेरणा देने वाले तथा उत्कृष्टता की ओर बढ़ने का मार्गदर्शन देने वाले तथा प्रेरक प्रसंगों को स्वाध्याय के द्वारा ही इतिहास या महापुरुषों के जीवन चरित्र के पृष्ठों पर ही खोजा जा सकता है। स्वाध्याय से संसार भर के श्रेष्ठ सम्यग्ज्ञानी

महापुरुषों के साथ घुल-मिलकर जब भी जी चाहे और जितनी देर चाहे व्यक्ति बातचीत कर सकता है, उनके पवित्र विचारों से लाभ उठा सकता है।

आज भी ऐसे तत्त्वदर्शी चारित्र्यात्मा मनीषियों के साथ मानसिक सम्बन्ध बनाया जा सकता है। वैसे तो उनके पास न तो सतत निवास सम्भव है और न ही वे अपना निवास जिज्ञासु व्यक्ति के पड़ोस में बना सकते हैं। व्यावहारिक मार्ग स्वाध्याय का ही है, जिसमें अपनी भावनात्मक दुनिया अलग ही बसाई जाए, जिसमें ग्रन्थों और पुस्तकों के माध्यम से श्रेष्ठ महामानवों को ही निवास करने हेतु आमन्त्रित किया जाये। उसमें प्रेरणा-प्रद घटनाओं की हलचलें मानसपथ पर आती रहें, बल्कि चलचित्र की तरह मन-महापुरुषों की जीवनियाँ, गतिविधियाँ एवं नैतिक-धार्मिक दृढ़ता अपने मन मस्तिष्क में दृढ़तापूर्वक जड़ें जमा सकें व अनायास ही स्मरण आती रहें। श्रेष्ठ सज्जनों से परामर्श एवं वार्तालाप उनके साहित्य द्वारा बड़ी आसानी से हो सकता है। जीवित महान् आत्माओं से सतत सम्पर्क या परामर्श अथवा वार्तालाप कर सकना या ऐसा करने के लिए उनके पास जाने और उन्हें अवकाश होने या न होने की भी कठिनाई है, परन्तु उनके साहित्य के स्वाध्याय के माध्यम से यह सुविधा हर समय उपलब्ध हो सकती है। उनके साहित्य से अपने प्रयोजन के प्रसंग ढूँढ़ने और पढ़ने का कार्य आसान है। यह अपनी सुविधानुसार कभी भी किया जा सकता है।

**स्वाध्याय : महापुरुष को अपने साँचे में ढालने का उपाय**

स्वाध्याय भूतकालीन और महापुरुषों को अपने जीवन के साँचे में ढालने का अद्भुत उपाय है। एक स्पेनिश पत्रकार ने एक बार महात्मा गाँधीजी से प्रश्न किया—“आप अभी जिस रूप में हैं, वह बनने की प्रेरणा आपको कहाँ से मिली ?” गाँधीजी ने तपाक से कहा—“कर्मयोगी श्रीकृष्ण, महापुरुष ईसामसीह, दार्शनिक रस्किन और सन्त टालस्टाय से।”

उसने अपनी आशंका व्यक्त करते हुए पूछा—“ये सब तो आपके समय में नहीं रहे फिर आपको इनसे प्रेरणा कैसे मिली ?”

इस पर गाँधीजी ने कहा—“यह ठीक है कि महापुरुष सदैव बने नहीं रहते; समय के साथ उन्हें भी जाना पड़ता है, किन्तु विचारों और पुस्तकों के रूप में उनकी आत्मा इस भूमण्डल पर चिरकाल बनी रहती है। जिन्हें लोग कागज के निर्जीव पन्ने समझते हैं, उन्हीं में उन महापुरुषों की आत्मा लिपटी हुई रहती है। उनकी जीवित और दिवंगत दोनों ही अवस्थाओं में

लोगों को दीक्षित करने, सुसंस्कृत बनाने और उत्कृष्ट जीवन पथ पर अग्रसर होने के लिए शक्ति, प्रकाश और प्रेरणा देने की उनमें सामर्थ्य रहती है। मुझे भी इन चारों महान व्यक्तियों से प्रेरणा मिली है। संसार में रहकर अनासक्त और कर्मयोगी कैसे रहा जा सकता है ? यह प्रेरणा भगवद्गीता से मिली। दलित वर्ग से प्रेम और उनके उद्धार की प्रेरणा मुझे 'बाइबिल' से मिली। युवावस्था में ही मेरे विचारों में प्रौढ़ता, कर्तव्यदक्षता और आशापूर्ण जीवन जीने का प्रकाश 'अंटु दिस लास्ट' से मिला। बाह्य विषय-सुखों और प्रलोभनों-आकर्षणों से कैसे बचा जा सकता है ? यह विद्या मैंने 'दि किंगडम ऑफ गाँड, विदिन यु' से पाई। इस प्रकार मैं क्रमशः श्रीकृष्ण, महापुरुष ईसा, रश्किन और टालस्टाय के विचारों से दीक्षित हुआ। सशक्त विचारों की प्रतिमूर्ति प्राणपुंज इन पुस्तकों के सान्निध्य में मैं नहीं आया होता तो आज मैं जिस रूप में हूँ, उस तक पहुँचने वाली सीढ़ी से मैं उर्सी तरह वंचित रहा होता, जिस तरह स्वाध्याय और महापुरुषों के सान्निध्य में न रहने वाला कोई भी व्यक्ति वंचित रह जाता है।”

पं० जवाहरलाल नेहरू एक सम्पन्न परिवार के विलासप्रिय युवक थे, किन्तु निरन्तर वाचन का पैतृक गुण उन्हें अपने पिता मोतीलाल नेहरू से मिला था। वे कहा करते थे—“एकान्त की सर्वोत्तम मित्र पुस्तकें ही हो सकती हैं। मेरीडिथ की सुप्रसिद्ध पुस्तक 'एशिया एण्ड यूरोप' ने उनकी जीवनधारा ही बदल दी, उसी के मार्गदर्शन का यह फल था कि पं० जवाहरलाल नेहरू न केवल भारत या एशिया, अपितु समग्र विश्व के गणमान्य राजनेताओं की पंक्ति में जा बैठे। इस पुस्तक को पढ़ने के बाद उनको इतिहास और राजनीति में रुचि गहराती गई। उन्होंने भारत, एशिया और विश्व-इतिहास का गहनतम स्वाध्याय किया, जिससे उन्हें राजनयिकों एवं सफल सम्राटों की सूझबूझ, चिन्तन, निष्कर्ष और अनुभव, एक विशाल खजाने के रूप में मिलते गये। मार्शल टोटो, मेक्समूलर, तथागत बुद्ध, भगवान महावीर, सुकरात, प्लेटो, मेकडोनल आदि में से जिस किसी को ढूँढ़ना हो अपने विचारों के रूप में या सिद्धान्तों के रूप में सबके सब पं० जवाहरलाल नेहरू में मिल सकते थे।

जार्ज बर्नार्ड शॉ को इतने उच्च एवं स्पष्ट विचारक बनाने का श्रेय भी पुस्तकों के स्वाध्याय को है। उनकी माता ने ९ वर्ष की उम्र से ही उनमें स्वाध्याय की अभिरुचि उत्पन्न कर दी थी। उनके पिता प्रायः कहा करते थे



कि बच्चे को खेलने-कूदने भी दिया करो तो मां कहती—खेल-कूद, यात्रा-भ्रमण, इतिहास, दर्शन, सिनेमा आदि सब कुछ पुस्तकों में है, जो बालक की विचारशक्ति के लिए ईंधन का काम करेंगे तथा इसकी विचार-उष्मा को सतत प्रज्वलित रखेंगे। नौ वर्ष तक की उम्र में वह बाइबिल पढ़ चुके थे। जिससे उनका मन आध्यात्मिक भावनाओं में संस्कारित हो चुका था। स्वाध्याय से उनमें तार्किक शक्ति, बौद्धिक पैनापन, चिन्तन के नये आयामों का उदय हुआ। उन्होंने जीवन के अन्तिम क्षणों में और चाहे सब कुछ छोड़ दिया हो, लेकिन पढ़ने का क्रम जीवन के अन्तिम श्वास तक बराबर बनाए रखा।

### स्वाध्याय का सर्वतोमुखी लाभ

सरदार बल्लभ भाई पटेल, राधाकृष्णन्, लोकमान्य तिलक, सुभाष चन्द्र बोस आदि भारतीय इतिहास के नक्षत्रों ने जीवन में जो कुछ पाया, वह सब उनकी स्वाध्याय सुरक्षि का सुफल था। पुस्तकों के स्वाध्याय ने ही उनके मन-मस्तिष्क में एक नये दर्शन की पृष्ठभूमि निर्मित कर दी थी। वस्तुतः स्वाध्याय मनुष्य की प्रसुप्त क्षमताओं को अनेकगुना सक्रिय बना देता है। हर व्यक्ति में विचार की सत्ता होती है, स्वाध्याय उसे पैनी कर देता है। जिनकी पढ़ने की अभिरुचि नहीं होती, कहना चाहिए उनके विचारों को फलने-फूलने के लिए खाद-पानी नहीं मिलता। फलतः वे असमय में ही मुर्झा कर नष्ट हो जाते हैं। निराशाएँ, उद्विग्नताएँ, व्याकुलताएँ एवं मानसिक, शारीरिक व्याधियाँ ऐसे ही लोगों को घेरती हैं। स्वाध्याय-शील व्यक्ति तो आपदाओं, विपन्नताओं और व्याधियों के प्रसंग पर भी प्रसन्नतापूर्वक जीवन जी लेते हैं। वे प्रायः इष्ट-वियोग और अनिष्ट-संयोग से कदापि नहीं घबराते। व्यक्ति के आत्मिक परिमार्जन-परिशोधन की प्रक्रिया उसी से ही सम्पन्न होती है। दीन-हीन, मलिन जीवन को ऊँचा उठाने एवं निर्मल बनाने की शक्ति स्वाध्याय से मिलती है। इतिहास साक्षी है कि संसार में जितने भी महान् एवं सफल व्यक्ति हुए हैं, उन्हें आगे ले जाने वाला किसी न किसी अच्छी पुस्तक का स्वाध्याय रहा है।

**स्वाध्याय : व्यक्तिगत एवं राष्ट्रीय चरित्र निर्माण का आधार**

स्वाध्याय में व्यक्तिगत, समाजगत एवं राष्ट्रगत चरित्र निर्माण की विशिष्ट शक्ति है। इसे जीवन की एक अनिवार्य आवश्यकता के रूप में मानना चाहिए। जिस प्रकार आहार-निहार-नींद आदि जीवन की प्रमुख

आवश्यकता हैं, उसी प्रकार स्वाध्याय को भी जनजीवन की प्रमुख आवश्यकता माननी चाहिए। जो अनेकों दुर्भविनाएँ, दुश्चिन्तन, दुष्प्रवृत्तियाँ एवं बुरी आदतें जीवन में घर कर गई हैं, उनकी हानियों को भली-भांति समझने एवं त्यागने के लिए प्रेरणा देने में स्वाध्याय की शक्ति प्रमुख है। शास्त्रों में इसीलिए कहा गया है—

‘ज्ञायस्मि रओ सदा’

जिज्ञासु और मुमुक्षु साधक गृहस्थ हो या साधु सदा स्वाध्याय में रत रहते हैं।

अच्छी पुस्तकों के स्वाध्याय से व्यक्ति हेय, ज्ञेय और उपादेय को भलीभांति जान लेता है, फिर ज्ञपरिज्ञा से जाने हुए हेय का, प्रत्याख्यान-परिज्ञा से त्याग करता है। इसी प्रकार जो सद्भावनाएँ, सत्प्रवृत्तियाँ, सच्चिन्तन, सद्बचन आदि जिन सद्गुणों का विकास करना आवश्यक है, उनकी उपयोगिता समझने और ग्रहण करने के लिए उत्साह उत्पन्न करने का कार्य भी स्वाध्याय को अधिकाधिक प्रोत्साहन देने से ही सम्भव होता है।

आत्मनिरीक्षण, आत्मनिर्माण एवं आत्मशुद्धि का प्रमुख विधान स्वाध्याय को माना गया है। इसी से आत्मा को परमात्मा की प्राप्ति होती है। महर्षि व्यास का कथन है—

‘स्वाध्याय-योग-सम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशते ।’

स्वाध्याययुक्त योग से ही परमात्मा का प्रकाश मिलता है।

**स्वाध्याय के मुख्य अर्थ और प्रयोजन**

स्वाध्याय के दो अर्थ उसकी यथार्थता सूचित करते हैं। एक है—  
सु=सुष्ठु आ समन्तात् अध्ययनं स्वाध्यायः, अर्थात्—सम्यग् प्रकार से चारों ओर का अध्ययन स्वाध्याय है।

दूसरा अर्थ होता है—स्वस्य अध्ययनं=स्वाध्यायः अथवा स्वस्मिन् आ समन्तात् ध्यानं=स्वाध्यायः। अर्थात्—अपना अपनी आत्मा का सांगो-पांग अध्ययन अथवा अपने अन्दर में सब ओर से एकाग्र होकर ध्यान=चिन्तन करना।

इन दोनों अर्थों पर विचार करने से एक बात स्पष्टतः फलित होती है कि सब ओर से विचार-विमर्श करके सम्यक् अध्ययन करना। उन पुस्तकों

या ग्रन्थों का अध्ययन सम्यक् नहीं है, जिनसे मनुष्य पापकर्म में प्रवृत्त हो, जिनसे जीवन में दुर्व्यसन एवं दुर्गुण बढ़ें, जो मनुष्य को आत्मा से विमुख करके आत्मिक गुण—ज्ञान-दर्शन-चारित्र्य या तप के मार्ग से भ्रष्ट करके स्वच्छन्द भोगवाद की ओर प्रेरित करता हो। अतः स्वाध्याय का प्रयोजन उस सत्साहित्य का अध्ययन करना है, जो हमें अधःपतन से बचाए, हमारे जीवन को सद्विचार, सदाचार और सद्व्यवहार की ओर प्रवृत्त करता हो।

**स्वाध्याय : ज्ञान का स्रोत**

यद्यपि आत्मा का निजी गुण ज्ञान है। आचारांग सूत्र में स्पष्ट बताया है—

‘जे विन्नाणे से आया, जे आया से विन्नाणे’

जो विशिष्ट ज्ञान है, वह आत्मा है और जो आत्मा है, वह विशिष्ट ज्ञान है।

ज्ञान कहने से आजकल के विद्यालयों में पढ़ाया जाने वाला, व्यावहारिक ज्ञान या दर्शनशास्त्र, तर्कशास्त्र, भूगोल, खगोल, इतिहास आदि का शिक्षण-प्रशिक्षण भी ज्ञान कहलाता है, जो व्यावहारिक ज्ञान के रूप में प्रसिद्ध है। ये जीविकोपार्जन एवं लोकव्यवहार में निपुणता प्राप्त करने के लिए हैं। किन्तु यहाँ स्वाध्याय के द्वारा अर्जित किया जाने वाला ज्ञान ऐसा होना चाहिए, जो आत्मा के सम्बन्ध में विशिष्ट प्रेरणात्मक चिन्तन दे सके, जिसके प्रकाश में व्यक्ति हेय, ज्ञेय और उपादेय को जान-पहचान सके और सांसारिक जीवन में भी नैतिक स्थिरता, सन्तुलन एवं आत्मिक उन्नति का पथ-प्रदर्शन कर सके। जिस ज्ञान को प्राप्त करने से मनुष्य आध्यात्मिक दृष्टि से अपनी मान्यताओं, भावनाओं एवं आदर्शों के अनुसार चलने की प्रेरणा प्राप्त करता है।

स्कूली ज्ञान तो करोड़ों मनुष्यों को है, उससे थोड़ा-सा लौकिक विकास अवश्य होता है, परन्तु आन्तरिक महानता नहीं बढ़ती, वह चरित्र निर्माण तथा अहिंसा-सत्यादि के पथ पर बढ़ने की प्रेरणा नहीं देता। आत्म-निर्माण, आत्मविकास, आत्मभावों में रमण की तथा चरित्र-गठन की प्रेरणा दे, सत्प्रवृत्तियों एवं सद्विचारों को जगा दे वही सम्यग्ज्ञान कहलाता है। वही जीवन को सफल बनाता है। इस प्रकार के सम्यग्ज्ञान से रहित मनुष्य अन्य पशुओं की तरह ही अनगढ़, अपरिष्कृत, प्रवृत्तियों और आवेगों से परि-

चालित जीवन जीता है, वह मानव जीवन की गरिमा का अर्थ नहीं समझ पाता। अतः स्वाध्याय सम्यग्ज्ञान का स्रोत है।

### स्वाध्याय से सम्यक् बोधि

ऐसे सम्यग्ज्ञान की जन्मदात्री, मनुष्य की विवेक बुद्धि अथवा सम्यग् बोधि को ही माना गया है। ऐसी सम्यग् बोधि—सम्यग्दृष्टि अथवा विवेक बुद्धि के बल पर मनुष्य संसार में एक से एक उच्च सत्कार्य कर सकता है, अपनी आत्मा को आस्रवों—पापकर्मों या कर्मबन्ध से बचाकर मोक्ष जैसा परमपद प्राप्त कर सकता है। निकृष्ट एवं अधोजीवन से उठकर उच्चस्तरीय आध्यात्मिक जीवन की ओर गति-प्रगति करने के लिए मनुष्य को अपनी इस विवेक बुद्धि या सम्यग्दृष्टि का विकास, पालन और संवर्धन करना चाहिए। और वह अध्यात्म प्रेरक पुस्तकों एवं ग्रन्थों का स्वाध्याय करने से ही हो सकता है। स्वाध्याय से विचारों का संशोधन-परिमार्जन होता है, उत्कृष्ट विचारों से ही मनुष्य का आत्मिक विकास होता है। विचार उदात्त और ऊर्ध्वगामी होने से मनुष्य निम्न परिधियों को पार करके आत्मिक उच्चता पर स्वतः ही गति करता है। विचारों की उदात्तता एवं निर्विकारिता स्वाध्याय पर निर्भर है। स्वाध्याय के आलोक में व्यक्ति अपनी निकृष्टताओं एवं निम्न वृत्तियों को दूर कर अपनी आत्मिक शक्तियों का विकास कर सकता है। स्वाध्याय से प्रेरणा पुंज व्यक्तित्व के धनी पुरुषों की खोज-परख करके उनके ग्रन्थों या शास्त्रों को सर्वोत्कृष्ट सत्संग का माध्यम बना सकते हैं। महान् पुरुषों द्वारा लिखे हुए ग्रन्थ या पुस्तक उनके ही बौद्धिक शरीर हैं। उनमें उनका ज्ञानात्मा बहुत व्यवस्थित ढंग से बोलता है।

### स्वाध्याय : परम तप

इसीलिए स्वाध्याय को परम तप कहा गया है। जैन शास्त्रों में स्वाध्याय को आभ्यन्तर तप माना गया है, क्योंकि इससे निकृष्ट एवं दूषित विचारों को छोड़कर सद्विचारों और सद्भावनाओं के पथ पर चलने की प्रेरणा मिलती है, जिससे आत्मा परिशुद्ध हो सके। यही कारण है कि शास्त्र में साधु-साध्वियों के लिए दिन और रात्रि के आठ पहर में से चार पहर भगवान् महावीर ने स्वाध्याय के लिए नियत किये हैं, क्योंकि स्वाध्याय से साधक को सर्वश्रेष्ठ तत्त्वज्ञान प्राप्त होगा जिससे वह श्रेष्ठ दिशा में गति कर सकेगा।

### स्वाध्याय से लाभ : सातत्य होने पर हो

परन्तु यह गति-प्रगति तभी हो सकेगी, जबकि व्यक्ति नियमित स्वाध्याय करेगा। जैसे व्यक्ति शरीर, बर्तन, वस्त्र, मकान आदि की सफाई नित्य नियमित करता है, क्योंकि उन पर नित्य हो मैल जमता है, इसी प्रकार मन पर भी संसार के बुरे वातावरण का मैल और कुप्रभाव निरन्तर जमना स्वाभाविक है। उसकी सफाई के लिए स्वाध्याय की नित्य नियमित बुहारी लगाने की आवश्यकता रहती है। इसीलिए शास्त्रकारों ने भोजन, शयन आदि की भाँति स्वाध्याय को भी नित्य कर्म, आवश्यक धर्म तथा अष्टांग योग का एक अंग माना है। जिज्ञासु एवं मुमुक्षु के लिए वहाँ कहा गया है—

**अहरहः स्वाध्याय अध्येतव्यः'**

दिनानुदिन स्वाध्याय में रत रहो।

उपनिषद् में कहा गया है—'स्वाध्यायान्मा प्रमदः' स्वाध्याय में प्रमाद मत करो।

### स्वाध्याय : अक्षय पुण्य का कारण

शास्त्र में 'मणपुण्ये वयणपुण्ये' मन के द्वारा शुभ भावना (विचार) करने से तथा वचन के द्वारा शुभ वचन बोलने से पुण्य होता है, ऐसा कहा गया है। इसमें कोई आश्चर्य नहीं है, क्योंकि शुभ भावों की प्रेरणा देने का प्रमुख आधार स्वाध्याय ही है जिससे मनुष्य के विचार और कार्य मोक्ष मार्ग की दिशा में विकसित होते हैं। इसीलिए 'शतपथ ब्राह्मण' में कहा गया है—

**“यावन्तो वा इमा पृथिवी वित्तेन पूर्णा ददत्लोकं जयति, त्रिस्तावन्तं जयति भूँ यां संवाक्ष्म्य, य एव विद्वान् अहरहः स्वाध्यायमधीते।”**

अर्थात्—“जितना पुण्य धन-धान्य से परिपूर्ण समस्त पृथ्वी का दान देने से मिलता है, उसका तीन गुना अधिक पुण्य दिनोंदिन स्वाध्याय करने से प्राप्त होता है।”

स्वाध्याय के द्वारा यही विकास क्रम अक्षय पुण्य का कारण बनता है  
**स्वाध्याय : उच्च मार्ग पर चढ़ाने वाला**

जिस प्रकार पानी को गिराते ही वह तेजी से नीचे बहने लगता है उसी प्रकार साधारण मनुष्य का स्वभाव भी बुरे वातावरण के मिलते हैं नीचे कर्मों की ओर ढलने लगता है, उसे न रोका जाय हतोव पाशविः

एवं राक्षसी दुर्वृत्तियों की ओर बढ़ने लगता है। पानी को ऊपर चढ़ाना/ले जाना होता है तो रस्सी, बाल्टी, पम्प आदि का प्रयोग करना पड़ता है। यही बात स्वाध्याय के लिए कही जा सकती है; जो मन रूपी पानी को कुमार्ग की ओर बहने से रोकता है। यही वह पम्प है, जो मानसिक वृत्तियों को उच्च पथ पर चढ़ाकर तुच्छ मानव को महापुरुष की श्रेणी में ले जाकर बिठा देता है।

युवक सारमिटों एक दिन बेंजामिन फ्रैंकलिन की जीवनी पढ़ रहा था, जो एक साथ वैज्ञानिक, दार्शनिक एवं राजनैतिक के रूप में विश्व-विख्यात हुआ। युवक के मन ने कहा—“फ्रैंकलिन जैसे अध्यवसाय से क्या यह सम्भव नहीं?” उस दिन से उसने थोड़े ही दिनों में अंग्रेजी, फ्रेंच एवं चिली आदि कई भाषाएँ सीखीं। देश में फैली हुई राजनैतिक स्वार्थपरता एवं भ्रष्टाचारपरायणता के विरुद्ध संघर्ष अर्जेंटाइना में छेड़ा, अर्जेंटाइना निवासियों को संगठित किया। अर्जेंटाइनावासियों को साक्षर बनाने का तीव्र अभियान चलाया। यही कारण है कि अर्जेंटाइना दुनिया में सर्वाधिक शिक्षित देश है। अर्जेंटाइना का उपराष्ट्रपति बनने पर भी उसने सेवा मार्ग न छोड़ा। केवल इसी पुस्तक की प्रेरणा ने इस युवक को विश्व-विख्यात कर दिया। वह युवकों से कहा करता था—यह आवश्यक नहीं कि तुम दिन-रात सत्साहित्य पढ़ो। थोड़ा पढ़ो, पर अच्छा पढ़ो। और जो पढ़ो, उसे जीवन में आत्मसात् करने का अभ्यास भी डालो तो तुम्हारे सामान्य जीवन में भी सफलता के अनेक द्वार खुल सकते हैं। वास्तव में सरसरी तौर से पढ़ने और पुस्तकें एक ओर पटक देने से बहुपठित का दावा तो किया जा सकता है, पर वैसे करने से वह लाभ नहीं मिल सकता, जो स्वाध्यायशीलों को मिला करता है।

**मनोयोग पूर्वक किये हुए स्वाध्याय से विचाररत्न-चयन**

स्वाध्याय से मार्गदर्शन मिलता है, परामर्श भी मिलते हैं, घटना और विचारधारा भी सामने आती हैं। परन्तु उतने भर से स्वाध्याय का यथेष्ट लाभ नहीं मिल जाता। आवश्यक यह है कि प्रेरक प्रसंगों और सन्दर्भों की नोट बुक बना कर उसमें जो हृदयग्राही लगा हो उसे नोट करते रहा जाए। यह संकलन अवश्य ही समुद्र-मन्थन के फलस्वरूप निकले हुए रत्नों की तरह बहुमूल्य विचार-रत्नों का संचय होगा। इस संचय को अवकाश निकाल कर बहुत ही मनोयोगपूर्वक पढ़ा जाए और यह सोचा जाए कि इन प्रसंगों के अनुरूप कदम बढ़ाना किस प्रकार संभव

हो सकता है ? इन सद्बिचारों को व्यवहार में उतारने में क्या कठिनाई आ सकती है और उसका निराकरण किस सीमा तक किस तरह हो सकता है ? पुस्तकोक्त प्रगति पथ पर चलना आज की स्थिति में कितना और किस प्रकार सुलभ हो सकता है ?

स्वाध्याय करने के पश्चात् इस प्रकार के आत्ममंथन को शास्त्रीय भाषा में अनुप्रेक्षा कहते हैं ।

एक वकील के यहाँ क्लर्की करने वाला युवक 'बालजक' निराशा और घुटन की जिन्दगी से ऊब कर अपने मित्र के पास गया । किन्तु मित्र के अनुदार व्यवहार से निराश होकर उसने मन में निश्चय किया—अब पुस्तकों ही मेरी मित्र हैं, वे ही मेरी माता-पिता हैं । उस दिन से वह पुस्तकों की शरण में आ गया । दिन-दिन भर पढ़ने में गुजारता और पढ़े हुए पर निरन्तर विचार करना उसके जीवन का अंग बन गया । उसके मस्तिष्क में सद्बिचारों का समुद्र लहराने लगा । फिर उसने समुद्रमंथन किया । पहले वकील बनने की इच्छा थी, किन्तु संचित ज्ञान से आत्ममंथन करने पर बालजक प्रसिद्ध लेखक बन गया, केवल पढ़े हुए विचारों को परिमार्जित रूप देने से । स्वाध्याय द्वारा विविध ज्ञान-संचय से सम्भावनाओं के अनुरूप चयन करके उसने विश्व को एक नई समन्वयपूर्ण विचार-धारा दी ।

विचार-चयन के पश्चात् तदनुरूप जीवन विकास की प्रक्रिया की योजना बनानी चाहिए, यह कार्य अनायास ही नहीं बन जाएगा । यह जादू की छड़ी नहीं है, जिसे घुमाने भर से आत्मिक विकास की योजना बन जाएगी । अनभ्यस्त को अभ्यस्त में उतारना अवश्यमेव वीरता का कार्य है । स्थिति-स्थापकता को बदल कर नये सिरे से नये आधार खड़े करने में सुदृढ़ आत्मबल एवं संकल्प की आवश्यकता है । स्वाध्याय के दौरान स्वाध्याय के एक अंग अनुप्रेक्षा करने से अभीष्ट लक्ष्य प्राप्ति की सुव्यवस्थित रूपरेखा एवं योजना बना कर चलने से अभिलक्षित मनोरथ सिद्ध होता है । तात्पर्य यह है कि आन्तरिक स्वाध्याय करते समय साधक को शास्त्रोक्त निम्नलिखित मुद्दों पर अपने अन्तरात्मा को तौलना चाहिए—

“बलं थामं च पेहाए, सद्धामारुग्गमप्पणो ।

खेत्तं कालं च विन्नाय, तहऽप्पाणं निउंजए ॥”<sup>1</sup>

साधक सर्वप्रथम अपनी शक्ति (आत्मबल), उत्साह, श्रद्धा और आरोग्य को देखे-परखे, तत्पश्चात् क्षेत्र और काल को विशेष रूप से जान कर अपनी आत्मा को उस लक्ष्य में नियुक्त कर दे।

तात्पर्य यह है पुस्तकों या ग्रन्थों का बाह्य स्वाध्याय करने के पश्चात् साधक को अन्तःस्वाध्याय करना चाहिए कि मेरी आत्मा इन पुस्तकों, ग्रन्थों या शास्त्रों में सूचित आत्मोत्कर्ष के उपायों में से किसे कितनी मात्रा में करने को तैयार है ? इसे पूर्ण करने में आने वाली कठिनाइयाँ तथा विघ्नबाधाएँ क्या-क्या हैं या आ सकती हैं ? उनके निवारण के क्या उपाय हैं ? कब, किस क्रम से, कौन-सा और किस तरह कदम उठाया जाए, जिससे लक्ष्य प्राप्ति तक की मंजिल पूरी की जा सके ? केवल कठिनाइयों और हानियों की बात सोचते रहने से मन हतोत्साह, निराश एवं छोटा हो जाता है, अवचेतन मन उसे टालने या अस्वीकार करने की भूमिका बना लेता है। अतः महापुरुषों द्वारा आदर्श एवं लक्ष्य को दृढ़तापूर्वक अन्त तक अपनाने पर उन्हें प्राप्त हुए सत्परिणामों पर विचार करना चाहिए, ताकि उस दिशा में गति-प्रगति करने का उत्साह, उत्कण्ठा एवं मनःस्थिति प्रबल हो सके।

**यथार्थ स्वाध्याय सत्साहित्य के माध्यम से ही**

स्वाध्याय के नाम पर आजकल अपनी साम्प्रदायिक या पारम्परिक लोकमूढ़ता भरी कथाओं, पुराणों, या कट्टरपंथी बनाने वाले ग्रन्थों का पारायण बहुधा देखा जाता है। ऐसे विवेकवान् कम हैं, जो यह समझकर स्वाध्याय करते हैं कि आज की आन्तरिक विकृतियों, कषायों, विषय-वासनाओं और समस्याओं का निराकरण करने के लिए युगानुरूप शक्य उपाय क्या हो सकते हैं ? बहुत-से कथा-पुराण आज से हजारों वर्ष पूर्व जो परिस्थितियाँ थीं, उनके अनुरूप बने हैं। अब न तो वे परिस्थितियाँ हैं और न उनसमाधानों या उपायों से काम चल सकता है। ऐसी स्थिति में स्वाध्याय के लिए विवेकबुद्धि और स्थितप्रज्ञता से ऐसे साहित्य को स्वयं चुनना चाहिए, जो समुचित सामयिक समाधान प्रस्तुत कर सके। घिसी-पिटी लकौर पीटने वाली, साम्प्रदायिक कट्टरता के पोषक, हिंसोत्तेजक, युगबाह्य, विकासघातक साहित्य को बार-बार घोटते-पीसते रहने से स्वाध्याय का प्रयोजन जरा भी सिद्ध नहीं होगा, केवल समय की बर्बादी होगी। अन्तरात्मा की उच्चस्तरीय भाव-संवेदना, उत्कृष्ट विचारणा, आदर्शानुरूप सत्क्रिया, सर्वांगीण स्पष्ट सम्यग्दृष्टि देने वाले तीनों रत्नत्रयतत्त्व जिस साहित्य में अन्न, जल और वायु



की तरह धुलेमिले हों तो समझना चाहिए, यह स्वाध्याय योग्य सत्साहित्य है। इससे आत्मिक क्षुधानिवृत्ति होगी और आत्मिक प्रगति की प्रेरणा मिलेगी।

### सर्वांगीण स्वाध्याय के पांच अंग

जैन शास्त्रों में स्वाध्याय के पांच अंग बताये गये हैं, ताकि स्वाध्याय सर्वांगीण हो सके और पूर्वोक्त उद्देश्य की पूर्ति कर सके। वे पांच अंग ये हैं—  
(१) वाचना, (२) पृच्छा, (३) परिवर्तना या पर्यटना, (४) अनुप्रेक्षा और (५) धर्मकथा।

**वाचना का अर्थ**—स्वयं पठन है। किन्तु जो व्यक्ति पढ़ा-लिखा नहीं है, स्वयं हेय-ज्ञेय-उपादेय तत्त्व का विवेक करने एवं निष्कर्ष निकालने में निपुण नहीं है, उसके लिए वाचना का अर्थ, दूसरों के द्वारा पढ़े जाते हुए सत्साहित्य का श्रवण करना है।

**पृच्छा**—केवल वाचन करने या वाचना लेने, अथवा साहित्य-श्रवण करने से ही स्वाध्याय का प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। कई बार साहित्य या ग्रन्थों में ऐसी बातें आती हैं, जो पूर्वापर-विरोधी जैसी लगती हैं, उस समय किस अपेक्षा से कौन-सी बात कही गई है? किस शब्द का कहाँ क्या अर्थ होगा? किस वाक्य के पीछे ग्रन्थकार का क्या आशय या रहस्य है? इसके लिए अनुभवी तत्त्वदर्शी मनीषियों से उस सम्बन्ध में जिज्ञासु बुद्धि से पूछना आवश्यक होता है। इससे साहित्य में वर्णित उक्त विषय मस्तिष्क में परिपुष्ट हो जाता है। इसे शास्त्रीय भाषा में पृच्छा कहा गया है। भगवती सूत्र में गणधर श्री गौतम स्वामी ने भगवान महावीर से अनेक विषयों पर प्रश्न पूछकर समाधान प्राप्त किया है। महात्मा गाँधीजी जब क्रिश्चियन साहित्य पढ़कर भारतीय धर्मों के विषय में सन्देहशील हो रहे थे, तो उन्होंने साधक श्रीमद् रायचन्द्रजी से २७ प्रश्न पूछे थे, जिनका युक्तिसंगत उत्तर पाकर उनकी श्रद्धा भारतीय धर्मों के प्रति सुदृढ़ हो गई।

**पर्यटना या परिवर्तना**—स्वाध्याय के द्वारा पढ़ी या सुनी हुई बातों को बार-बार दुहराना—आवृत्ति करना, उन बातों को पुनः पुनः स्मरण करना पर्यटना या परिवर्तना है। ऐसा करने से आत्मिक चिन्तन एवं कर्त्तव्य-विषयक मनःस्थिति सुदृढ़ होती है। इसे प्रतिदिन नियमित स्वाध्याय भी कह सकते हैं।

**अनुप्रेक्षा**—स्वाध्याय की हुई वस्तु पर चिन्तन-मनन और आत्म-समीक्षण—अनुप्रेक्षण करना अनुप्रेक्षा है। अनुप्रेक्षण से दो प्रयोजन सिद्ध होते हैं—(१) आत्मसमीक्षा और (२) आत्मशोधन। आत्म-समीक्षा में निष्पक्ष भाव से आत्मा में निहित गुणावगुणों एव शास्त्रविहित या साहित्योक्त आत्मा के निजी गुणों का तुलनात्मक विचार किया जाता है। आत्मशोधन में आत्मा के विषय में निष्पक्ष भाव से आलोचना, निन्दना (पश्चात्ताप), गर्हणा (समाज या गुरु के समक्ष दोषों का प्रकटीकरण), क्षमापना, प्रायश्चित्त (तप) तथा क्षतिपूर्ति एवं प्रत्याख्यान (त्याग) किया जाता है। इस प्रकार पूर्वकृत दुष्कर्मों की निर्जरा (आत्मशुद्धि) की जाती है।

**धर्मकथा**—जो लोग स्वयं पढ़ नहीं सकते या पठित वस्तु में से निष्कर्ष या उपादेय विवेक नहीं कर सकते, ऐसे लोगों के लिए धर्मकथा, प्रवचन श्रवण एवं सत्संग का प्रचलन इसी उद्देश्य से हुआ है। उसमें भी चारों प्रकार की विकथा से बचकर आक्षेपिणी, विक्षेपिणी, संवेगिनी, निर्वेदनी, इन चार सुकथाओं का श्रवण-कथन करना चाहिए।

स्वाध्याय के इन पाँचों अंगों से विकृतियों और दुष्प्रवृत्तियों का परिमार्जन करके मानसिक चेतना को उत्कृष्ट वातावरण प्रदान करना चाहिए।



## आत्म-भावना के मूलमन्त्र

अनात्म भावों में मग्न व्यक्ति

संसार में सभी प्राणी सुख और शान्ति चाहते हैं, सभी आनन्द की खोज में अनवरत लगे रहते हैं, किन्तु सभी का सुख समान नहीं है और न ही सभी के सुख की कल्पना समान है। दुष्ट प्रकृति के व्यक्ति विषय-सुख के लिए लालायित रहते हैं और उसी में आकण्ठ डूबे रहते हैं। उन्हें भविष्य की कोई चिन्ता नहीं रहती। इसके लिए वे मार-काट, चोरी, डकैती, ठगी, हत्या, आगजनी, बलात्कार, झूठ-फरेब आदि किसी भी पापकर्म को करने से नहीं चूकते। दूसरे के हित की, परमार्थ की या परकल्याण की बात उनकी कल्पना में आती ही नहीं। वे एक प्रकार से जाति, कुल, बल, लाभ, ऐश्वर्य आदि मदों में उन्मत्त होकर मनमानी चेष्टा करते हैं। धर्म कर्म की कोई भी बात उन्हें नहीं सुहाती। आत्महित या आत्मकल्याण की बात वे सुनना तक नहीं चाहते। वे इन्द्रियों के गुलाम, अज्ञानी मूढ़ मानव भोगों के लिए ही जीते हैं और पूर्वकृत पुण्य के फलस्वरूप प्राप्त क्षुद्र भोगों में ही रचे-पचे रहते हैं। अन्त में, वे उसी में रोते-झींकते पच-पच कर स्वाहा हो जाते हैं।

यह स्थिति उन मनुष्यों की है, जो आत्म-भावना से बिलकुल दूर हैं। जो अनात्मभावों में आकण्ठ मग्न हैं, दूसरे प्राणियों के जीवन का कोई मूल्य वे नहीं आँकते। अपने ही क्षुद्र स्वार्थ और उसकी पूर्ति में अहर्निश लगे रहने वाले आसुरी लोगों की यह स्थिति है। ऐसे व्यक्तियों को उपनिषद्कार आत्मघाती और अन्धतमस नरकगामी कहते हैं—

‘असूर्या नाम ते लोका, अन्धेन तमसावृताः ।

तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति, ये के चात्महनो जनाः ॥<sup>1</sup>

१ ईशावास्योपनिषद् ।

जहाँ सूर्य का प्रकाशन हीं है वे असूर्य नामक लोक हैं, जो अन्धतमस से आवृत हैं, वहीं मर कर वे लोग जाते हैं, जो आत्मघातक हैं। वास्तव में, ऐसे व्यक्तियों का इहलौकिक जीवन भी नारकीय ही है, सभी उनकी भर्त्सना करते हैं। फिर भी लोकनिन्दा और घृणा के पात्र बनकर वे समाज में दयनीय जीवन जीते हैं। दूसरों को कष्ट और क्लेश पहुँचा कर अपनी सुख-शान्ति की उनकी कल्पना दुष्कल्पना है। उनका सुख का मनोरथ बहुधा मरुभूमि में मृगमरीचिका के समान आपातरमणीय लगता है। मगर उन्हें ऐसे दुष्कर्म करने में स्वयं को दुःख, भय, शारीरिक कष्ट, आतंक, राजदण्ड एवं क्लेश की जिन्दगी बितानी पड़ती है। उन्हें अपराधी मनोवृत्ति के कारण रात-दिन अपना मुँह छिपाना पड़ता है। चारों ओर भय, आशंका और यातना से वे घिरे रहते हैं। उनके सिर पर पापों का एक भारी-भरकम गट्टर सवार हो जाता है। उसका दण्ड उन्हें प्रायः इस लोक में भी मिल जाता है और परलोक में तो उन्हें नरक गति और अधमयोनि प्राप्त होती ही है। उत्तराध्ययन सूत्र भी इसी तथ्य का समर्थन करता है—

“तओ आउपरिक्खीणे, चुयदेहा विहिंसगा ।  
आसुरियं दिसं बाला, गच्छंति अवसा तमं ॥”<sup>१</sup>

इतने सब पापकर्म करने के पश्चात् पाप कर्मों से भारी वे हिंसक एवं अज्ञानी प्राणी आयुष्य के क्षीण हो जाने पर शरीर छूटते ही विवश होकर अन्धतमस नामक आसुरी (असूर्य) नरकगति में जाते हैं।

निष्कर्ष यह है, ऐसे अनात्म भावनाग्रस्त लोगों का न तो जीवन ही सुखकर होता है, न मृत्यु ही सुखद होती है, परलोक में भी उनका जीवन भयंकर वेदनाओं से ग्रस्त होता है। उत्तराध्ययन सूत्र इस बात का साक्षी है—

“सुया मे नरए ठाणा, असीलाणं च जा गई ।  
बालाणं क्रूर कम्माणं, पगाढा जत्थ वेयणा ॥”<sup>२</sup>

‘जो अज्ञानी और क्रूरकर्मा हैं, उन कुशीलों का स्थान मैंने नरक में सुना है, जो कि उनकी गति है, जहाँ उन्हें प्रगाढ़ वेदना—यातना मिलती है।

१ उत्तरा० अ० ७ गा० १०

२ उत्तरा० अ० ५ गा० १२

यह स्पष्ट है कि अधिकांश मानव तुच्छ स्वार्थ और प्रगाढ़ लोभ के वश दुष्कर्म करते हैं, वे दूसरे प्राणियों के जीने-मरने, सुख पाने, न पाने का जरा भी विचार नहीं करते। इसीलिए उनकी दुर्गति होती है।

लक्ष्य-पथ से भूले-भटके ये मानव आत्मभावना से कोसों दूर हैं। ये केवल शरीर, मन, बुद्धि और इन्द्रियों के भौतिक जगत के लालन-पालन और इन्हीं से प्राप्त क्षणिक वैषयिक सुख में व्यस्त रहते हैं। आत्मभावना न होने के कारण ही ऐसे लोग दूसरे मानवों तथा अन्य प्राणियों की जिन्दगी को कुचलने, पीड़ित करने और उनकी जिन्दगी से खिलवाड़ करने में जरा भी नहीं हिचकिचाते।

### आत्मभावनाशील मानव का चिन्तन

आत्मभावना वाला मानव, अपने अच्छे-बुरे कर्मों का उत्तरदायी स्वयं को मानता है। इसलिए वह दूसरे मानवों या अन्य प्राणियों के साथ व्यवहार करते समय विचार करता है, अगर मैं दूसरे जीवों या अन्य मानवों के साथ क्रूर या दुष्ट व्यवहार करूँगा तो उस दुष्कर्म का फल मुझे ही भोगना पड़ेगा। इसके अतिरिक्त वह यह भी सोचता है कि जितना-जितना मैं आत्मा के निजी गुणों को या आत्मभावों को छोड़कर परभावों में अर्थात् राग, द्वेष, मोह, कषाय, काम आदि में या शरीर और शरीर से सम्बन्धित सजीव-निर्जीव पदार्थों में आसक्तिभाव रखूँगा, उतने-उतने दुष्कर्मबन्ध होंगे और उनके कटुफल मुझे अकेले को ही भोगने पड़ेंगे।

इससे ऊपर उठकर आत्मभावनापरायण व्यक्ति का यह चिन्तन भी सुदृढ़ होता है कि अपने सुख-दुःख, सौभाग्य-दुर्भाग्य, अच्छी-बुरी स्थिति, अच्छे-बुरे परिवार, अच्छे-बुरे कुल, अच्छे-बुरे संयोग, लाभ-अलाभ आदि का उत्तरदायी भी वह स्वयं है, उसके द्वारा ही पूर्वकृत कर्मों के फल हैं। जब भी आकस्मिक संकट, दुःख, विपत्ति या कष्ट आ पड़ते हैं तो वह परमात्मा, देव, काल, देश या किसी व्यक्ति आदि निमित्त को नहीं कोसता, वह अपने उपादान को ढूँढ़ता है और अपनी आत्मा द्वारा किये हुए कर्मों का फल मानकर समभाव से सहता है।

उत्तराध्ययन सूत्र में इसी तथ्य को स्पष्ट रूप से उजागर किया गया है—

“अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य।

अप्पा मित्तममित्तं च, दुप्पट्ठियो सुप्पट्ठियो ॥”<sup>1</sup>

आत्मा ही अपने सुखों और दुःखों का कर्त्ता है। आत्मा अपने आत्मभाव में सुप्रतिष्ठित होता है, तब वह अपना मित्र होता है और आत्मभाव से हटकर परभावों में दुष्प्रतिष्ठित होता है, तब वह अपना शत्रु बन जाता है।

‘छान्दोग्य उपनिषद्’ में शास्त्रकार ने एक कथोपकथन प्रस्तुत किया है। ‘श्वेतकेतु’ के पिता उसे समझाते हुए कहते हैं—

“य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह्यत्ते कपूययोनिमापद्येच्छूयोनि वा शूकरयोनि वा चाण्डालयोनि वा ।”

जो अधम कृत्य और दुष्ट आचरण वाले होते हैं, वे अधम योनि प्राप्त करते हैं, वे या तो कुत्ते और सूअर की योनि प्राप्त करते हैं, या फिर चाण्डाल योनि।

**सृष्टि का जीव-शिरोमणि मानव भी आत्म-भावनाहीन**

इस सृष्टि में मानव के अतिरिक्त अनेकों जीव हैं। जिनमें शेर, हाथी, भालू, मोर, कौआ, तीतर, सर्प, मछली, कुत्ते आदि बड़े-बड़े पंचेन्द्रिय जीव भी हैं। इनमें से शक्ति में शेर, हाथी आदि मनुष्य से बड़े हैं। कई सौन्दर्य में और कई घ्राणशक्ति में और कई स्वर में मनुष्य से बढ़कर हैं। किन्तु यह सब होते हुए भी दूसरे प्राणियों में मनुष्य के समान स्व-पर-हित-चिन्तन एवं स्व-पर-कल्याण का चिन्तन करने की शक्ति नहीं है। यद्यपि उन जीवों में आहार, भय, परिग्रह और मैथुन की संज्ञा विद्यमान है, जो कि मनुष्य में भी है, तथापि कतिपय मनुष्यों में इन चारों संज्ञाओं को अल्प करने, मर्यादित करने और सर्वथा त्याग करने की क्षमता भी निहित है; मनुष्येतर पंचेन्द्रिय प्राणियों में आत्मभावना प्रायः नहींवत् होती है, जबकि मनुष्य अपनी बौद्धिक क्षमता के अनुसार चाहे तो ‘आत्मवत् सर्वभूतेषु’ आत्मौपम्य एवं आत्मकल्याण की भावना कर सकता है। मनुष्य में ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य और तप की स्वाभाविक शक्तियाँ विद्यमान हैं; जो कि आत्मभावना से ही प्रादुर्भूत होती हैं। इसके अतिरिक्त मनुष्य में सेवा, परोपकार, क्षमा, दया, करुणा, सत्य, अहिंसा, त्याग, ब्रह्मचर्य आदि की भी महान शक्तियाँ छिपी हुई हैं। इतनी अत्यधिक शक्तियाँ होते हुए भी यदि मनुष्य आत्मकल्याण के लिए इनका सदुपयोग न करे और अन्य जीवों की तरह आहारादि संज्ञाओं में ही प्रवृत्त रहे, अपने तुच्छ स्वार्थों के लिए दूसरे प्राणियों को सताने व पीड़ा देने में ही रचा-पचा रहे तो उसका सुर-

दुर्लभ मानवजन्म पाना, न पाना एक समान है। यह मनुष्य को बुद्धि का दिवाला ही समझा जाएगा कि वह अपनी लक्ष्य प्राप्ति के मूल उद्देश्य को भूल कर अन्यत्र भटक गया है।

वास्तव में देखा जाए तो मनुष्य अपने सौभाग्य-दुभाग्य एवं सुख-दुःख का निर्माता स्वयं ही है, उसका श्रेय या दोष दूसरों को देना यथार्थ नहीं है। पूर्वजन्म में या इस जन्म में भी पहले अज्ञान, राग-द्वेष या मोह के वश जीव जो अशुभ कर्म करता है, उसी का फल उदय में आता है, तब दुःख प्राप्त होता है। जिसने पहले शुभ कर्म किये होते हैं, उसका फलभोग सुख-सौभाग्य के रूप में सामने आता है, इसके विपरीत जिसने पहले दुष्कर्मों-पापकर्मों की गठरी बांधी, उसका फलभोग दुःख-दौर्भाग्य के रूप में प्रत्यक्ष होता है। अतः दुःख या विपत्ति आदि दुर्भाग्यों का कारण कोई बाहरी व्यक्ति, परिस्थिति, काल, देश, ग्रह-नक्षत्र, देव-दानव या भगवान नहीं होता। उसके कारण मनुष्य के अपने ही स्वकृत कर्म होते हैं। आत्म-भावना से हीन मनुष्य इस सत्य को नहीं जान पाता, अथवा जानकर भी उपेक्षा करता है, जबकि आत्मभावनापरायण व्यक्ति इस सत्य को श्रद्धा-पूर्वक स्वीकार करके हृदयंगम कर लेता है, इसी कारण वह अपने आचार-विचार, व्यवहार, आहार-विहार आदि सभी मानसिक-वाचिक-कार्यिक प्रवृत्तियों (व्यापारों) पर विचार करता है। वह प्रत्येक कार्य सावधानीपूर्वक करता है, प्रत्येक कदम फूँक-फूँक कर रखता है। वह अपने अन्दर अपनी कमियों, त्रुटियों और भूलों को खोज सकता है और यदि उनमें से कोई है तो उन्हें सुधार सकता है। अपना दोष दूसरे के सिर पर मढ़ने से, अपना उत्तरदायित्व दूसरों के कन्धों पर डाल देने से मनुष्य की दृष्टि अपनी ओर जाती ही नहीं। फलतः ऐसा आत्मभाव-हीन मानव न तो आत्म-सुधार में तत्पर होता है और न अपने दुष्कर्मों का फल समभावपूर्वक भोग सकता है। यह तो उसी तरह है, जैसे किसी उद्दण्ड लड़के ने अपने असंयम और कुकर्मों से अपने लिए दुःखद स्थिति उत्पन्न कर ली, किन्तु दोष देता है अपने पिता को। कोई भी समझदार पिता अपने पुत्र का अहित नहीं चाहता। क्या पिता यह चाहेगा कि मेरा पुत्र दुःख पाए, रुग्ण हो या संकट में पड़े ?

**आत्मा की आवाज को मानना भी आत्म भावना है**

आत्मभावनाशील पहले तो पापकर्म में प्रवृत्त ही नहीं होता। जब

भी प्रवृत्त होने लगता है तो उसकी अन्तरात्मा पुकारती है—‘यह बुरा काम है, मत करो इसे। इसके करने से दुःख है। पापकर्म का आदि, अन्त और वर्तमान सदा ही दुःखकर है।’

सचमुच अन्तःकरण में पापकर्म के संकल्प का उदय होते ही आत्मा में बेचैनी पैदा होने लगती है। मनुष्य की अन्तरात्मा बार-बार पुकार करती है कि तेरा यह सकल्प, यह विचार या यह भाव उचित नहीं, इनकी पूर्ति तेरे लिए दुःखद एवं अकल्याणकर परिस्थितियाँ उत्पन्न करेंगी। पापकर्म के समय मनुष्य की आत्मा का यह अन्तर्द्वन्द्व बड़ा दुःखद, कष्टकर और मानसिक संक्लेश करने वाला होता है। उसका विवेक उसे बार-बार धिक्कारता और भर्त्सना करता है। ऐसे में मनुष्य सुख-चैन की नींद खो देता है।

यह तो हुई अन्तर्द्वन्द्व की बात। अन्तरात्मा की आवाज को दबाकर प्रत्यक्ष रूप में पापकर्म में प्रवृत्त होने वाले को बाह्य दुःख भी कम नहीं भोगना पड़ता। उसे समाज से छिपाने, एक झूठ के लिए अनेक झूठ गढ़ने, राजदण्ड से डरने, अपयज्ञ, अपवाद और कलंक से बचने के लिए प्रयत्न करने में उसे कितना कष्ट होता होगा? इसका अनुमान उसकी उस समय की मनःस्थिति और परिस्थिति से लगाया जा सकता है। पापकर्म जब खुल जाते हैं, तब कोर्ट, पुलिस, जेल आदि की सजाएँ भुगतनी पड़ती हैं। लोकापवाद और लांछन की आग में जलना पड़ता है। कई बार तो बेईमानी की कमाई घर की श्रम से उपार्जित सारी पूँजी को भी ले डूबती है, और दरिद्र बना देती है। बेईमानी से धन कमाने तथा साधन-सम्पत्ति संचित करने वाले किसी भी व्यक्ति को सुखचैन की श्वास लेते नहीं देखा। और न ही किसी चोर, डाकू या लुटेरे को अपहरण की हुई वस्तु को निश्चित होकर भोगते देखा है। चोरी-डकैती का माल उसकी छाती पर बैठे सर्प की तरह उसे हरदम डराता रहता है। बाहर से साहूकार बन कर भी बेईमानी, तस्करी और कालावाजारी से धन कमाने वाले की सारी वृत्तियाँ चोर जैसी ही निकृष्ट एवं निम्न कोटि की हो जाती हैं। ऐसी स्थिति में कौन-सी दुर्दशा नहीं होती। अतः आत्मा की आवाज को दबाकर अर्जित धन, साधन, वैभव और ऐश्वर्य से सुख-शान्ति, प्रसन्नता या प्रफुल्लता नहीं देती। इनका होना, न होने के समान है। पाप अपने स्वभावानुसार पापी अन्तरात्मा को कचोटता रहता है। वह अपने आश्रयदाता को इस जन्म में तो खाता ही रहता है, जन्म-जन्मान्तरों में भी पीछे लगकर परलोक को बिगाड़ता है, वहाँ भी



कष्ट देता है। आत्म-भावना से हीन व्यक्ति ही अन्तरात्मा की आवाज क गला मसोस कर पापकर्मों में प्रवृत्त होते हैं और पूर्वोक्त प्रकार से दुःख होते रहते हैं।

### आत्मभावना का महत्वपूर्ण पहलू

आत्मभावनाशील व्यक्ति 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की भावना से ओत प्रोत होता है। उसका सदा यह चिन्तन रहता है कि जैसी तेरे में आत्म विद्यमान है, उसी प्रकार समस्त प्राणियों में है। जैसे तू सुख चाहता है, दुःख पसन्द नहीं करता, वैसे ही दूसरे प्राणी भी सुख चाहते हैं, दुःख सबको अप्रिय है। सभी को अपनी जिदगी प्रिय है, कोई भी नहीं चाहता कि मेरी जिदगी नष्ट हो जाए। अतः किसी के प्राणों को नष्ट करने का मतलब है अपने ही प्राणों को खतरा पहुँचाना; क्योंकि उसके फलस्वरूप घोर कर्मबन्ध होने से उसका दुःखद प्रतिफल भी भोगना पड़ता है। अतः आत्मभावनाशील व्यक्ति अपनी आत्मा के समान सभी की आत्मा को मानता है। जो समस्त प्राणियों को आत्मतुल्य दृष्टि से देखता है, उसके मन में किसी भी जीव-जन्तु के प्रति दुर्भाव नहीं पैदा होता, बल्कि नीच योनि वाले जीव-जन्तुओं को देखकर उसके मन में करुणा पैदा होती है कि ये बेचारे अपने पूर्व कर्म वश नीची योनियों में पैदा हुए हैं। सभी प्राणियों में वही शुद्ध आत्मा—परमात्मा विराजमान है, केवल ऊपर का कर्मों का आवरण न्यूनाधिक होने से इनकी ऐसी आस्था है। यही कारण है कि भगवान् महावीर ने चण्डकौशिक सर्प को भी पूर्वजन्म के साधु की आत्मा के दर्शन कराये थे नरसिंह मेहता ने एक कुत्ते में भगवान् का रूप देखा था, और उसे अपने जैसी घी से चुपड़ी हुई रोटी देने के लिए उसके पीछे दूर तक दौड़े थे। सन् एकनाथ ने भगवान् को चढ़ाने के लिए कावड़ में लिया जल मार्ग में हँप्यासे गधे में भगवद्रूप मान कर उसे पिला दिया था। रमण महर्षि जिस पर्वत की गुफा में रहते थे, वहाँ अनेक सांप भी रहते थे। परन्तु उन्होंने साँपों में भी अपने समान विराजमान आत्मा देखी, किसी को भी छेड़ नहीं। इसलिए किसी भी साँप ने उन्हें भी कुछ नहीं कहा। अतः आत्मभावनाशील मानवों की अन्तःप्रार्थना है—

“सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वं सन्तु निरामयाः।

सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चिद् दुःखभाग भवेत् ॥”

“सभी सुखी हों, सभी निरोग हों, सभी कल्याण का मार्ग देखें, को भी दुःख का भागी न हो।”

वस्तुतः किसी को दुःख न मिले, त्रास न दे, सबके साथ मधुरता और आत्मीयता का व्यवहार ही परमात्मा की सेवा-पूजा है ।

### आत्मभावना को अधूरी न समझो

यद्यपि बाघ, सिंह, अजगर आदि में भी वही आत्मा विद्यमान है, जो मनुष्य में है, किन्तु उनके क्रूर स्वभाव को देखते हुए सामान्य आदमी आत्म-तुल्य भाव रखते हुए भी उनके साथ अपने समान व्यवहार नहीं कर सकता, किन्तु इससे आत्मभावना को अपूर्ण नहीं समझना चाहिए । संसार में ऐसे व्यक्तियों के आज भी प्रत्यक्ष उदाहरण मौजूद हैं, जिन्होंने सिंहों, चीतों, सांपों और हाथियों आदि का भी अपनी आत्मीय भावना से क्रूर स्वभाव बदल दिया । अतः आत्म-भावना अव्यवहार्य नहीं, व्यवहार्य है । जो व्यक्ति आत्मभावना के अनुरूप पूर्णतया व्यवहार नहीं कर सकते, उन्हें भी आत्म-भावना का लाभ मिलेगा ही । आत्म-भावना मनुष्य को सन्मार्गगामी बनाती है, उसे कोई भी दुष्कर्म करने से रोकती है और उसकी आन्तरिक शक्तियों को विकसित कर पारमार्थिक लक्ष्य की ओर अग्रसर करती है । आत्मभावना की भावनात्मक प्रक्रिया अन्तर्मुखी—आत्मलक्ष्यी होना है । इसे क्रिया द्वारा तभी व्यक्त किया जा सकता है, जब वैसे उत्कृष्ट आत्मभाव पहले से अन्त-स्तल में जमे हुए हों । स्वामी रामकृष्ण परमहंस का कहना था कि अद्वैत- (आत्मैकत्व) दृष्टि भाव में है, क्रिया में नहीं । किन्तु भाव में होने पर वह क्रिया में आ सकती है । तात्त्विक दृष्टि से गाय और बाघ दोनों में आत्मा समान है । किन्तु आत्मभावना न होने से बाघ गाय को खा जाता है । इसी प्रकार जिस मनुष्य में आत्माद्वैत (आत्मैकत्व) की भावना नहीं आती, उसके द्वारा समय-समय पर मानसिक हिंसा होती रहती है, जिसका फल उसे कायिक हिंसा से भी बढ़कर भोगना पड़ता है । किन्तु आत्मभावनाशील व्यक्ति के आत्मभाव के चिन्तन से उसकी मानसिक चिन्ताएँ नष्ट हो जाती हैं ।

### आत्मभाव की साधना में जागरूकता

आत्मभाव की साधना करने वाले व्यक्ति को देह और देह से संबंधित सजीव एवं निर्जीव पदार्थों को परभाव एवं नाशवान समझ कर उनके प्रति आसक्ति, ममता या तृष्णा नहीं रखनी चाहिए । बल्कि भेदविज्ञान की दृष्टि से ऐसा विचार करना चाहिए—

“एकः सदा शाश्वतिको ममाऽत्मा ।

विनिर्मलः साधिगमस्वभावः ॥

बहिर्भवा, सन्त्यपरे समस्ताः ।  
न शाश्वताः कर्मभवाः स्वकीयाः ॥”<sup>१</sup>

‘एकमात्र मेरो आत्मा सदा शाश्वत है, निर्मल है और ज्ञानस्वरूप है शेष सभी शरीरादि पदार्थ बहिर्भाव—परभाव हैं, शाश्वत नहीं हैं, कर्ममल से जनित हैं, जिन्हें स्वकीय मान रखा है ।’

जिस प्रकार तलवार और म्यान दोनों पृथक्-पृथक् हैं । म्यान केवल तलवार की सुरक्षा के लिए है, वैसे ही आत्मा और शरीर दोनों पृथक्-पृथक् हैं । दोनों का स्वभाव भी अलग-अलग है । अतः आत्मभाव के साधक को चाहिए कि वह निर्दोष अनन्त शक्तिमान आत्मा को प्रत्येक प्रवृत्ति में शरीर से भिन्न समझे । आत्मा को ही मुख्य रखकर प्रवृत्ति करे । आत्मा को शरीर, इन्द्रियाँ, मन आदि का गुलाम न बनाकर इन्हें अपनी सेवा में लगाए, ज्ञानादि की साधना में सहायक बनाए । आत्मभाव का साधक मन को बुली छूट और स्वच्छन्दता नहीं देता । जब भी मन उच्छृंखल और विषयों की ओर आसक्त होने लगे तभी तुरन्त उसे आत्मचिंतन की ओर मोड़ देता है । विषय-कषायादि या रागद्वेष-मोह, काम आदि परभावों की ओर जाते हुए मन को शीघ्र ही स्वभाव में, आत्मगुणों में, आत्मसेवा में प्रवृत्त कर देता है । बुराइयों एवं दुर्गुणों के प्रति विरक्ति भावना एवं त्यागवृत्ति अपनाता है । मन का यह स्वभाव है कि उसे आत्मगुणों एवं आत्मभावों में लगाने का बार-बार अभ्यास करा देने से वह आत्मा की आज्ञा का पालन करने लगता है । आत्मभाव के इस प्रकार के अभ्यास में इन्द्रियाँ और बुद्धि बाधक नहीं बन सकेंगी, क्योंकि आत्मभाव का साधक बार-बार आत्मभाव का मनन करेगा तो उसकी अन्तर्मुखी दृष्टि जाग्रत हो जाएगी । उसे बाहर के संसार में, परिवार, देह, गेह, धन आदि में कोई आसक्ति नहीं रहेगी । वह यही चिंतन करेगा—

यस्यास्ति नैक्यं वपुषाऽपि सार्धं, तस्यास्ति किं पुत्र-कलत्र-मित्रं ।  
पृथक्कृते चर्मणि रोमकूपाः, कुतो हि तिष्ठन्ति शरीरमध्ये ?<sup>२</sup>

जिस आत्मा का शरीर के साथ भी एकत्व नहीं है, उसका पुत्र, स्त्री या मित्र आदि के साथ एकत्व कैसे हो सकता है ? चमड़ी से रोमकूपों को पृथक् करने पर वे पुनः शरीर के मध्य कहाँ रहते हैं ?

- १ अमितगतिसूरिरचित सामायिक पाठ ।
- २ अमितगतिसूरिरचित सामायिक पाठ ।

वह परिवार या संघ के साथ रहता हुआ भी इनसे अलिप्त, मोह-रहित एवं अनासक्त तथा निःस्पृह रहेगा। फिर उसे अपनी प्रसिद्धि, प्रतिष्ठा, भक्तों एवं दर्शनार्थियों की भीड़ आदि से प्रायः विरक्त हो जाएगी। उसके जीवन में आत्मकल्याण की निश्चयात्मक दृष्टि ही प्रधानता ले लेगी। इस प्रकार की आत्मभावना से अन्तःकरण को भावित करने से साधक केवलज्ञान को प्राप्त कर लेता है।

कहा भी है—

**आत्मभावना भावतां जीव लहे केवलज्ञान रे ।**

भगवती सूत्र आदि आगमों में आत्मार्थी साधकों का जहाँ-जहाँ वर्णन आता है, वहाँ उनके लिए कहा गया है—

**‘संजमेण तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ ।’**

‘वह संयम और तप से अपनी आत्मा को भावित करता हुआ विहरण करने लगा ।’

शास्त्रों में आत्मभावनानिष्ठ साधक को ‘भावितात्मा’ कहा गया है। इससे भी आत्मभाव की महत्ता एवं गरिमा का बोध होता है।

आत्मभावना से रहित व्यक्ति बहिरात्मा बनकर बाह्य भावों का चिंतन करता रहता है। सांसारिक विषयों का चिंतन उसकी शारीरिक और बौद्धिक क्षमता को घटा देता है। विषयों के त्याग का ज्योंही विचार किया जाता है, त्योंही वे उसे अधिकाधिक अपनी ओर खींचते हैं। फिर उसका नैतिक पतन, मानसिक खेद होता है, चिंतन शक्ति नष्ट हो जाती है। अतः गृहस्थ वर्ग और साधुवर्ग सभी के लिए आत्मभावना ही सब दृष्टियों से श्रेयस्कर है। वही मुक्ति के लक्ष्य को प्राप्त कराती है।



## साहस की विजय-भेरी

### साहसी व्यक्तियों की उत्कृष्ट वृत्ति

अध्यात्म की प्रथम शिक्षा अपनी आत्मशक्तियों को पहचानना, अपनी महत्ता को समझना और उनके सदुपयोग में एकाग्रतापूर्वक जुट जाना है। अध्यात्म-साधना के पथिक अपनी क्षमताओं को समझते और विकसित करते ही हैं, साथ ही वे इतना साहस करते हैं कि अपनी विभूतियों या उपलब्ध ऋद्धि-सिद्धियों का उपयोग सीमित क्षेत्र तक न करके उत्कृष्टता और आदर्शवादिता अथवा अन्तिम लक्ष्य प्राप्ति के व्यापक क्षेत्र तक करते हैं। ऐसे साहसी व्यक्ति ही स्व-परकल्याण का, शाश्वत शान्ति का और जीवन-लक्ष्य-पूर्ति का प्रयोजन पूर्ण करते हैं।

### जो संघर्षों से नहीं कतराता, वही सर्वोपरि साहसी

कार्य छोटा हो या बड़ा, आध्यात्मिक हो या सांसारिक सभी में मुसीबतें और विघ्न-बाधाएँ आया करती हैं। इनसे बचने या कतराने से सफलता की मंजिल तक पहुँचना असम्भव है। लक्ष्य-पथ की इन रुकावटों का डटकर सामना करना वीरोचित साहस का कार्य है। आत्मविकास या धर्माचरण में पुरुषार्थ के पथ पर चलते हुए विघ्न-बाधाओं का आना स्वाभाविक है। परन्तु जो कायर और कापुरुष होते हैं, वे इन विघ्नों से हार मानकर उद्यम करना छोड़ देते हैं; किन्तु सर्वोपरि साहसी वही है, जो इन विघ्नों और संघर्षों से कतराता नहीं।

### कष्ट और कठिनाइयों के पथ पर चलने में साहस आवश्यक

मनुष्य के जीवन की दो दिशाएँ होती हैं—एक सामान्य जीवन क्रम की और दूसरी असामान्य जीवन क्रम की। खाना-पाना, सोना, उठना

चलना-फिरना, धन कमाना, विलास के साधन जुटाना, रोग, शोक, भय, ईर्ष्या, द्वेष आदि के क्षण सभी के जीवन में प्रायः आते हैं। यह सामान्य जीवन क्रम है। जीवन क्रम की दूसरी दिशा असामान्य जीवन क्रम की है। वह कष्ट और कठिनाइयों की, त्याग और तप की, संयम और वैराग्य की, क्षमा और समता की दिशा है। जब मनुष्य पूर्वोक्त सामान्य जीवन क्रम को प्रधानता न देकर कष्ट और कठिनाइयों के उज्ज्वल असामान्य जीवन क्रम को अपनाता है, तब उसमें साहस की आवश्यकता होती है। साहस के बिना केवल ढर्रे का जीवन जीने वाले या कूपमण्डूक के समान पेट और प्रजनन की सामान्य आवश्यकताओं की पूर्ति में ही सन्तुष्ट रहने वाले व्यक्ति अपने लक्ष्य-पथ में आगे नहीं बढ़ पाते। साहसहीन व्यक्ति आध्यात्मिक विकास भी नहीं कर पाते। वे असामान्य जीवन क्रम को अपनाने से डरते हैं, अनेक संशयों से हरदम घिरे रहते हैं।

वस्तुतः साहस का धनी व्यक्ति अकेला ही सैकड़ों को मात दे सकता है। वह कष्टों और कठिनाइयों से, तप और त्याग से घबराता नहीं। अपनी परिस्थितियों और आलोचनाओं से घबराकर वह अपने कर्त्तव्य एवं दायित्व से च्युत नहीं होता। फल मिले या न मिले, वह हृदनिश्चयपूर्वक अन्त तक अपने निर्धारित सुपथ पर डटा रहता है। वह शुभ कार्य में विफलता, विपत्ति, विघ्न-बाधा या आलोचनाओं की परवाह नहीं करता। साहसी व्यक्ति हृदतापूर्वक कार्य का निश्चय कर लेता है फिर अपनी समग्र शक्तियों को उसी में जुटा देता है। वह सुनिश्चित मार्ग पर पूरे आत्मबल के साथ चल पड़ता है, पीछे मुड़कर नहीं देखता कि मेरे पीछे कोई आ रहा है या नहीं ?

### सर्वोपरि साहस ही महान कार्य का परिचायक

संसार में कुछ कार्य इतने महान एवं तप-त्यागपूर्ण होते हैं कि उसके लिए उत्कृष्ट साहस की आवश्यकता होती है। ऐसे महान कार्यों के लिए दूसरी सभी वस्तुओं का उत्सर्ग करने का साहस जुटाना पड़ता है। जैसे— देश की रक्षा के लिए कुछ लोग परिणाम की बात सोचे बिना कूद पड़ते हैं। वैज्ञानिक अपने देश की शक्ति एवं समृद्धि बढ़ाने के लिए अपने जीवन को खतरे में डाल कर महत्वपूर्ण शोध और प्रयोग करते रहते हैं। देवत्व के लिए महर्षि दधीचि का अस्थिदान, राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के लिए महात्मा गाँधीजी आदि महान आत्माओं का बलिदान, सत्य के लिए

हरिश्चन्द्र राजा का राज्य, धन-धाम एवं साधनों का त्याग, मानवता की प्रति-स्थापना के लिए गौतम बुद्ध का त्याग, आदि सब कार्य उत्कृष्ट साहस के परिचायक हैं। इसी प्रकार विश्व हित के लिए अपने सर्वस्व सुखों, स्वार्थों, सुख साधनों, यहाँ तक कि तन, धन, जन, परिजन, भवन, धन-धान्य, बँभव, विलास आदि का त्याग सर्वोपरि साहस का लक्षण है। वस्तुतः मनुष्य के मूल्यांकन की कसौटी 'साहस' है। इसी से उसकी महानता की प्रतीति होती है।

**मनुष्य के उत्कृष्ट व्यक्तित्व का नायक : साहस**

सेना सब प्रकार से सुसज्जित हो, किन्तु उसका नायक न हो तो वह भलीभाँति नहीं लड़ सकती। ऐसी सेना को अस्त-व्यस्त होकर पराजय का मुख देखना पड़ता है। इसी प्रकार बलिष्ठ शरीर, बुद्धि, पाण्डित्य आदि सब कुछ होने पर भी जीवन-समर में यदि साहस का नेतृत्व नहीं है, तो वह पराजित और असफल हो जाता है। साहस ही मनुष्य के व्यक्तित्व का नायक है। वही उसकी समस्त शक्तियों का प्रतिनिधित्व करके उन्हें उप-युक्त स्थान पर कार्य करने में लगाता है। सद्गुणों को सामाजिक एवं आध्यात्मिक जीवन में रमाने तथा अभिव्यक्त करने के लिए तथा अपने अन्तिम लक्ष्य को शीघ्र प्राप्त करने के लिए साहस की आवश्यकता होती है।

**परीषह सहन करने की क्षमता साहस से ही**

यों देखा जाए तो नरक और तिर्यञ्च गति के जीव भूख, प्यास, अपमान, सर्दी-गर्मी आदि अगणित शारीरिक कष्ट और मानसिक दुःख सहन करते हैं, परन्तु वे सहते हैं, लाचारी से, विवशता से, पराधीनता से, अज्ञान और मोह के वशीभूत होकर; यदि वे उन्हीं कष्टों को समभावपूर्वक तप एवं धर्म समझकर सहन करें तो उनका वह कष्ट सहन सकाम निर्जरा (कर्मक्षय) की कोटि में आ सकता है। इसी प्रकार कोई भी गृहस्थ या साधु इन्हीं कष्टों को रोते-झींकते या चीखते-चिल्लाते नहीं, किन्तु वीरता-पूर्वक समभाव से तप एवं धर्म समझ कर सहते हैं, तो उनका वह कष्ट सहन—परीषह-सहन सकाम निर्जरा का कारण बनता है। परन्तु इस प्रकार से परीषह-सहन करने की क्षमता साहस से आ सकती है। साहस का सम्बल न हो तो साधक बीच में ही उस कष्ट से भाग छूटेगा, अपने संयम मार्ग को छोड़कर सुख-सुविधापूर्ण पथ को स्वीकार कर लेगा।

संसार में जितनी भी महासतियाँ हुई हैं उन पर बड़े-बड़े कष्ट आए हैं, किन्तु उन कष्टों का सामना उन्होंने साहस से ही किया है। राम, कृष्ण, बुद्ध, महावीर आदि महान व्यक्तियों पर कम संकट नहीं आए, परन्तु उन्होंने सभी संकटों को साहस के ब्रह्मास्त्र से लड़कर पराजित किया है। साहस की शक्ति अजेय और अपरिमित होती है, कष्टों और संकटों की सेना उसके सामने टिक नहीं सकती।

**साहस व्यक्ति को निर्भीक बनाता है।**

साहस व्यक्ति में निर्भयता का संचार कर देता है और निर्भय व्यक्ति अपने आध्यात्मिक जीवन का उत्तरोत्तर पूर्ण विकास कर लेता है। निर्भयता से आत्मविश्वास जागृत होता है, जिससे साधक अपनी जीवन नैया को काम-क्रोधादि मगरमच्छों से बचाकर संसार सागर से पार कर लेता है। साहसहीन व्यक्ति की जीवन नैया संसार-सागर के भँवर जाल में ही फँस जाती है।

**सर्व-प्रधान गुण : साहस ही है**

मनुष्य दया, क्षमा, सरलता, मृदुता, विद्वत्ता, शास्त्रज्ञता आदि सभी सद्गुणों से सम्पन्न हो, किन्तु यदि उसमें साहस का अभाव है तो वह अपनी विशेषताओं, उक्त गुणों एवं योग्यताओं का कोई उपयोग नहीं कर सकेगा। वह बात-बात में शंका, तर्क-वितर्क, बहम, हीनता ग्रन्थि, अशक्ति, असमर्थता आदि प्रकट करके पूर्वोक्त सद्गुणों एवं विशेषताओं को अभिव्यक्त करने में कतराएगा, घबराएगा। साहसहीन मनःस्थिति मनुष्य के सभी गुणों को पछाड़ देती है। अतः मनुष्य का सबसे प्रधान गुण साहस है। साधक के लिए तो यह सर्वप्रथम आवश्यक गुण है, जो अन्य सभी गुणों का प्रतिनिधित्व करता है। 'एडस्मिथ' के शब्दों में—“साहस के अभाव में संसार में अनेकों प्रतिभाएँ यों ही नष्ट हो जाती हैं। ऐसे अगणित योग्य और सम्पन्न व्यक्ति संसार में हुए हैं, जो साहस के अभाव में जीवन की सफलता के लिए प्रारम्भिक प्रयास भी न कर सके।”

**कार्य में सफलता : साहस से ही**

किसी भी कार्य को पूर्ण करने के लिए साहस ही प्रारम्भिक प्रेरणा देता है और कार्य का साहसपूर्वक प्रारम्भ ही उसकी आधी सफलता है। शेष आधी सफलता प्रयत्न से मिल जाती है। किन्तु जिनमें जरा भी साहस नहीं होता, वे लोग किसी भी सत्कार्य को असम्भव, कठिन या विघ्नों से



परिपूर्ण मानकर प्रारम्भ ही नहीं करते। कदाचित् प्रारम्भ भी कर देते हैं, तो भी विघ्नों की चोट से बीच में ही उस सत्कार्य को छोड़ बँठते हैं। मगर साहसी मनस्वी व्यक्ति बार-बार विघ्नों की चोट से आहत होकर भी प्रारम्भ किये हुए कार्य को नहीं छोड़ते, वे उसे पूरा करके ही दम लेते हैं। योगी भर्तृहरि ने ठीक ही कहा है—

प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचं ।  
 प्रारभ्य विघ्न-निहता विरमन्ति मध्याः ।  
 विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमानाः ।  
 प्रारब्धमुत्तमगुणा न परित्यजन्ति ॥

इसका भावार्थ ऊपर आ चुका है। वास्तव में, अधिकांश लोग किसी भी सत्कार्य, विशेषतः आध्यात्मिक विकास के कार्य की शुरुआत इसलिए नहीं करते कि उनमें आने वाले खतरों को उठाने का साहस नहीं होता।

### साहसहीनता से नीरस और निर्वीर्य जीवन

अधिकांश लोग बहुत कुछ पाने की बात सोचते हैं, परन्तु उसका मूल्य न चुका पाने के कारण खाली हाथ ही रहते हैं। ऐसे लोग जिस-तिस पर दोषारोपण करते हुए किसी प्रकार का आत्मसन्तोष कर लेते हैं, किन्तु उससे बनता कुछ नहीं। उल्टे वे दूसरों की भर्त्सना से अशांत और उद्विग्न रहते हैं। आध्यात्मिक उन्नति के कार्यों को करने में भी वे दूसरों की आलोचनाओं, विरोधों एवं अवरोधों से डरते हैं। लोकनिंदा एवं असफलता का भय किसी भी सत्कार्य को प्रारम्भ में ही मनुष्य को निर्वीर्य एवं निस्तेज बना देता है। लौकिक कार्यों में भी जो जातियाँ साहस पर जीती हैं, वे हँसकी अगुआ बन जाती हैं। साहस के अभाव में छोटे-छोटे दल या समूह नीरस, निरानन्द, निर्वीर्य, निबल एवं हतोत्साह होकर असफलताओं से भर दीन-हीन जीवन व्यतीत करते हैं। ऐसे दल या समूह साहस के अभाव में कायर और डरपोक हो जाते हैं। एक विचारक ने साहसहीन व्यक्ति के लिए कहा है—

निरुत्साहं निरानन्दं निर्वीर्यमरिनन्दनम्,  
 मा स्म सीमन्तिनी काञ्चिज्जनयेत् पुत्रमीदृशम् ।

‘उत्साहीन, आनन्द से रहित, निर्वीर्य तथा शत्रु को प्रसन्न करने वाले ऐसे पुत्र को कोई भी महिला जन्म न दे।’

### साहसी को आदर और सहायक मिलते हैं

वास्तव में, साहस ही आध्यात्मिक ज्ञाता-द्रष्टा पुरुषों का सम्बल होता है। जो व्यक्ति साहसी होते हैं, वे दुःख के समय शांत और गम्भीर रहते हैं। साहसी व्यक्ति के प्रति सभी लोगों के मन में श्रद्धा और आदर की भावना पैदा होती है। आपत्तियाँ किस पर नहीं आती? महापुरुषों का जीवन तो आपत्तियों और प्रतिकूलताओं से संघर्ष करने में ही प्रायः व्यतीत होता है। वे उसमें साहस और धैर्य के साथ उत्तीर्ण होकर अपनी छाप इतिहास में छोड़ जाते हैं। साहस ही उनके व्यक्तित्व को उस चुम्बकीय शक्ति से सम्पन्न कर देता है, जिसके कारण साधनों और सहायकों के लोहकण खिचते चल आते हैं। जिन महान् व्यक्तियों ने आज तक महत्वपूर्ण कार्य किये हैं, उन्हें हर कदम पर प्राणसंकट सहने पड़े हैं, परन्तु उनके साहस ने ही उन्हें संकटों से मुक्ति दिलाई है।

### साहस-विहीन व्यक्तियों का जीवन घाटे में

इसके विपरीत दुःख उपस्थित होते ही जो लोग उद्विग्न एवं आकुल-व्याकुल हो उठते हैं, अधीर हो जाते हैं, ऐसे कायर व्यक्ति विपत्तियों के प्रहार से तो क्षतिग्रस्त होते ही हैं, साथ ही उस क्षति से उनका भय अधिक बढ़ जाता है, उनके मनोबल में और कमी आ जाती है तथा सभी ओर से वे घाटे में ही रहते हैं। विपत्ति के समय चीखने-चिल्लाने वाले मुख्यतया दयनीय समझे जाते हैं। अधिक रोने-धोने वालों को लोग घृणा की दृष्टि से देखते हैं। अतः साहसहीन व्यक्ति के जीवन में न तो उष्मा होती है और न गरिमा। उसका जीवन असफल और हारा हुआ होता है।

### साहस ही व्यक्ति को परम समर्थ बनाता है।

जो व्यक्ति साहस खो देता है, उसमें अपेक्षित सूझबूझ, बुद्धिकौशल और मनोबल ही गायब हो जाते हैं। उपलब्ध साधनों के उपयोग की ओर उसका ध्यान ही नहीं जाता। साहसी व्यक्ति का बुद्धिकौशल, सूझबूझ और मनोबल बढ़ जाता है। वह संकटों के निवारण और विपत्तियों के प्रतिकार में प्रायः सफल हो जाता है। साथ ही भविष्य की निराशाजनक सम्भावनाएँ, असफलता की आशंकाएँ, डरावनी कल्पनाएँ तथा अपनी अयोग्यता और दुर्भाग्य पीडित होने की मान्यताएँ ऐसी हैं, जो भारी-भरकम चट्टान बनकर व्यक्तित्व को उभरने से रोकती हैं। इन कुकल्पनाओं के कचरे को हटाने में साहस का अन्धड़ ही समर्थ होता है।

**साहस मनःस्थिति को सुदृढ़ एवं प्रतीकारक्षम बनाता है**

मनुष्य की शोभा इसी में है कि वह साहसपूर्वक परिस्थितियों का सामना करे, उन्हें बदलने का प्रयत्न करे और प्रशान्त एवं गम्भीर बना रहे। वास्तविक विपत्तियों का सामना साहस द्वारा ही किया जा सकता है। जो कुछ शारीरिक, प्राकृतिक, आकस्मिक, प्रियजन-वियोग-जनित अथवा दारिद्र्य-निमित्तक दुःख आ पड़ते हैं, उन्हें गम्भीरतापूर्वक सहने में ही मानव की शोभा और गरिमा है। अधिकांश दुःख तो मनुष्य की अपनी मनःस्थिति पर निर्भर है। साहस ही मनःस्थिति को सुदृढ़ एवं प्रतीकारक्षम बनाता है, वही मनःस्थिति को आत्मविश्वास युक्त बनाता है। आत्महीनता को ग्रन्थि से जब सारा मनःक्षेत्र बुरी तरह जकड़ा रहता है, अपनी योग्यता, क्षमता एवं प्रखरता पर व्यक्ति को विश्वास ही नहीं होता, तब साहस ही उसका सम्बल बनता है। मनःस्थिति सुदृढ़ होने पर मनुष्य तुलनात्मक दृष्टि में सोचने लगता है कि जब गई गुजरी परिस्थितियों में रहने वाले व्यक्ति उन्नति के उच्च शिखर पर पहुँच सके तो हम वैसा क्यों नहीं कर सकते। इस प्रकार साहसी सदा बाजी मार लेता है।

**साहस से आत्मिक शक्ति और गुण सम्पदाएँ बढ़ती हैं**

सन्मार्गगामी साहसी व्यक्ति को समय पर दैवी-अनुग्रह भी मिलता है। इतिहास-पुराणों में इसके अगणित उदाहरण मिलते हैं और आधुनिक युग के अनेक अध्यात्मतत्त्ववेत्ता साहसी पुरुषों के भी। असम्भव प्रतीत होने वाले कार्यों को करने वाले साहसी महापुरुषों को प्रायः ईश्वरीय अनुग्रह मिलता रहा है, उसी के बल पर साधनशून्य एवं प्रतिकूल परिस्थितियों में भी वे आगे बढ़ते और सफल होते देखे गये हैं। साहसी व्यक्ति को जीवन-संघर्ष से प्राप्त अनुभवों का लाभ तो मिलता ही है, उसकी आत्मिक शक्तियाँ एवं गुणसम्पदाएँ भी बढ़ती जाती हैं। उनके महान व्यक्तित्व की सम्पदा भी वृद्धिगत होती है, जो उसके व्यक्तित्व की सर्व-प्रधान वास्तविक पूँजी है। साहसी ही सच्चे अर्थों में जीवन जी पाते हैं।

**साहस के बिना शारीरिक मानसिक क्षमताएँ निष्क्रिय**

शारीरिक एवं मानसिक क्षमताएँ और उपयुक्त साधन सहयोग होते हुए भी मनुष्य क्यों कुछ नहीं कर पाता ? इसका कारण तलाश करने पर एक ही निष्कर्ष निकलता है कि साहस का अभाव ही शिथिलता और निष्क्रियता का प्रमुख कारण है। इंजिन में भाप या तेल न रहने पर वे चल

ने बन्द हो जाते हैं, भले ही उसके कल-पुर्जे सब प्रकार से सही हों। मशीनों के चलने में तेल या बिजली की शक्ति जो काम करती है, वही काम मानव जीवन में उत्साहपूर्वक सक्रिय होने में साहस का बल करता है। पराक्रम दृश्य रूप है और साहस उसका प्राण। प्राण के बिना शरीर की कोई उपयोगिता नहीं रहती। शरीर और मन-मस्तिष्क की कीमत चाहे जितनी बढ़ी-चढ़ी हो, साहस के अभाव में उसकी कोई उपयोगिता नहीं रहती। अन्तर् में उत्साह का संचार न हो, किसी योजना को पूर्ण करने के लिए संकल्प न जगे तो शरीर और मन में कुछ करने का प्रबल साहस स्फुटित नहीं होता।

**साहस की चाबी से सफलता के ताले खुलते हैं**

भीरुता, काल्पनिक विभीषिका और आशंका का रंगीन चश्मा उतार देने से मन पर छाया हुआ डरावना रंग मिट जाता है। किन्तु यह तभी हो सकता है, जब मनुष्य के अन्दर का शौर्य बाह्य जीवन में पराक्रम बन कर प्रकट हो, तथा कठिनाइयों और प्रतिकूलताओं के साथ भिड़ जाने की खिलाड़ी जैसी उमंग मनुष्य को खतरा उठाने और अपनी विशिष्टता प्रकट करने के लिए प्रेरित करती हो। बड़े-बड़े कदम उठाने में साहसी लोगों को ही पहल करनी पड़ती है। बाद में कहीं न कहीं से सहयोग भी मिलता है, साधन भी जुटते हैं, इस प्रकार उन्हें बड़े-बड़े कार्यों में सफलता मिलती है। वास्तव में साहस की चाबी से सफलता के ताले खुलते हैं।

**साहस का वास्तविक स्वरूप**

अर्थ-समृद्ध लोगों के बीच गरीबी में मस्त रहना और सम्मानयुक्त जीवन जीना साहस है। लोगों के द्वारा विरोध करने, कीचड़ उछालने या हानि पहुँचाने पर भी किसी उत्कृष्ट लक्ष्य पर दृढ़ और स्थिर रहना साहस है। गलत परम्पराओं, अन्धविश्वासों एवं कुरूढ़ियों को न मानकर सचाई को अपनाना भी साहस है। न्याय पथ पर कायम रहना भी साहस है। गलत बात के समर्थक बहुत-से लोग हों तो भी उसे गलत कहना, सचाई को प्रगट करना भी साहस है। किसी पवित्र एवं महान कार्य में साहस करके आगे बढ़ने पर यदि मृत्यु का भी सामना करना पड़े तो सर्वोत्कृष्ट सफलता है।

**साहसी कौन है, कौन नहीं ?**

सच्चे अर्थों में साहसी वे नहीं, जो हर घड़ी लड़ाई-झगड़ा करने पर उतारू रहते हैं और हर किसी को दबाते-सताते और पीड़ित करते रहते

हैं तथा हर किसी को ताल ठोंक कर चुनौती देते हैं। अपितु वे हैं, जो स्वयं पर आने वाली विपत्तियों का सामना करते हैं तथा दूसरों पर आए हुए संकटों का निवारण करते हैं, सूझबूझ और सहायता देते हैं। वीरता और साहसिकता सिद्ध करने के लिए किसी को गिराने की आवश्यकता नहीं, उठाने और बनाने की है। ध्वंस का कार्य तो एक दियासलाई भी कर सकती है, वास्तव में सृजन का कार्य ही साहस का है। जिन्होंने मानव-जाति की आध्यात्मिक उन्नति के सृजन की योजना बनाई और पूरी की, वे ही सच्चे माने में शूरवीर और साहसी हैं। बड़प्पन बनाने में है, बिगाड़ने या नष्ट करने में नहीं।

जो दूसरे की कमजोरियों और बुराइयों को उछालने और उन्हें दबाने-सताने में पराक्रम करते हैं, वे सच्चे माने में साहसी नहीं; साहसी वे हैं, जो अपनी कमजोरियों और बुराइयों को स्वीकार कर उन्हें दूर करने का पराक्रम करते हैं। सबसे बड़ी हिम्मत तो दुर्गुणों को छोड़ने का निश्चय करने और उन्हें दूर करने में साहसपूर्वक जुट जाना है। सामान्य व्यक्ति असफलताएँ मिलने पर हताश होकर उपयुक्त दिशा में आगे बढ़ने का हौसला भी खो बैठते हैं, परन्तु साहसी व्यक्ति असफलता मिलने के बाद भी दुगुनी हिम्मत और सतर्कता के साथ लक्ष्य को प्राप्त करने हेतु कदम बढ़ाते हैं।

अपने प्रति पक्षपात की आदत से अधिकांश लोग घिरे रहते हैं। दूसरों की आलोचना और टीका-टिप्पणी करने के लिए काफी मसाला एकत्रित कर लिया जाता है, परन्तु अपनी खराबियाँ और खामियाँ ढूँढ़ कर निकालने में दिलचस्पी नहीं होती। इतना ही नहीं, अगर कोई वैसा सुझाव देता है तो बुरा लगता है। स्वभाव में प्रविष्ट इस दुर्बलता से लोहा लेकर जो उनको स्वयं ढूँढ़ते और स्वीकार करते हैं। सुधारने में बार-बार असफल होने पर भी धैर्य के साथ जुटे रहते हैं, वे ही सच्चे साहसी वीर हैं।

### साहसी के जीवन का राजमार्ग

साहस के अभाव में लोग जीने का ऐसा रास्ता अपनाते हैं, जो सरल और बिना किसी झंझट का हो। इस कारण वे नया कुछ भी सोच नहीं पाते और न ही नया कुछ कर पाते हैं, ऐसे लोग लकीर के फकीर या स्थिति-स्थापक बने रहते हैं। वे संसार में हो रही प्रगति और विकास के पथ पर चलते तो हैं, किन्तु बिना मन से, घिसटते हुए चलते हैं। किन्तु गलत परंपराओं के घेरे से निकल कर नवीनता का मार्ग ग्रहण करना साहस पर ही निर्भर है। साहसी व्यक्ति को अपने ही बलबूते पर आगे बढ़ना पड़ता है।

आध्यात्मिक क्षेत्र में ही क्यों, राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक, किसी भी क्षेत्र में आगे बढ़ने के लिए साहस आवश्यक है। समाज की अव्यवस्था दूर करने, अंधविश्वास, कुप्रथा एवं कुरुद्वियों को मिटाने के लिए भारी साहस की आवश्यकता होती है। कई बार दूसरों की गालियाँ और विरोध सहने पड़ते हैं। कइयों का बुरा भी बनना पड़ता है। कई बार जान-माल की भारी हानि भी उठानी पड़ती है। साधारण लोग तब तक ही टिकते हैं, जब तक लोग उनके स्वर में स्वर मिलाकर गाते हैं, लेकिन ज्योंही कोई उनके समक्ष विकासघातक, दम्भवद्धक एवं युग बाह्य रूद्वियों को हटाने की बात कहेंगे, स्योंही वे कतरा कर वापस भागेंगे। जरा-सी कमजोरी दिखाई दी, तो पुराने सड़े-गले कुसंस्कार और कुरुद्वियाँ पुनः उन पर हावी हो जाएँगी।

साहसी व्यक्ति किसी भी कठिन कार्य को देखकर डरते या घबराते नहीं हैं, न ही वे उस कार्य को कल पर टालते हैं। कार्य के साथ जो जिम्मेवारी और कठिनाई जुड़ी होती है उसे पूरा करने में वे घबराते या जी चुराते नहीं हैं। वे सोचते हैं कि जो काम आज हो सकता है, उसे कल पर क्यों टाला जाए? यदि समय है तो उस काम को पीछे के लिए न छोड़ा जाए? कार्य एक ऐसा आत्मीय मित्र है जो प्रशंसा, सम्पत्ति, गुण-सम्पदा, सफलता, योग्यता तथा क्षमता में वृद्धि कर देता है। अतः साहसी व्यक्ति को ऐसे कार्यरूप मित्र के सम्मुख आ जाने पर उसका हार्दिक स्वागत करना चाहिए। कार्य की ऐसी शुभागमन-बेला में जो लोग उदासीनता दिखाते हैं, समझना चाहिए वे अपने समागत सौभाग्य को दुत्कार कर निकाल रहे हैं।

### सत्साहस और दुःसाहस का अन्तर

प्रायः साहस एवं शौर्य शब्द का प्रयोग युद्धक्षेत्र में जौहर दिखाने के अर्थ में होता है, परन्तु यह साहस बहुत-सी बार राज्यलिप्सा, धनलिप्सा, पदलिप्सा या अन्य किसी प्रकार की लालसा को लेकर किया जाता है। तब वह साहस नहीं, दुःसाहस कहलाता है; जिसमें नैतिक मर्यादाओं का ध्यान न रखकर उद्वेग और अनैतिकता अपनाई जाती है और वह भी दुःसाहस है, जिसमें समय, साधन, मबसर एवं परिस्थिति का ध्यान न रख कर ऊटपटांग ढंग से कार्य प्रारम्भ कर दिया जाता है। कई बार लोग धन के लोभ में आकर तस्कर व्यापार, चोरबाजारी, भ्रष्टाचार, गबन, पराई घरोहर को डकारना आदि कार्यों के करने में अस्खिँ मूँदकर कूद पड़ते हैं,

ऐसे कार्यों में क्रुद पड़ना साहस नहीं, दुःस्साहस है। वास्तव में सत्साहस वह है, जिसमें आलस्य, प्रमाद जैसे रक्त को ठण्डा कर देने वाले दोषों को दूर कर किसी सत्कार्य में शारीरिक एवं मानसिक स्फूर्ति उत्पन्न करने वाली उमंग हो। इसका पहला निशाना अपनी उदासी, उपेक्षावृत्ति, आलस्य-प्रमाद आदि पर होता है। इसके पश्चात् अम्यान्व्य दोष-दुर्गुणों को ढूँढ़-ढूँढ़ उन्हें साफ करने और फेंक देने के रूप में अगला कदम उठाना पड़ता है।

**साहस जागे तो सत्प्रवृत्तियाँ उभरती हैं**

लोगों का यह सोचना गलत है कि हम दुर्भाग्यग्रस्त हैं, और पिछड़े रहने के लिए ही बने हैं अथवा सहयोग और साधनों के अभाव में हम में ऊँचा उठने की सम्भावना नहीं है। परन्तु वास्तविकता यह है कि मनुष्य अपनी क्षमताओं और शक्तियों का बिखराव रोक कर उन्हें केन्द्रित करके एक दिशा में लगाए तो साहस जग सकता है और साहस जागे तो वे सत्प्रवृत्तियाँ भी उभरती हैं, जिनके सहारे छोटे मनुष्य भी बड़े बन सकते हैं, पिछड़े हुए भी उन्नति के उच्च शिखर पर पहुँच सकते हैं। मनुष्य में ऐसे तत्व कूट-कूट कर भरे हुए हैं, जिनके सहारे सुषुप्त मानवता को उजागर किया जा सकता है। आवश्यकता है उस साहस की, जिसके एक झटके से महानता को प्रसुप्त स्थिति से जगाया और समुन्नत किया जा सकता है।

**साहस बढ़ता है कठिनाइयों से जूझने से**

साहस हर किसी में मौजूद है। कई लोग उसे प्रयत्न करके बढ़ा लेते हैं। साहस बढ़ता है—संकल्प करने और उस कार्य के पूरा होने तक जुटे रहने से। कठिनाइयों को निमन्त्रण देने और उनके साथ जूझने से हिम्मत खुलती है। अखाड़े में उतरने का अभ्यास करने वाले बड़े-बड़े दंगलों में कुश्ती लड़ते हैं, उससे पहले कुशल पहलवान द्वारा पछाड़े भी जाते हैं।

**साहसहीनता आत्मनिर्भरता की कमी से**

साहस में कमी का एक कारण आत्मनिर्भरता की कमी है। वस्तुतः साहस उत्पन्न होता है—अपने पर, अपनी शक्तियों और क्षमताओं पर विश्वास करने से। जो प्रत्येक कार्य में परमुखापेक्षी होते हैं या दूसरों पर निर्भर रहते हैं उन साहसहीन व्यक्तियों से सफलता कोसों दूर रहती है।

साहसहीनता से अपना बल घटता है, सत्कार्यों में विघ्न-बाधाएँ खड़ी होती हैं।

### साहस देव की साधना के चार चरण

साहस देव की साधना के चार चरण हैं—(१) शारीरिक श्रम में प्रसन्नता अनुभव करना, (२) मन की अस्त-व्यस्तता को दूर करना, (३) विपत्तियों एवं संकटों में धैर्य और सन्तुलन न खोना और (४) अपने संकीर्ण स्वार्थों की परिधि से बाहर निकल कर परमार्थ के लिए आवश्यक त्याग-बलिदान करना। संक्षेप में इन चारों को क्रमशः प्रसन्नता, एकाग्रता, धीरता और व्युत्सर्गशीलता कह सकते हैं।

आध्यात्मिक प्रगति एवं सफलता के लिए उत्साहपूर्ण मनोयोगपूर्वक कठोर शरीर श्रम अपनाना साहसदेव की पूजा का प्रथम चरण है। जो व्यक्ति आरामतलब, आलसी, कामचोर, मस्तीखोर, बैठे-ठाले होते हैं, वे किसी भी कार्य में साहस नहीं कर सकते। उपलब्धियाँ, लब्धियाँ एवं सिद्धियाँ उन्हीं को प्राप्त होती हैं, जो ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य और तप में उद्यम करते हैं। श्रमण संस्कृति की बुनियाद ही आत्मविकास के लिए श्रम करने में है। जो सतत श्रमशील, उद्यमी और उत्साही होते हैं, उनका शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य भी ठीक रहता है। गहरी नींद और कड़ी भूख का आनन्द उन्हें ही मिलता है, जो सत्कार्य में श्रम से जी नहीं चुराते। साथ ही वे अपने स्वभाव में जिन आवश्यक कुटवों और दुर्गुणों की घुसपैठ है उन्हें हटाकर उनके स्थान में सद्गुणों और सत्प्रवृत्तियों की वृद्धि करने में पूर्ण अभ्यास एवं प्रयास करते हैं।

साहसदेव की पूजा का दूसरा चरण है—मन को लक्ष्य में या किसी सत्कार्य में केन्द्रित करना। अधिकांश लोग अपने मन-मस्तिष्क को अनर्गल, अस्त-व्यस्त एवं अनावश्यक विचारों में, निरर्थक चिन्तन में और असम्बद्ध कुटवों के पोषण में लगाये रखते हैं। यदि मन-मस्तिष्क को लक्ष्य की ओर केन्द्रित करके इस कुचक्र को तोड़ने का साहस किया जाए, तथा उसे सुव्यवस्थित और सत्प्रवृत्तियों का अनुगामी बनाने में पुरुषार्थ किया जाए तो समझना चाहिए साहस-देव की साधना का द्वितीय चरण पूर्ण कर लिया।

साहसदेव की साधना का तृतीय चरण है—विपत्तियों और संकटों में धैर्य एवं सन्तुलन न खोना। इस विषय में पहले काफी कहा जा चुका है। संसार में मनुष्य के पास आशा, उत्साह और धैर्य का इतना शक्तिशाली



पाथेय है कि जिसके बल पर वह बड़ी से बड़ी विपत्ति और प्रतिकूल परिस्थिति में भी अपने स्वीकृत पथ पर डटे रह सकते हैं ।

साहसदेव की साधना का चतुर्थ चरण है—संकीर्ण स्वार्थों की परिधि से बाहर निकलकर परमार्थ के लिए आवश्यक त्याग-बलिदान करना, अपने साधनों तथा सुख-सुविधाओं का व्युत्सर्ग करना । यहाँ तक कि कायोत्सर्ग करने के लिए भी उद्यत रहना । यही आध्यात्मिक वीरता है । आदर्शवाद एवं 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की लम्बी चौड़ी बातें बघारने वाले लोग नहीं, किन्तु इन्हें अपने जीवनक्रम में उतारने वाले लोग ही साहस और सत्यता के धनी हैं । संसार में शरीर, मन, बुद्धि और वाणी से शूरवीरता दिखाने वाले लोग बहुत मिलते हैं; किन्तु आध्यात्मिक वीरता दिखाने वाले विरले ही होते हैं । ऐसे लोग उदात्त, उदार एवं 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की प्रवृत्ति वाले होते हैं । इस युग में जहाँ संकीर्ण स्वार्थपरता और यश, रूप, धन, भोग एवं पद आदि भौतिकता की पूर्ति में अधिकांश लोग संलग्न हैं, वहाँ इन्हें तिलांजलि देकर, अपनी सुख-सुविधाओं का त्याग करके कष्ट सहिष्णु और उदार बनना साहसदेव की उत्कृष्ट साधना है । आज तो साधु दर्शन, पूजापाठ, क्रियाकाण्ड, तप-जप आदि के पीछे भी सुख-साधनों, धन, यश आदि के लाभ की वृत्ति प्रबल है, अरिहन्त भगवान् या अन्य देवों का पत्ला भी सांसारिक स्वार्थों की पूर्ति के लिए पकड़ा जाता है । इस धारा का प्रवाह चीरते हुए विपरीत दिशा में चलना परम साहस का कार्य है ।

इस प्रकार साहसदेव की पूजा करने वाले व्यक्ति की आत्मिक शक्तियाँ विकसित हो जाती हैं । अन्त में वह कर्मक्षय करके मोक्षपद को प्राप्त कर लेता है ।



## परमार्थ-परायणता की कसौटी

आध्यात्मिक प्रौढ़ता का चिह्न : परमार्थपरायणता

आध्यात्म की भूमिका में जैसे-जैसे मनुष्य का विकास उच्च से उच्चतर होता जाता है, वैसे-वैसे उसका परमार्थ-पराग भी विकसित कमल-पुष्प के समान दशों दिशाओं में उड़ने लगता है। वस्तुतः जब मनुष्य में आध्यात्मिक प्रौढ़ता आ जाती है, तब परमार्थ-परायणता तो उसमें स्वतः आ जाती है। उसकी उदारता, सदाशयता, करुणा, वत्सलता एवं महानता उसे एक घड़ी भर भी चैन से नहीं बैठने देती। वह प्रतिक्षण अपना सर्वस्व लुटाने के लिए व्याकुल रहती है। गाय के स्तनों में जरा भी दूध जमा होता है, तो वह रम्भाने लगती है, जब तक वह स्तनों का दूध खाली नहीं कर देती, तब तक बेचैनी अनुभव करती है। पेड़ जब परिपुष्ट हो जाते हैं, तो किसी के बिना मांगे ही अपने परिपक्व फलों को भूमि पर टपकाते रहते हैं। यही नहीं वे पत्ते, पुष्प, फल, छाया, लकड़ी एवं सुगन्ध का अनुदान भी सतत अपरिचित रूप से दूसरों को देते ही रहते हैं, बदले में वे किसी से कुछ भी नहीं मांगते। यही उनका स्वाभाविक धर्म बन जाता है। अनायास ही यह निःस्वार्थ परमार्थ कार्य उन वृक्षों द्वारा होता रहता है। वृक्षों को किसी प्रकार की प्रशंसा, प्रतिष्ठा, नामवरी, प्रशस्ति आदि की आवश्यकता नहीं रहती। वे किसी से कोई अपेक्षा नहीं रखते।

निष्कर्ष यह है जब मनुष्य का आध्यात्मिक विकास प्रौढ़ हो जाता है, अथवा सर्वोच्च शिखर पर पहुँच जाता है, तब स्वतः ही मन-वचन-काया से वह विश्व को अपना सर्वस्व देता रहता है, विश्व को अधिकाधिक सुसंस्कृत, सद्धर्म-परायण एवं सुविकसित बनाने के लिए वह अहर्निश तत्पर

रहता है। स्वर्ग, मोक्ष या सिद्धि में से वह किसी की स्पृहा या कामना नहीं करता। एक आचार्य ने कहा है—“मोक्षे भवे च सर्वत्र निःस्पृहो मुनि सत्तमः।”<sup>१</sup> वे उत्कृष्ट मुनिवर मोक्ष और स्वर्गादि भव में सर्वत्र निःस्पृह होते हैं। ऐसे आध्यात्मिक पुरुषोत्तम तीर्थकरों की स्तुति में उनकी परमार्थ परायणता के इन्हीं गुणों को व्यक्त किया गया है—

“लोगनाहाणं लोगहियाणं लोगप्पईद्वाणं लोगपज्जोघगराणं, अभय-  
दयाणं चक्खुदयाणं, मग्गदवाणं सरणदयाणं जीवदयाणं बोहिदयाणं धम्म-  
दयाणं” “तिन्नाणं तारायाणं, बुद्धाणं बोहयाणं मुत्ताणं मोयगाणं”.....<sup>२</sup>

इस शक्रप्रणिपात स्तव के अंश का भावार्थ यह है कि उन “लोक” के नाथ, लोक-हितकर, लोक के प्रदीप, लोक के प्रद्योतकर्त्ता, अभयदाता, चक्षु-दाता, मोक्षमार्ग के दाता, शरणदाता, जीवन-दाता, बोधि-दाता, धर्म-प्रदाता, स्वयं संसार सागर को पार करने वाले तथा दूसरों को पार कराने वाले, स्वयं बोध पाने वाले और दूसरों को बोध देने वाले, स्वयं कर्मों से मुक्त होने वाले और दूसरों को मुक्त करने वाले... धर्मतीर्थकर भगवन्तों को नमस्कार हो।

सैद्धान्तिक दृष्टि से देखा जाए तो ये सारे विशेषण उनकी परमार्थ-परायणता को स्पष्ट रूप से द्योतित कर रहे हैं। केवलज्ञान-केवलदर्शन हो जाने के बाद तीर्थकरों के चार घातीकर्म तो नष्ट हो ही जाते हैं। एक प्रकार से वीतरागता-सम्पन्न एवं सर्वज्ञ-सर्वदर्शी सर्वकृतकृत्य हो जाते हैं, फिर वे लोककल्याण के उपर्युक्त कार्यों में न पड़ें तो भी उनकी आत्मा की किसी प्रकार की क्षति नहीं होती। किन्तु ऐसे विश्ववत्सल<sup>३</sup> लोकहितैषी से रहा ही नहीं जाता। अनायास ही उनको प्रवृत्ति इन निरवद्य परमार्थ कार्यों में होती है। उन्हें जो अपूर्व अध्यात्म-सम्पदा (अनन्तज्ञानादि चतुष्टय) प्राप्त हुई है, उसे लुटाने में उनका वात्सल्यपूर्ण हृदय किसी भी प्रकार से नहीं हिचकिचाता। परमार्थपरायणता उनके जीवन का स्वाभाविक धर्म बन जाता है। जिसे जैन परिभाषा में मैत्री (परहितचिन्ता) कहा गया है “मिस्ती मे सव्वभूएसु”<sup>४</sup> तो प्रत्येक तीर्थकर का दिव्य आघोष है।

१ रत्नाकरावतारिका

२ शक्रस्तव : नमोत्थुणं का पाठ।

३ ‘जगवच्छलो जगप्पियामहो भगवं’... — नंदीसूत्र

४ आवश्यकसूत्र (प्रतिक्रमण-आवश्यक)

### परमार्थ का उद्देश्य

इस परमार्थ-परायणता के पीछे उनका यह चिन्तन है कि यह विश्व जितना ही धर्मपरायण, सुसंस्कृत, आत्मकल्याण-परायण एवं आत्मिक सुख से युक्त होगा, उतनी ही हिंसा, असत्य, चोरी आदि बुराइयाँ संसार में कम होंगी, संसार में उतनी ही सुख-शान्ति बढ़ेगी, संसार के भव्यजन कर्मों से मुक्त होने का प्रयत्न करेंगे। दूसरी ओर संसार में जितने भी सज्जन, भव्य, परमार्थदृष्टिपरायण धर्मनिष्ठ बढ़ेंगे, उतना ही साधकों को लाभ है। उनकी रत्नत्रय की साधना निराबाध, निर्विघ्न एवं निश्चितता से होगी। तीर्थंकरों द्वारा धर्म तोर्थ (धर्मसंघ) की स्थापना करने का भी उद्देश्य यही है। इस दृष्टि से परमार्थ एक दृष्टि से उत्कृष्ट स्तर का स्वार्थ=आत्मार्थ ही है। ऐसे निरवद्य परमार्थ-प्रयत्न से उन महान् आत्माओं को अनिर्वचनीय आत्म-तृप्ति, आत्म-तुष्टि एवं आत्म-शान्ति मिलती है, यह उच्चकोटि की उपलब्धि भी एक प्रकार से उत्कृष्ट स्वार्थ-सिद्धि है।

### श्रेष्ठता का मापदण्ड—परमार्थ-परायणता

एक युग था, जब श्रेष्ठता का मापदण्ड परमार्थ-परायणता को समझा जाता था। तब प्रत्येक विचारवान् व्यक्ति यह मनोरथ करता था, वह दिन धन्य होगा, जब मेरा तन, मन, वचन और सर्वस्व परार्थ=परोपकार के काम आ जाए! मैं स्वयं आरम्भ-परिग्रह से मुक्त होकर अपना जीवन स्व-पर-कल्याण-साधना में लगाऊँ। उत्तराध्ययम सूत्र में उन परमार्थी महा-पुरुषों के जीवन के असाधारण गुणों की झांकी यत्र तत्र दी गयी है। उदाहरणार्थ—शान्तिनाथ भगवान् के जीवन की संक्षिप्त जीवनगाथा इस प्रकार है—

“चइत्ता भारहं वासं चक्रवट्टी महिडिडओ।

संति संतिकरे लोए, पत्तो गईमणुत्तरं ॥

इसका भावार्थ यही है कि महान् ऋद्धि सम्पन्न एवं लोक में शान्ति करने वाले श्री शान्ति नाथ चक्रवर्ती ने भारतवर्ष के राज्य का त्याग कर के तीर्थंकर पद प्राप्त किया और अनेक भव्य जीवों का उद्धार करते हुए अनुत्तरगति (मुक्ति) प्राप्त की।

इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि प्राचीन काल के महान् आत्मा समाज,

१ धम्म-तित्थयरे जिणे ... —(लोगस्स सूत्र)

राष्ट्र, संघ एवं विश्व के हित में अपने आप को तथा अपने धन वैभव राज्य आदि सर्वस्व का उत्सर्ग करने में पीछे नहीं हटते थे। आदर्शों के लिए प्राण त्याग करने की उनकी इच्छा बलवती हुआ करती थी। धन, वैभव, राज्य आदि की भूख लोगों को कम हुआ करती थी। जिसे लोक-हित के लिए ऐसा उत्सर्ग करने का अवसर मिल जाता था वह अपने आपको धन्य समझता था। वह परमात्मा की महती कृपा का अनुभव करता था कि उसे ऐसा शुभ संयोग मिला। ऐसे व्यक्ति चाहते तो संसार के असंख्य भौतिक सुख और अपरिमित वैभव को बटोर कर उनका उपयोग कर सकते थे, परन्तु उन्होंने जनहित के लिए अपना सर्वस्व त्याग देना ही उचित समझा। वैदिक परम्परा के महर्षि दधीचि को जो सुख अगणित सिद्धियों के स्वामी होने से नहीं मिला, वह उन्हें जनहित के लिए आत्म बलिदान देने में प्राप्त हुआ। इसी प्रकार अनाथी मुनि, मुनि हरिकेशबल, हरिकेशी श्रमण, गौतम गणधर आदि अनेकों श्रमणों ने अपना सर्वस्व त्यागकर पीड़ित पतित और अधर्मी जनों को बोध देकर सन्मार्ग पर लगाया। क्या यह परमार्थ भावना कम थी ?

**परमार्थ-परायणता क्यों और किसलिए ?**

दूसरी दृष्टि से सोचें तो संसार में यदि कोई सच्चे माने में सुखी है तो वह है—आत्मतृप्त परमार्थी या वीतरागता दृष्टि-सम्पन्न परमार्थी। आज सैद्धान्तिक और आध्यात्मिक सुख की तराजू पर सारे संसार के प्राणियों को तौला जाए तो यही तथ्य प्रतीत होगा कि देवलोक के देव भले ही इन्द्रियजन्य भौतिक सुखों से सम्पन्न हों, वे सेठ और सेनापति हों, राजा-महाराजा या सत्ताधीश हों, विद्वान या व्यवसायी हों, कोई भी आत्मिक सुखों से सम्पन्न नहीं है। कई भौतिक सुख में मग्न व्यक्ति कह सकते हैं कि उन्हें संसार में सम्पत्ति, सन्तान, स्वास्थ्य, परिवार एवं समाज आदि के सारे सुख प्राप्त हैं, तब भी उनके मन में कोई अदृश्य-अज्ञान, अभाव, अतृप्ति एवं असन्तोष की आग घीमी आंच से सुलगती रहती है। अर्थात् इन सब सुखों के होने पर भी उन्हें वह सुख नहीं मिल रहा है, जो आत्मा को तृप्त और सन्तुष्ट करता है। संसार के सारे सुख इन्द्रियजन्य ही होते हैं, जो शरीर तक ही सीमित रहते हैं, इससे आत्मा की तृप्ति नहीं हो सकती। आत्मा की तृप्ति और सन्तुष्टि यथार्थ परमार्थ पूर्ण परोपकार से ही होती है।

परमार्थ—निःस्वार्थ परमार्थ की साधना ही ऐसी है जिसका फल

दूरगामी नहीं, निकटगामी है। परमार्थ-साधना का फल इसी लोक में सुख, शान्ति और सन्तोष के रूप में तुरन्त मिलता है। परमार्थ-जन्य सुख की तुलना स्वार्थजन्य सुख से कदापि नहीं की जा सकती। जहाँ पहला सुख कल्याणकारी है, वहाँ दूसरा सुख मिथ्या होता है। मनुष्य जब अपनी ही सुख सुविधा पर ध्यान देता है, तब संसार में हा-हाकार मचता है, संकट और विपदाएँ आती हैं। परन्तु दूसरों को सुखी और संकट रहित बनाने का प्रयत्न करता है तब इस लोक में भी सुख शान्ति मिलती है, पारलौकिक कल्याण और पुण्य का उपार्जन होता है। ऐसा परमार्थी व्यक्ति अभाव और कष्ट की स्थिति में भी एक अपूर्व सुख, संतोष और तृप्ति का अनुभव करता है।

प्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वान् विकटर ह्यू गो ने लिखा है—परोपकार के लिए हम जितना अपने को जुटाते हैं, उतना ही हमारा हृदय विशाल होता जाता है। परमार्थजन्य पुण्य से मनुष्य की चेतना न केवल विकसित होती है, बल्कि ऊर्ध्व-मुखी भी होती है। उसका हृदय विकसित एवं महान् हो जाता है। उसे अपने में एक पूर्णता का अनुभव होने लगता है।

किसी अज्ञान-ग्रस्त, अन्धविश्वास-पीड़ित, मूढ़ताओं के शिकार व्यक्ति के ज्ञानचक्षु खोल देने, रोगी, अभाव-ग्रस्त एवं पीड़ित व्यक्तियों की सेवा-शुश्रूषा करने, सहायता करने, किसी का संकट कम कर देने, किसी क्षुधा-पीड़ित की क्षुधा निवारण करने अथवा इन सबको सन्मार्ग दर्शन कर देने से उसकी आत्मा को जो शान्ति और संतोष मिलता है, उसी का प्रतिफल परमार्थी की अन्तरात्मा को प्रभावित कर असीम तृप्ति का अनुभव करा देता है। इसीलिए सभी धर्मों ने एक स्वर से परमार्थ की महत्ता प्रतिपादित की है।

परोपकार एवं परमार्थ से केवल व्यक्ति का ही नहीं, उसके निमित्त से परिवार, समाज, राष्ट्र और विश्व का भी कल्याण होता है। सौहार्द, सहानुभूति एवं आत्मीयता के आधार पर जिन व्यक्तियों का परमार्थी द्वारा कष्ट-निवारण किया जायेगा, संकट में जिनको सहायता दी जायेगी, उनके अन्तःकरण में भी मानवता-पूर्ण चेतना या भावना जागेगी। फिर वे स्वयं भी दूसरों की पीड़ा, दुःख एवं विपत्ति के निवारण के लिए सहानुभूतिपूर्वक जुट पड़ेंगे, परमार्थ का कार्य करने लगेंगे। उनके अन्तःकरण में भी सात्त्विक देवी भावना उदित होगी, उनका हृदय भी विकसित एवं विशाल बनेगा

फिर वे स्वयं भी तन-मन-धन-साधन आदि किसी भी रूप में परोपकार एवं परहित में सक्रिय रूप से प्रवृत्त होने लगेंगे। इस प्रकार परम्परा से परमार्थी, परहितैषी, मानवतापरायण सज्जन व्यक्तियों की संख्या में वृद्धि होगी, जिससे समाज, राष्ट्र एवं विश्व में शान्ति, समृद्धि एवं कल्याणकारिता बढ़ेगी। इस प्रकार परमार्थ-पूर्ण परोपकार मानव जाति की सुरक्षा, विकास, कल्याण एवं सुख-शान्ति का अमोघ उपाय है। मानव समाज को जीवित, विकसित एवं सद्गुणों से समृद्ध रखना है, तो उसके सदस्यों में परस्पर परमार्थ भावना एवं परोपकारी प्रवृत्ति चलती रहनी चाहिए।

मानव जीवन की साथकता भी परमार्थ एवं परोपकार में लगाने में है। परोपकार ही सच्चे इन्सान का लक्षण है। जो मनुष्य स्वार्थी, कृपण और संकीर्ण बनकर जीता है, उसका जीवन मानवीय वृत्ति का नहीं, पशु-वृत्ति का है। केवल स्वार्थ के लिए पशु भी नहीं जीता, वह भी प्रायः मानव का उपकारी एवं सहयोगी बनकर जीता है। निपट स्वार्थी मनुष्य का जीवन तो पशु से भी गया-बीता, निःसार एवं महत्वहीन है।

शास्त्रीय दृष्टि से देखें तो चार कारणों से मानव-शरीर मिलता है— (१) प्रकृति-भद्रता, (२) प्रकृति-विनीतता, (३) परदया के लिए और (४) परहित के लिए। इस दृष्टि से मानव शरीर का महत्व संसार के दुःखी, पीड़ित, अभावग्रस्त एवं पददलित प्राणियों का यत्किञ्चित् हित साधन करने में है। अतः मानव शरीर का मिलना इसी शर्त पर निर्भर है कि वह परमार्थ और परोपकार करता रहे। अगर वह मनुष्य शरीर पाकर भी परमार्थ-पथ में यत्किञ्चित् भी प्रवृत्त नहीं होता है तो फिर उसे मानव-शरीर मिलना अत्यन्त दुर्लभ है। भगवन महावीर ने स्पष्ट कहा है—‘दुल्लहे खलु माणुसे भवे।’

मनुष्य-भव मिलना बहुत ही दुर्लभ है।

प्राकृतिक उपादान भी जब अपनी वस्तु का स्वयं उपभोग न करके दूसरों के उपकार के लिए लुटा देते हैं, तब मनुष्य को तो अपनी शक्तियों महत्वाकांक्षाओं एवं क्षमताओं के अनुसार कुछ न कुछ परोपकार, परमार्थ या परहित करना ही चाहिए। नीतिकार कहते हैं—

पिबन्ति नद्यः स्वयमेव नाम्भः ।

स्वयं न खादन्ति फलानि वृक्षाः ।

नादन्ति शस्यं खलु वारिवाहाः ।

परोपकाराय सतां विभूतयः ॥

नदियाँ अपना जल स्वयं नहीं पीतीं, वृक्ष अपने फल स्वयं नहीं खाते, बादल अपने द्वारा बरसाये हुए जल से उत्पन्न धान्य का उपभोग स्वयं नहीं करते। वस्तुतः सज्जनों की सम्पदाएँ परोपकार के लिये ही होती हैं।

इससे भी सिद्ध होता है कि मनुष्य को प्राणिमात्र के हित के लिए ही मानव-जीवन मिला है। अतः जिस प्रकार शारीरिक विकास, स्वास्थ्य एवं दीर्घायु के लिए यथोचित खाना-पीना, सोना-जागना, व्यायाम करना आदि चर्या आवश्यक है, उसी प्रकार आध्यात्मिक स्वास्थ्य, विकास एवं कल्याण के लिए परमार्थ कार्य करते रहना बहुत आवश्यक है। दिनचर्या में परमार्थ को स्थान दिये बिना आत्मा का निर्मल एवं निष्कलंक रहना अत्यन्त दुष्कर है। अतः नित्य कर्मों की भांति मनुष्य को परमार्थ को भी जीवनक्रम का अभिन्न अंग बनाना चाहिए। अगर वह परमार्थ-प्रवृत्तियों में रत नहीं रहता, तो उसके जीवन में पापकर्मों के प्रविष्ट होने की सम्भावना है। पाप से बचे रहने के लिए किसी भी योग्य परमार्थ कार्य में लगा रहना आवश्यक है।

जो सज्जन अपने अन्तःकरण में परमार्थ बुद्धि का, अपने शरीर में परमार्थ कार्य का तथा बुद्धि में उदार एवं परिष्कृत दृष्टिकोण का विकास कर लेते हैं तथा अपनी आत्मा में आध्यात्मिक स्फूर्ति स्थापित कर लेते हैं, उन्हें फिर कोई भी प्रवृत्ति पापमार्ग में धकेल नहीं सकती।

**आत्मोद्धार ही प्रकारान्तर से विश्व-उद्धार है**

दूसरी दृष्टि से देखें तो परमार्थ से छद्मस्थ साधक को भी दो लाभ हैं—एक तो आत्मोद्धार और दूसरा विश्व कल्याण।

जो दूरदर्शी मनीषी महात्मा अपने उद्धार, सुधार या अभ्युदय पर जितना ध्यान देते हैं, अपनी त्रुटियों और दोषों-दुर्बलताओं को खोजने और दूर करने का पुरुषार्थ करते हैं, वे एक प्रकार से उतना ही संसार का सुधार एवं उपकार करते हैं; क्योंकि ऐसे साधकों के ज्ञान-दर्शन-चारित्र्य के शुद्ध आचरण से अनेक लोगों को शुद्ध आचरण की प्रेरणा मिलती है, अनेकों को उस प्रकार के आचरण से आत्मसन्तोष एवं आत्मिक सुख शान्ति मिलती है। इस दृष्टि से व्यक्ति का सुधार भी संसार का सुधार है, और संसार का सुधार परमार्थ कार्य ही होता है। जो अपनी आत्मा को उज्ज्वल बनाता है, जो अपने अध्यात्मपथ को प्रशस्त करता है, वह संसार के भविष्य को उज्ज्वल बनाता है, तथा संसार के लिए अध्यात्म-पथ को प्रशस्त करता है।



इस प्रकार विश्वकल्याण या विश्वोद्धार की व्यापक भावना के अन्तर्गत व्यक्ति के आत्मकल्याण या आत्मोद्धार की भावना आ जाती है। दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। दोनों में कोई अन्तर नहीं है।

**आत्मोद्धार : संसार के उद्धार का प्रथम चरण**

एक और दृष्टि से सोचें तो भी अपना उद्धार करना संसार का उद्धार करने का प्रथम चरण है। जो पहले अपना सुधार या उद्धार नहीं कर सकता वह संसार का या किसी दूसरे का सुधार या उद्धार कैसे कर सकता है? जो स्वयं क्षमादि दश उत्तम श्रमण धर्मों से सम्पन्न है, वही दूसरों को क्षमा, निर्लोभता आदि उत्तम धर्मों की शिक्षा देने का अधिकारी है। तीर्थंकर भगवान् ने भी सर्वजगत् के जीवों की आत्मरक्षा रूप दया से प्रेरित होकर अपना प्रवचन कहा है।<sup>१</sup> अतः जो स्वयं अच्छा होगा, सज्जन होगा, वही दूसरे को अच्छा एवं सज्जनता से सम्पन्न बना सकता है। सच्चा साधक संसार को जिस रूप में देखना चाहता है, सर्वप्रथम उसे स्वयं ही बैसा बनना पड़ेगा। तभी वह अपने व्यक्तित्व को विश्वत्व में प्रतिबिम्बित और समर्पित कर सकेगा। यही कारण है कि सच्चा साधक संसार का कल्याण या सुधार का कार्य अपने से प्रारम्भ करता है। आत्म-सेवा या आत्म दया भी वस्तुतः संसार-सेवा या संसार दया का अंग है।

**आत्म-सुधार ही संसार-सुधार का आसान उपाय**

आत्मोद्धार या आत्मसुधार संसार का सुधार करने का सरल और आसान उपाय है। दूसरों पर नियन्त्रण करने की अपेक्षा अपने पर अपना अधिकार और नियन्त्रण अधिक होता है। स्वयं को अपनी इच्छानुसार चाहे जिस ओर मोड़ा या चाहे जिस आदर्श में ढाला जा सकता है। दूसरों पर व्यक्ति का कोई अधिकार नहीं होता। साधक किसी से कुछ निवेदन, प्रेरणा या निर्देश ही कर सकता है, समझा सकता है, परामर्श दे सकता है, किन्तु अपनी तरह उसे अपने मनोनीत पथ पर बलात् चला नहीं सकता। और यह भी निश्चित नहीं कि निवेदन आदि करने पर दूसरे लोग उसकी बात मानें ही। वे मान भी सकते हैं और नहीं भी। इस संदिग्ध स्थिति में विश्व-सुधार का कार्य सरलतापूर्वक नहीं किया जा सकता। अतः सबसे सही और

१ देखिये प्रश्नव्याकरण सूत्र में—“सर्वजगज्जीव-रक्षण-दयदृष्ट्याए पाव यणं भगवया सुकहिम्।”

सुगम मार्ग यही है कि व्यक्ति अपने आत्मसुधार के माध्यम से विश्व सुधार और विश्वोद्धार में लगे ।

**आत्मोद्धार के बिना विश्वोद्धार सम्भव नहीं**

जो व्यक्ति संसार को स्वच्छ और सुसंस्कृत बनाना चाहते हैं उन्हें सर्वप्रथम अपने आपको स्वच्छ और सुसंस्कृत बनाना अनिवार्य है । यदि वे स्वयं बुरे हैं तो उनके द्वारा संसार को अच्छा और सुसंस्कारी बनाना सम्भव नहीं होगा । फिर चाहे वे समाज में जाकर लोगों की सेवा ही क्यों न करते हों, या लोगों को ज्ञान का प्रकाश और सदभावना का अमृत ही क्यों न बांटते हों । उसका पहला कारण यह है कि लोग उस (बुरे) व्यक्ति पर विश्वास ही न करेंगे, कदाचित् कोई उसका लच्छेदार भाषण-संभाषण सुनने को तैयार भी हो जाए, तो भी उसका कोई चिरस्थायी प्रभाव नहीं होगा । कदाचित् ये दोनों बातें हो जायें, तो भी एक ओर वह जितना सुधार करेगा, दूसरी ओर उसकी बुराइयाँ एव कमजोरियाँ उतनी ही तेजी से उसमें दम्भ, अहंकार, क्रोध, लोभ, राग-द्वेष आदि विकार पैदा कर देंगे । अतः यही परमार्थ का सर्वोत्तम मार्ग है कि संसार का उद्धार करने से पूर्व आत्मोद्धार किया जाए ।

**सदाशयतापूर्ण स्वार्थ भी परमार्थ का एक अंग**

आत्मोद्धार, आत्मकल्याण या आत्मविकास को निःकृष्ट स्वार्थ मानना भारी भूल है । क्योंकि सदाशयतापूर्ण स्वार्थ भी एक प्रकार से परमार्थ है । अपनी आत्मा का स्वार्थ जिन उदात्त एवं पवित्र विचारों, कार्यों या उद्देश्यों से सिद्ध होता है, उन्हीं के माध्यम से संसार का हित-साधन भी होगा । व्यक्ति को जिन गुणों एवं उपायों से आत्मशान्ति, आत्म-सन्तोष और आत्म-कल्याण का लाभ होगा, उनके सिवाय और कौन-से कारण और उपाय होंगे, जो दूसरों की आत्माओं को इन गुणों से सम्पन्न कर सकें ?

**उत्कृष्ट स्तर का स्वार्थ : परमार्थ का रूप**

जो कार्य उच्च उद्देश्य और उज्ज्वल स्वार्थ को लेकर किया जाता है, उसका अन्तर्भाव एक प्रकार से परमार्थ में ही होता है । इसलिए कहना होगा कि सच्चा स्वार्थ ही परमार्थ है । स्वार्थ-सिद्धि का परिणाम यदि आत्मसुख, आत्मसन्तोष और आत्मकल्याण है तो परमार्थ का परिणाम भी वही माना जाता है । अन्तर इतना-सा है कि कोरे स्वार्थ का सुख अस्थायी

और अन्त दुःखद होता है, जबकि परमार्थ से प्राप्त सुख स्थायी और विश्वोभरहित होता है। फिर क्यों न परमार्थ के अन्तर्भाव भरे हुए स्वार्थों द्वारा सुख और सन्तोष पाया जाए ?

निष्कर्ष यह है कि उत्कृष्ट स्तर का स्वार्थ वस्तुतः परमार्थ का ही एक रूप होता है। मनुष्य के सत्कार्य, सच्चरित्रता और सद्गुण स्वयं ही परमार्थ बन कर संसार में अभिव्यक्त होते हैं। लोक-कल्याण और आत्म-कल्याण की गति-मति और दृष्टि भिन्न-भिन्न नहीं होती। जो माध्यम आत्मकल्याण का होता है, वही लोककल्याण का होता है। यद्यपि परमार्थ-परायण पुरुष लोक-कल्याण या विश्वोद्धार करने का आग्रह नहीं रखता एवं ठेका नहीं लेता। उसके द्वारा अनायास ही लोक-कल्याण होता रहता है।

**परमार्थों के तप और भावना का प्रभाव पतित को पावन करने में समर्थ**

परमार्थी एवं आध्यात्मिक व्यक्ति जब आत्म-सम्प्रेक्षण करता है, तब दूसरे या अपने आस-पास के व्यक्तियों की बुराई, पतन एवं पापग्रस्तता का कारण अपने भोतर खोजता है, वह उन व्यक्तियों में इन दोषों के रहने का कारण अपनी आत्मा की दुर्बलता, आत्मशक्ति की न्यूनता या आत्मा पर आई हुई मलिनता मानकर उसका निराकरण करता है, तपस्या, अनुप्रेक्षा और भावना द्वारा उन व्यक्तियों का हृदय-परिवर्तन करने का पुरुषार्थ करता है। हालांकि वह दूसरों को सुधारने का दावा या अहंकार नहीं करता, फिर भी वह ऐसा प्रयत्न करता है, जिससे दोषी, पतित या पापी व्यक्ति स्वयं सोचने और बदलने को मजबूर हो जाए। परमार्थपरायण पुरुष के वात्सल्य, तप एवं भावना का प्रभाव उस पर इतना गहरा पड़ता है कि उससे प्रभावित होकर बुरा व्यक्ति भी अच्छा बन जाता है, पतित और पापी भी धर्मात्मा और सन्त या सज्जन बन जाता है। परमार्थी व्यक्ति के इर्द-गिर्द या सम्पर्क में आने वाले पर उसके वायुमण्डल, प्रभामण्डल का, शुद्धविचार की लहरों या परमाणुओं का प्रभाव इतना अचूक पड़ता है, जिससे बुरे विचारों या कार्यों के परमाणु दब जाते हैं, या प्रभावहीन हो जाते हैं और अच्छे विचार उनके मन-मस्तिष्क पर छा जाते हैं। फिर उन्हें बुराई या पाप करने का विचार तक ही नहीं आता।

**स्वार्थों और परमार्थों जीवन का निर्णय**

स्वार्थी व्यक्ति अपने लिये ही सब कुछ सोचता और चाहता है। वह अपने स्त्री-बच्चों को भी स्वार्थ-साधन के रूप में देखता है और इसी कारण

उनका भरण-पोषण करता है। पत्नी को शारीरिक सेवाओं के लाभ मिलने की आशा से तथा पुत्र को दहेज आदि के रूप में प्रचुर धन मिलने एव बड़ा होने पर कमा कर खिलाने की आशा से प्यार करता है। बेटी से उसे कोई लाभ नहीं, हानि है, इसलिए उसे हेय लगती है। स्त्री भी यदि कुरूप, रुग्ण, वन्ध्या आदि हो तो उसे भी वह अपना वश चलते छोड़ने में नहीं हिचकिचाता। कई लोग बेटी को बेचने या बहन का धन हड़प जाने में भी नहीं हिचकते। जीभ के स्वाद के लिए ऐसे कुकर्मी पशु-पक्षियों का वध करते हुए संकोच नहीं पाते। संसार में कोई भी ऐसा अनैतिक आचरण या पाप-कर्म नहीं, जिसे निकृष्ट स्वार्थी न करता हो। अपराध और कुकर्म करना स्वार्थपरता का उत्कृष्ट रूप है।

तुच्छ स्वार्थी का दृष्टिकोण संकुचित, तुच्छ और निन्दनीय होता है। वह पैसा कमाता है, उसे घर के लोगों को अधिक सम्पन्न बनाने या अपने भोग-विलास एवं ऐशआराम में खर्च करता है। समाज में कितने ही लोग अशिक्षित, बीमार, बेकार, कुरुङ्गिग्रस्त हैं, निर्धनता की चक्की में पिस रहे हैं, फिर भी उन्हें सुपथ पर लाने या सहयोग देने में वह खर्च करना नहीं चाहता। किसी के दवाब से, या यशोलिप्सा से, अथवा किसी मामले में फँस जाने के कारण रोते-झिंकते किसी को कुछ दे दे तो बात दूसरी है। निष्कर्ष यह है कि निकृष्ट स्वार्थी व्यक्ति को अपना स्वार्थ सर्वोपरि लगता है। अपनी स्वार्थ पूर्ति के लिए लोकहित की असीम क्षति होती होगी तो भी उसे कोई झिझक महसूस नहीं होती।

इसके विपरीत परमार्थी मानव सार्वजनिक हित के लिए स्वयं घाटा सहने, या कष्ट सहने को तैयार रहेगा। परमार्थपरायण मनुष्य आध्यात्मिक दृष्टिकोण से सोचता है। वह अपने आसपास बिखरे पड़े पीड़ा और पतन के कहरापूर्ण दृश्य देखकर पिघल जाता है और अपने पास जो कुछ भी है, उसे दयाद्रव्य होकर उन दुःखितों के दुःख दूर करने में लगा देने में नहीं हिचकिचाता। दूसरों का दुःख बाँट लेने और अपना सुख बाँट देने की दो कसौटियाँ ही पारमार्थिक अध्यात्मजीवन को खरा सिद्ध करती हैं। ऐसी स्थिति में परमार्थी मानव जो कुछ पाता है या न्याय-नीति पूर्वक उपार्जन करता है, उसी में से अपने निर्वाहार्थ न्यूनतम आवश्यकता भर रखकर शेष सब परमार्थ कार्यों में लगा देता है। परमार्थ-परायण व्यक्ति के लिए अमीरी ठाठ-बाट भरा जीवन जीना तथा भविष्य में सम्पत्ति, विलासिता और अहंतापूर्ति के लम्बे-चौड़े सपने देखना सम्भव नहीं है। वह तो अपनी

आवश्यकताओं में भी कटौती करके बचाता है, उसे परमार्थ-प्रयोजन में लगा देता है।

उपभोग की प्रसन्नता तुच्छ स्तर के लोगों को होती है, परमार्थी को नहीं। परमार्थी मानव निजी उपभोग की अपेक्षा परमार्थ-कार्यों में उपार्जित शक्तियों एवं वस्तुओं का सदुपयोग होते देखकर अधिक प्रसन्न एवं सन्तुष्ट होते हैं। वह लोकहित में अपने साधनों का प्रयोग करता है। परमार्थ-परायण व्यक्ति का अध्यात्म-परक चिन्तन यही रहता है कि हम सौ हाथों से कमाएँ अवश्य पर हजार हाथों से साहसपूर्वक बाँट दें। हम में दूसरों का दुःख बाँट लेने और अपना सुख बाँट देने की प्रवृत्ति मुखर हो। हमारा दृष्टिकोण एवं क्रिया कलाप अधिकाधिक परमार्थ-परायण हो, इसी में व्यक्ति का गौरव है, समाज का हित है।

ऐसा परमार्थी व्यक्ति बाहर से भले ही साधारण स्थिति का दिखाई दे, वह हँसता-मुस्कराता या खिलखिलाता दृष्टिगोचर न हो तथापि उसका अन्तःकरण परिपूर्ण बना रहता है। उसके रग-रग में स्वार्थ-त्याग की भावना भरी रहती है और स्वार्थ-त्याग के लिए वह कठोर तपस्या भी करने को उद्यत रहता है। उसमें एक अहेतुक सम्पन्नता और गरिमा की अनुभूति बनी रहती है। किसी का हित करना, पीड़ितों और पददलितों तथा आवश्यकता-विहीनों की सेवा करना, किसी की सहायता में तत्पर रहना, किसी को दुःखित-पीड़ित देखकर सहानुभूति प्रकट करना, ऐसी परमार्थी वृत्ति है, जो परमार्थी की आत्मा को ही सन्तुष्ट नहीं करती, बल्कि उसके सम्पर्क में आने वाले हर व्यक्ति को सन्तुष्ट और प्रसन्न करती है। जिससे उसकी आत्मा आनन्दित होती है। समाज के लोग उसे श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं, उसकी प्रशंसा भी करते हैं, उसका कोई शत्रु नहीं होता, सभी उससे प्रेम करते हैं। इसलिए महर्षि व्यास ने कहा है—**जीवितं सफलं यस्य, यः परार्थोद्यतः सदा**—जीवन उसी का सफल है, जो सदा परोपकार में प्रवृत्त रहता है।

अबन्ती की विशाल जनसभा में एक जिज्ञासु बालक ने तथागत महात्मा बुद्ध से पूछा—“भगवन ! संसार में सबसे छोटा कौन है ?” बालक को प्रतिभा देखकर महात्मा बुद्ध ने गम्भीर होकर कहा—“जो केवल अपनी ही बात सोचता है, अपने स्वार्थ को ही सर्वोपरि मानता है वही छोटा है।” यह है—स्वार्थ-पूर्ण जीवन की संक्षिप्त श्लांकी !

संघर्ष, द्वेष, ईर्ष्या, लोभ-लिप्सा आदि दोषों का मूल कारण स्वार्थ-परता ही है। निकृष्ट स्वार्थपरता के कारण मनुष्य चोर, डकैत, ठग, बेईमान और दुष्ट बन जाता है। ऐसे निकृष्ट स्वार्थ की ओर पैर बढ़ाते समय उसकी आत्मा धिक्कारती है। लोग उसकी अप्राकृतिक प्रवृत्ति एवं निन्दनीय दुर्बलता जान कर उसके प्रति आशंका एवं तिरस्कृत भावना से देखते हैं। स्वार्थपूर्ण जीवन सबसे दुःखदायी जीवन है। वे समाज और राष्ट्र में नरक-सी परिस्थितियाँ उत्पन्न कर देते हैं। अतः निकृष्ट स्वार्थी का जीवन अशान्त, चिन्तित एवं असन्तुष्ट रहता है।

इसके विपरीत परमार्थ बुद्धि रखने वाले व्यक्ति का सामाजिक और राष्ट्रीय ही नहीं, पारिवारिक जीवन भी शान्त, सुखी एवं सन्तुष्ट रहता है। परिवारों में कलह का प्रमुख कारण तुच्छ स्वार्थ ही होता है। परिवार में जहाँ मुखिया स्वार्थपरायण होता है, वहाँ सभी लोग अपनी स्वार्थपूर्ति के लिए अधिक से अधिक सुख-सुविधाएँ एवं वस्तुएँ चाहते हैं। ऐसी स्थिति में परिवार नरकतुल्य कष्टदायक बन जाता है। किन्तु जिन परिवारों के मुख्य व्यक्ति परमार्थ दृष्टि वाले होते हैं, वे सर्वप्रथम अपने स्वार्थ का परित्याग करके अधिकारों के बदले कर्तव्यों को अपनाते हैं। सबको समुचित आदर और समान प्रेम देते हैं। अपना कोई भाग न रखकर सारे का सारा अपने परिजनों को बाँट देते हैं। ऐसे समभावी प्रमुख को कष्ट पहुँचाना तो दूर, उसके विरुद्ध कुछ भी बोलना कौन चाहेगा? यही कारण है कि जिस परिवार में परमार्थ के संस्कार कूट-कूट कर भर जाते हैं उस परिवार में न्याय, नीति, निःस्वार्थ प्रेम और वात्सल्य का झरना सतत बहता रहता है। सारे परिवार को उस परमार्थी प्रमुख के गुणों का चेष लग जाता है, किसी में तुच्छ स्वार्थ की गन्ध भी नहीं रहती।

इस प्रकार जिस परमार्थी आत्मा ने स्वार्थ का त्याग और परमार्थ का ग्रहण अपने संस्कारों में रमा लिया, अपना जीवन भी तदनु रूप ढाल लिया, उसने मानो जीते जी इस लोक में ही स्वर्ग का द्वार खोल दिया। परमार्थी की इस सन्तोषपूर्ण स्थिति में कितनी मानसिक और आत्मिक उन्नति हो सकती है, इसे परमार्थ-पथ अपनाने वाला अनुभवी ही जान सकता है।

**स्वार्थ और परमार्थ का मुख्य आधार : दृष्टिकोण**

स्वार्थ और परमार्थ का अन्तर किसी कार्य के बाह्य स्वरूप को देख कर नहीं, अपितु कर्ता के दृष्टिकोण को समझकर ही जाना जा सकता है।

आचारांग सूत्र में आश्रव-संवर के विवेक के सम्बन्ध में एक सूत्र आता है—  
 'जे आसवा ते परिसवा, जे परिसवा ते आसवा । इसका भावार्थ यह है कि जो कार्य या स्थान आश्रव के हैं, वे ही परिश्रव अर्थात् संवर के हो जाते हैं, और जो संवर के कार्य या स्थान होते हैं, वे भी आश्रव के स्थान या कार्य हो जाते हैं । इसका भी प्रमुख कारण कर्त्ता का परिणाम या दृष्टिकोण है ।

बाहर से स्वार्थ दीखने वाले कार्य भी परमार्थ जैसे पुण्य-फलदायक हो सकते हैं और परमार्थ के आडम्बर में भी स्वार्थ सिद्धि की दुरभिसन्धि छिपी हो सकती है । स्वास्थ्य-रक्षा, शिक्षा, चिकित्सा एवं अर्थसहायता आदि कार्य देखने में परहित के मालूम होते हैं, परन्तु इन शुभ कार्यों के पीछे भी धर्मान्तर कराकर अपने अनुयायी बढ़ाने, अथवा किसी को अन्धविश्वास में फँसा कर उससे धन बटोरने का प्रयोजन हो तो क्या उसे परमार्थ का कार्य कहा जाएगा ? परन्तु यदि स्वहित के प्रतीत होने वाले शिक्षा प्राप्ति, अर्थो-पार्जन या वैज्ञानिक आदि कार्य यदि इन उपलब्ध शक्तियों का उपयोग लोकहित के लिए किया जाए तो इन सबको परमार्थ माना जाएगा । इसके विपरीत यदि कोई धार्मिक या सांस्कृतिक समारोह या आडम्बर अथवा लोकसेवा का घटाटोप इसलिए रचा गया हो कि उसकी ओट में लोगों से अधिकाधिक पैसा बटोरा जा सकेगा या उसके कारण धर्मात्मा, सेवाभावी या प्रामाणिक होने की ख्याति बटोरी जा सकेगी, तो समझना चाहिए कि बाहर से परमार्थ कार्य प्रतीत होते हुए भी वे निम्न स्तर के स्वार्थ साधन हैं । स्वार्थी या परमार्थी की परख के लिए कर्त्ता का दृष्टिकोण या परिणाम जानना आवश्यक है । स्वार्थ के लिए पहलवान बनने वाला व्यक्ति कुशती-प्रतियोगिता में जीतने, दूसरों को दबाने-सताने या डराने-धमकाने अथवा बलप्रयोग से दूसरों से अपनी बात मनवाने में अपने बल का प्रयोग करेगा । स्वार्थपरता की उत्कटता हुई तो वह अपनी बलिष्ठता का उपयोग चोरी, डकैती, गुण्डागर्दी जैसे दुष्कृत्यों में करने लगेगा । इसके विपरीत परमार्थ का दृष्टिकोण रखकर पहलवान बनने वाला व्यक्ति अपनी शारीरिक शक्ति का उपयोग अबलाओं की शील-रक्षा करने में, अन्यायी, अत्याचारी या आततायियों से असमर्थों—दुर्बलों की रक्षा करने में, न्याय दिलाने, शान्ति-रक्षा में या पीड़ितों की सेवा करने में करेगा । यही बात विद्या, धन आदि के उपार्जन करने वाले व्यक्तियों के सम्बन्ध में कही जा सकती है । यदि वह विद्या प्राप्त करके ज्ञान का एक-एक कण बेचता है, मुफ्त में रत्ती भर ज्ञान भी नहीं देता है; अपने चातुर्य से वाग्जाल रचकर विद्यार्थियों से अधिका-

धिक पैसा बटोरने में नहीं हिचकता तो समझना चाहिए, वह स्वार्थी विद्वान् है। यदि वह विद्या का उपयोग विनाशकारी साधन बनाने में करता है तो समझना चाहिए, वह निकृष्ट स्वार्थी है। इसके विपरीत यदि वह दूसरों का हित साधन करने में अपनी विद्या का उपयोग करता है, समाज के धनी-मानी लोग उसके निर्वाह व्यय के साधन जुटा देते हैं तो समझना चाहिए, वह परमार्थ के पथ पर है।

निष्कर्ष यह है कि यदि कर्ता का दृष्टिकोण किसी कार्य को संकीर्ण 'स्व' के लिए या सम्बद्ध सीमित परिवार के सीमित लाभ को लेकर करने का है, तो वह 'स्वार्थ' है, परन्तु उसी कार्य के पीछे कर्ता का दृष्टिकोण सार्वजनिक हित का है, तो वह परमार्थ है। यही कारण है कि निकृष्ट स्वार्थ को पाप का और परमार्थ को पुण्य का आधार माना गया है। निकृष्ट स्वार्थ से दूसरों का उत्पीड़न होता है, जबकि परमार्थ से दूसरों के कल्याण और अपने धर्म का पालन होता है।

इसे दूसरे शब्दों में यों कह सकते हैं कि लोभ, लोलुपता और परपीड़न की भावना से प्रेरित प्रवृत्तियाँ निकृष्ट स्वार्थ हैं। संकीर्ण, भौतिक एवं निकृष्ट स्वार्थ को मिथ्या स्वार्थ एवं मनस्वी महात्माओं द्वारा निन्द्य एवं हेय बताया गया है। झूठा स्वार्थ मनुष्य को वासना और तृष्णा में ग्रस्त करके अनेक कुकर्म करने को विवश कर देता है। ऐसा संकीर्ण स्वार्थी मानव धर्म की उपेक्षा करने लगता है, जिससे वह संसार का अपकार ही करता है, अपना भी पतन करता है। वह तात्कालिक लाभ के बदले लोक-निन्दा, अविश्वास, असन्तोष, विरोध, विक्षोभ, आत्मग्लानि, अशान्ति आदि प्राप्त करता है।

इसीलिए महर्षि व्यास ने सभी धर्मग्रन्थों का निचोड़ प्रस्तुत कर दिया है—

**‘परोपकारः पुण्याय, पापाय परपीडनम् ।’**

‘परोपकार=परमार्थ पुण्य के लिए और परपीड़न=तुच्छ स्वार्थ पाप के लिए होता है।’

ऐसा नारकीय स्वार्थान्ध मानव कष्टदायक मानसिक एवं शारीरिक नरक में पड़ता है।

इस तथ्य-सत्य का कारण यह है कि स्वार्थान्ध व्यक्ति अपने सीमित-संकुचित लाभ में इतना डूबा रहता है कि उसे परमार्थ की—सार्वजनिक



हित की बात सूझती ही नहीं, और प्रायः अपने निजी लाभ के लिए नैतिक मर्यादाओं को तोड़ने या लोकहित को खतरे में डालने में कोई हिचक नहीं होती। इसके विपरीत परमार्थ-परायण व्यक्ति सार्वजनिक हित को प्रधानता देता है और अपना निजी लाभ उसी सीमा तक स्वीकार करता है, जिसमें सामाजिक हित या सुव्यवस्था को किसी प्रकार की हानि न पहुँचती हो। यह दृष्टिकोण का ही अन्तर है, जिसके कारण एक ही कार्य उत्कृष्ट भी हो सकता है, निकृष्ट भी। इसे ही हम क्रमशः परमार्थ और स्वार्थ कहते हैं।

संसार के प्रत्येक महामानव परमार्थी रहे हैं। उनके तन-मन-वचन में लोकहित की प्रधानता थी। जनहित के लिए उन्होंने अपनी शक्तियों का अधिकाधिक भाग लगाया—खपाया है। अपनी व्यक्तिगत सुख-सुविधाओं को ठुकरा कर, स्वयं कष्टसाध्य जीवन जीते हुए उन्होंने परमार्थ-प्रयोजनों में अपने आपको संलग्न रखा है। पीड़ित मानवता के घावों पर मरहम लगाने के लिए उसके पास जो कुछ बल, बुद्धि, विद्या, सम्पत्ति तथा शक्ति है, उसका वह अधिकाधिक भाग समर्पण कर देता है। परम परमार्थी रन्ति-देव के समान उसकी भावना एवं दृष्टि यही रहती है—

‘न त्वहं कामये राज्यं, न स्वर्गं, ना पुनर्भवंम् ।

कामये दुःखतप्तानां, प्राणिनामार्त्तिनाशनम् ॥’

मैं राज्य की कामना नहीं करता, न ही स्वर्ग और मोक्ष चाहता हूँ। किन्तु दुःख से संतप्त प्राणियों की पीड़ा नष्ट करने की कामना करता हूँ। ऐसी स्थिति में सच्चा परमार्थी यह नहीं सोचता कि अपने परिवार को अपने वैभव का लाभ मिलना चाहिए, बल्कि यही सोचता है कि प्रत्येक पीड़ित, अभावग्रस्त, अज्ञानग्रस्त एवं अधर्मपरायण व्यक्ति को उसकी शक्ति, बुद्धि, विद्या आदि का लाभ मिले।

**सबसे उच्चकोटि का परमार्थ : आत्मबोध**

वास्तव में देखा जाए तो सबसे उच्चकोटि का परमार्थ ज्ञानदान है। इसे ही शास्त्रीय भाषा में ‘आत्म-बोध’ कह सकते हैं। दृढ़प्रहारी, चिलाती-पुत्र, रोहिणेय, हारंकेशबल मुनि आदि अपराधकर्मी व्यक्तियों को परमार्थी महापुरुषों द्वारा आत्मबोध मिला, जिससे उनका जीवन ही बदल गया। परमार्थी नारदजी से डाकू बाल्मीकि को एवं महात्मा बुद्ध से अंगुलिमाल को ऐसा आत्मबोध मिला कि उन्होंने लूट, हत्या, त्रास देना आदि सब पाप-

कर्म छोड़ दिये। इसी आत्मबोध के कारण वाल्मीकि एवं अंगुलिमाल का हृदय-परिवर्तन हो गया, वे महान ऋषि व भिक्षु बने।

अन्न, वस्त्र, जल, स्थान आदि देने जैसे सहायता कार्यों की अपेक्षा आत्मबोध का ज्ञान दान अनेकगुणा उत्कृष्ट परमार्थ है; क्योंकि अन्नदान आदि का लाभ क्षणिक और तात्कालिक है। वे वस्तुएँ समाप्त होते ही, व्यक्ति फिर अभावग्रस्त हो जाता है। जबकि ज्ञानदान या आत्मबोध से व्यक्ति की अन्तःशक्ति जागृत कर देने पर वह अपनी अन्तरात्मा में भरे हुए खजाने से परिचित हो जाने पर सदा के लिए आत्मबोधसम्पन्न बन जाता है। आत्मबोध प्राप्त होते ही मनुष्य निकृष्ट जीवन का परित्याग कर तुच्छ से महान् बन जाता है। इसीलिए पंच-परमेष्ठी भगवन्त महान्, पूज्य एवं उच्चकोटि के परमार्थी माने गए हैं। आत्मबोध से सम्पन्न ऐसे व्यक्तियों के जीवन से भी अनेकों व्यक्तियों को प्रेरणा और शिक्षा मिली है। अतः सबसे उच्चकोटि का परमार्थ यही है कि सम्पर्क में आने वाले व्यक्ति की क्षमता और योग्यता को समझकर उसमें आवश्यक ज्ञान एवं तप-त्याग की भावना उत्पन्न की जाए, उसकी अन्तरंग शक्ति जगाई जाए। उसे किसी ऐसी निकृष्ट प्रवृत्ति से विरत कर दिया जाए, जिससे वह आगामी संकट और दुष्कर्मजनित पीड़ाओं से बच सके। यद्यपि सद्ज्ञान-संवर्धन जैसे कार्य आँखों से न तो दीखते हैं, न ही उनमें तुरन्त बाह्यवाही मिलती है, और न लाभान्वित होने वाला उसकी प्रशंसा के पुल बांधता है। अतः सच्चा परमार्थी उच्चकोटि का विवेकवान्, दूरदर्शी एवं सत्परिणामों का मूल्यांकन करने वाला होता है। उसका संकल्प यह होता है कि अज्ञानग्रस्त अनेक मूढ़ताओं का शिकार, कुरूडिपरायण समाज सम्यग्ज्ञान-दर्शन का प्रकाश प्राप्त कर सत्पथगामी या मोक्षगामी बने और कर्मबन्ध से मुक्ति पाए।

**परमार्थ-भावनाएँ टालिये मत**

परमार्थ-कार्यों की मानव जीवन में दैनिक आवश्यकता को अनुभव करते हुए भी अधिकांश लोग उन्हें क्रियान्वित करने में प्रमाद करते हैं।

बहुत से लोग अवसर और परिस्थिति न होने का बहाना बनाते रहते हैं। परन्तु जो व्यक्ति अपनी आत्मा के प्रति वफादार और विवेकी है, उसके लिए परमार्थ के अवसरों की कमी नहीं है। अतः यह सोचना ठीक नहीं कि अवसर आएगा, तब परमार्थ कार्य करेंगे। हो सकता है, व्यक्ति का अभीष्ट अवसर जिदगी में कभी न आए और उसका परमार्थ-मनोरथ

मन ही मन रह जाए। अतः जो अवसर आज सौभाग्य से प्राप्त है, उसे टालना ठीक नहीं। अमुक सुविधा मिलने पर परमार्थ कार्य करने की शर्त लगाना एक प्रकार की बहानेबाजी है। न जाने परमार्थ कार्य करने की फिर कभी भावना या उत्साह पुनः आए या न आए।

किसी भी परमार्थयुक्त सत्कार्य को करने में अवसर या परिस्थितियाँ नहीं, अपितु भावना एवं उत्साह ही मुख्य होता है। भावना प्रबल हो तो निर्बल एवं असमर्थ व्यक्ति भी आश्चर्यजनक रूप से परमार्थ कर गुजरते हैं। इसके विपरीत जिनमें भावना नहीं, उनकी परिस्थिति भी अच्छी हो, अवसर भी अनुकूल हो, फिर भी वे कोई न कोई बहाना बनाकर परमार्थ के लिए टालमटूल करते रहते हैं। उनका स्वार्थी मन, परमार्थ में कम बाधक नहीं होता। कभी-कभी कुटुम्बीजन भी अपने निहित स्वार्थवश उलटे-सीधे तर्क प्रस्तुत करके उसे परमार्थ से विरत कर देते हैं। ऐसे व्यक्ति को यह सोचना चाहिए कि आज जो परमार्थ कार्य करने की परिस्थिति है, वह आगे नहीं बनी रहेगी। मनुष्य की चढ़ती-पड़ती दशा होती रहती है। आज वह धनवान है, कल को निर्धन भी हो सकता है। आज निश्चित है, वह कल अनेकों चिन्ताओं और समस्याओं से घिर सकता है। ऐसी दशा में उसका मनोरथ अधूरा ही पड़ा रहेगा।

इसीलिए भगवान ने शुभ कार्य को करने के साथ 'मा पडिबंध करेह' शुभ कार्य में देर मत करो। 'शुभस्य शीघ्रम्' के अनुसार इसे शीघ्र कर डालो। परमार्थ के लिए पैसे की ही जरूरत हो, ऐसा नहीं है। और समय-भाव का होना भी व्यर्थ है। खाने-पीने, सोने-जागने तथा विश्राम और मनोरंजन के समय में से कुछ समय अवश्य निकाला जा सकता है। सच्ची भावना हो और परमार्थ को अनिवार्य कार्यों की तरह अपरिहार्य समझा जाए तो उसे करने में धन या रूपये न होने का बहाना गौण हो जाता है। फिर परमार्थ तो तन, मन, धन या साधन से भी हो सकता है। कई परमार्थ कार्य तन या धन के न होने पर भी मन से भावना से भी हो सकते हैं। अतः परमार्थ के कार्य की उपेक्षा किसी भी हालत में करना उचित नहीं है।

### परमार्थ की श्रेणियाँ

कई लोग कहा करते हैं कि उच्चकोटि का परमार्थ तो तीर्थंकर, वीतराग प्रभु या साधु-सन्त ही कर सकते हैं। हम गृहस्थ या अमुक व्यव-

साथी, नौकरीपेशा वाले या शासक वर्ग के लोग, स्वार्थ में ही डूबे हुए हैं, हम स्वार्थमग्न लोग परमार्थ कैसे कर सकते हैं। स्वार्थयुक्त कार्य भी परमार्थ-युक्त बन सकते हैं, बशर्ते कि परहित की परमार्थ भावना का उसमें समावेश हो। जैसे—खेती करने वाले व्यक्ति का भाव यह हो कि इससे हमारे परिवार के साथ ही समाज, राष्ट्र और अन्य प्राणियों को आहार मिलेगा, वे अपने-अपने सदस्यों को इस योग्य बना सकेंगे, ताकि समाजहित के साथ-साथ आत्मा का उद्धार कर सकें। नौकरी के साथ इस प्रकार के उच्च भावों को सम्मिलित किया जाए तो सोचने का दृष्टिकोण ही बदल जाता है। अर्थात्—वह यह सोचे कि मैं किसी एक व्यक्ति या सरकार की नौकरी नहीं कर रहा हूँ, अपितु पूरे राष्ट्र और समाज की सेवा कर रहा हूँ। अपना काम पूरी जिम्मेदारी एवं तत्परता से करना मेरा पुनीत कर्तव्य है। ऐसा भाव आते ही वह स्वार्थपरक कार्य परमार्थपरक बनकर अधिकाधिक सुख, सन्तोष और उत्साह देने वाला होगा। स्वार्थ परमार्थ बने, इसका सुगम उपाय यह है कि उस कार्य को केवल अपने सीमित स्वार्थ की सीमा तक नियंत्रित रखा जाए, उसका घेरा इतना न बढ़ाया जाए, कि वह दूसरों की सीमाओं का उल्लंघन करने लगे। साथ ही अपने स्वार्थ में लोभ, लिप्सा एवं लालसा-तृष्णा को स्थान न देना चाहिए। कोई भी ऐसा काम न करें जिसमें लोकनिन्दा, राजदण्ड या लोकापवाद का भागी बनना पड़े। अपने निजी स्वार्थ से जो न्याययुक्त उचित लाभ हो, उसका कम से कम एक अंश भी अगर लोकसेवा में लगाते रहे तो उसके फलस्वरूप व्यक्ति को अनिर्वचनीय आनन्द, सुख और उल्लास मिलेगा।

निकृष्ट स्वार्थभावना में से उच्च स्वार्थ की परिधि में जाने का साधारण-सा उपाय यह है कि व्यक्ति अपने व्यक्तित्व को उज्ज्वल, उन्नत और व्यापक बनाए। दोष, पाप और मल ही मनुष्य को मलिन और निकृष्ट बना देते हैं, जब इन विकारों को वह निकाल फेंकेगा, तब निजी स्वार्थ, परमार्थ परक उच्च स्वार्थ बन जाएगा। ऐसी स्थिति में न तो अशान्ति की सम्भावना होगी, न ही असन्तोष का प्रवेश। स्वार्थों में उदात्तता का समावेश होते ही वे परमार्थ परक बन जाएँगे।



## अहिंसा का सर्वांगीण स्वरूप

मानवजाति को अगर सुखपूर्वक जीना हो, शान्तिपूर्वक अपना पाट अदा करना हो, सुरक्षापूर्वक आत्मविकास की साधना करनी हो तो केवल साधु-साधवियों के लिए ही नहीं, केवल श्रावक-श्राविकाओं के लिए ही नहीं, प्रत्येक मनुष्य के लिए अहिंसा को अपनाना आवश्यक है।

जब अहिंसा को अपनाना आवश्यक है तो सभी पहलुओं से अहिंसा का स्वरूप समझना भी जरूरी है। जब तक व्यक्ति अहिंसा का स्वरूप, उसकी मर्यादाएँ, जीवन में उसके प्रयोग की विधि आदि नहीं समझ लेगा, तब तक उसका यथार्थ आचरण करना कठिन है। इसीलिए श्रमण भगवान महावीर ने स्पष्ट शब्दों में कहा है—

**‘पढमं नाणं, तओ दया’**

पहले दया और अहिंसा का सांगोपांग ज्ञान हो, तभी दया एवं अहिंसा का भलीभांति आचरण और प्रयोग हो सकता है।

**अहिंसा क्या है ? क्या नहीं ?**

अहिंसा कोई पंथ या सम्प्रदाय नहीं है, कि उसको लेकर धर्मान्धता और कट्टरता फैलाई जाए, न अहिंसा कोई नारा या वाद है, जिसे लेकर राजनैतिक पार्टियों की तरह जनता को उकसाया जाय, भड़काया जाय, न ही अहिंसा कोई मूर्ति बनाकर पूजा करने की वस्तु है, न अहिंसा किसी मन्दिर, उपाश्रय या मस्जिद, चर्च या गुरुद्वारा या सत्संग भवन में स्थापित करने या उसकी जय बोलने की वस्तु है। अहिंसा परिभाषाओं में बन्द करने, ग्रन्थालय की अलमारियों में बन्द करके रखने की चीज नहीं है। अहिंसा को हम एक विचार मान सकते हैं, जीवन जीने की एक सुगम स्वाभाविक प्रक्रिया कह सकते हैं। मनुष्य जीवन को सुख-शान्तिपूर्वक यापन

करने की एक तर्ज कह सकते हैं, जो जीकर या जिसे जीवन में आचरित करके ही पहचानी जा सकती है, अहिंसा को जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में प्रयोग करके ही वास्तविक रूप से समझी जा सकती है। मिथ्री के मिठास की परिभाषा या स्वरूप आप क्या बतायेंगे? उसका मिठास तो अनुभव करके या चखकर ही जाना जा सकता है। शब्दों में उसे विद्वान लोग बांध तो देते हैं, लेकिन शब्दबद्ध लक्षण से उसका यथार्थ अनुभव नहीं हो सकता। यही कारण है कि समभावी आचार्य हरिभद्रसूरि ने हिंसा अहिंसा की स्थूल परिभाषा न करके अहिंसा को आत्मा का स्वभाव एवं हिंसा को विभाव बताकर आत्म स्वरूप ही बताई है।

उन्होंने कहा—

आया चैव अहिंसा, आया हिंसेति निच्छओ एव ।  
जो होई अप्रमत्तो, अहिंसओ हिंसओ इयरो ॥

अर्थात्—आत्मा ही अहिंसा है, और आत्मा ही हिंसा है, यही निश्चय दृष्टि से अहिंसा और हिंसा की परिभाषा है। आत्मा का स्वभाव और विभाव ही अहिंसा और हिंसा बनता है। आत्मा का अपने स्वभावानुसार आचरण अहिंसा बन जाता है और विभावानुसार आचरण हिंसा बन जाता है। व्यवहार दृष्टि से जो साधक अप्रमत्त होता है, वह अहिंसक और प्रमत्त होता है, वह हिंसक माना जाता है। निष्कर्ष यह है कि अहिंसा का लक्षण आत्मा के स्वभावानुसार आचरण से जाना जा सकता है।

अहिंसा कोई स्थूल वस्तु नहीं है कि जिसका स्वरूप झटपट सबके ध्यान में आ सके। स्थूल वस्तु का ज्ञान सबको हो सकता है, क्योंकि वह सबको आँखों से प्रत्यक्ष दिखाई दे सकती है। इन्द्रियों से जो पदार्थ जाने जा सकते हैं, वे स्थूल कहलाते हैं। उन पदार्थों की तरह अहिंसा स्थूल पदार्थ नहीं कि उसका ज्ञान बिना आचरण के या संयम और तपश्चरण के सबको आसानी से हो सके। इसीलिए भगवान महावीर ने कहा—

‘अहिंसा निउणा दिठ्ठा सब्बभूएसु सजमो’

अहिंसा निपुणतापूर्वक भलीभाँति तभी देखी जा सकती है, जब समस्त प्राणियों के प्रति संयम हो।

अहिंसा को भी हम शब्दों में बाँध देते हैं, उसका स्वरूप-निरूपण करते हैं, लेकिन पूर्णरूप से अहिंसा के स्वरूप का दर्शन तो आपको उसके आचरण से ही प्रतीत होगा।

प्रकाश का लक्षण यदि आपसे पूछा जाय तो क्या बताएँगे ? लक्षण निरूपण से अधिक यह अनुभव की वस्तु है। अन्धकार ज्यों ही मिटता दीखेगा, त्यों ही प्रकाश का आविर्भाष होता रहेगा। इसलिए अन्धकार का विरोधी प्रकाश है, यों शब्दों से उसका प्ररूपण हुआ। इसी प्रकार हिंसा की विरोधिनी अहिंसा है। हिंसा का अभाव ही अहिंसा के अस्तित्व को बता देता है।

**अहिंसा केवल निषेधात्मक नहीं**

परन्तु एक बात आपको ध्यान में रखनी होगी, संस्कृत भाषा में नञ् समास से दो प्रकार का अर्थबोध होता है। वैयाकरणों ने कहा है—

नञर्थो द्वौ समाख्यातौ पर्युदास-प्रसज्यको ।

पर्युदासः सदृग्ग्राही, प्रसज्यस्तु निषेधकृत् ॥

व्याकरण शास्त्र में नञ्समास के दो अर्थ बताए गए हैं—पर्युदास और प्रसज्य। पर्युदास रूप नञ् तद्भिन्न तत्सदृश अर्थ को ग्रहण करता है, जबकि प्रसज्य निषेधात्मक अर्थ को ग्रहण करता है।

यहाँ 'अहिंसा' शब्द में नञ्समास है, जिसका अर्थ केवल निषेधात्मक नहीं होता, अगर निषेधात्मक अर्थ ही हो तो अहिंसा का अर्थ, जो हिंसा न हो, इतना ही निकलता। हिंसा न हो, इसका मतलब पत्थर, लकड़ी, तख्त, मेज, कुर्सी आदि सभी हो सकता है। किन्तु अहिंसा का यह अर्थ कदापि इष्ट नहीं है। इसलिए यहाँ अहिंसा का अर्थ है—हिंसा से भिन्न, हिंसा के सदृश कोई भावात्मक या विचारात्मक पदार्थ। अचेतन शब्द में प्रसज्य नञ् समास है—यानी जो चेतन न हो, यानी जिसमें चेतना न हो, ऐसा जड़ पदार्थ। अचेतन की तरह 'अहिंसा' शब्द में प्रसज्यनञ् समास नहीं है।

इसलिए अहिंसा का अर्थ केवल नकारात्मक नहीं हो सकता, 'हिंसा न करना' इतना ही अहिंसा का अर्थ नहीं है। इसलिए हिंसा से भिन्न, कोई भावात्मक पदार्थ—विधेयात्मक पदार्थ—सेवा, दया, क्षमा, करुणा, सहानुभूति आदि अहिंसा के अन्तर्गत आ जाते हैं।

'किसी को न मारना' स्थूल अहिंसा है। यह अहिंसा की अनन्त सीमा नहीं है। यह तो अहिंसा की प्रारम्भिक रेखा है। मन में जब क्रोध बढ़ जाता है, उसे रोका नहीं जाता, तब मनुष्य प्रहार करने के लिए प्रवृत्त होता है। इस प्रकार के अति क्रोधी स्थूल दृष्टि वाले व्यक्ति के लिए अहिंसा का प्रारम्भ 'न मारने' के नियम से होगा। उसके लिए अहिंसा

पालन का प्रथम चरण यह होगा कि तुम्हारी दृष्टि में कोई अपराधी हो, फिर भी उस पर प्रहार न किया जाय। कलिकाल सर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र ने अहिंसा महाव्रत की निषेधात्मक परिभाषा इस प्रकार की है—

<sup>१</sup>न यत्प्रमादयोगेन जीवितव्यपरोपणम् ।

त्रसानां स्थावराणां तर्वाहिसाव्रत मतम् ॥

प्रमाद के वशीभूत होकर त्रस (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय) अथवा स्थावर (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पतिकाय के) प्राणियों के प्राणों का हनन न करना अहिंसा व्रत है।

परन्तु यह परिभाषा व्यक्तिगत अहिंसा को स्पष्ट करती है, जबकि एक व्यक्ति का जीवन सारे विश्व के प्राणियों के साथ केवल शरीर या कार्य से सम्बद्ध नहीं होता, अपितु वचन एवं मन के योग से भी और कारित और अनुमोदित करण से भी सम्बद्ध होता है। इसीलिए भगवान् महावीर ने अहिंसा की व्याख्या प्रस्तुत करते हुए कहा—

<sup>२</sup>तेसि अच्छण जोएण निच्चं होयव्वमंसिघा ।

मणसा, काय-वक्केण एवं ह्वई संजए ॥

मन, वचन और काया इन तीनों में से किसी एक के द्वारा किसी प्रकार से जीवों की हिंसा न हो, ऐसा व्यवहार करना ही सयमी जीवन है। ऐसे जीवन का निरन्तर धारण ही अहिंसा है। इसी व्याख्या का तथागत बुद्ध ने समर्थन किया है—

<sup>३</sup>त्रस एवं स्थावर जीवों को न स्वयं मारे, न वध करावे और न मारने वाले का अनुमोदन करे ।

इसी व्याख्या को स्पष्ट करते हुए कूर्मपुराण में कहा है—‘मन, वचन और कर्म से सदा समस्त प्राणियों को क्लेश न पहुँचाने को ही परम ऋषियों ने अहिंसा कहा है।’<sup>४</sup>

१ योगशास्त्र

२ दशवैकालिक ८/३

३ पाणे न हाने न घातयेय, न चानुमन्या हनतं परेसं ।

सव्वेसु भूतेसु निघाय दंडं, ये थावरा ये च तसंति लोके ॥ —सुत्तनिपात

४ कर्मणा मनसा वाचा सर्वभूतेषु सर्वदा ।

अक्लेशजननं प्रोक्ता त्वहिंसा परमर्षिभिः ॥ —कूर्मपुराण अ-७६/८०



### अहिंसा का अन्तरंग अर्थ

महात्मा गाँधीजी ने भी अहिंसा के अन्तरंग अर्थ का अनुसरण किया है—‘अहिंसा के माने सूक्ष्म जन्तुओं से लेकर मनुष्य तक सभी जीवों के प्रति समभाव ।’<sup>१</sup>

कर्मयोगी श्रीकृष्ण ने भी गीता में अहिंसा का वर्णन किया है—

समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमोश्वरम् ।

न हिनस्त्यात्मनाऽऽत्मानं, ततो याति परां गतिम् ।

जो साधक परमात्मा को सभी आत्माओं में समान रूप में व्याप्त देख कर किसी की हिंसा नहीं करता, क्योंकि वह जानता है कि दूसरे की हिंसा करना, अपनी ही हिंसा करने के समान है। इस प्रकार वह समभावी हृदय के पूर्णतः विकसित होने पर उत्तम गति को प्राप्त करता है।

पातंजलयोगदर्शन के भाष्यकार ने अहिंसा का लक्षण इसी से मिलता-जुलता किया है—‘तत्राहिंसा सर्वदा सर्वभूतेष्वनभिद्रोहः’ समस्त काल में सर्वप्राणियों के साथ सर्वथा द्रोह न करना अहिंसा है। अहिंसा की व्याख्या में सभी मनीषियों का एक ही स्वर रहा है कि जिसके रहते किसी भी प्राणी के प्रति मन मस्तिष्क में हिंसा का तूफान न उठे; वाणी में आग न बरसे, क्रिया में निर्दोष एवं निरपराध प्राणियों के प्रति खून के फब्बारे न उछलें। अभिप्राय यह है कि समस्त प्राणियों के प्रति आत्मीय या आत्मवत् भाव रख कर किसी भी प्राणी की मन, वचन, कर्म से हिंसा न हो, पीड़ा या कष्ट न दिया जाए।

यही कारण है कि जब हम अहिंसा को हिंसा-विरोधिनी मानते हैं तो हिंसा के मूल कारणों का निराकरण करना ही अहिंसा है।

सारांश यह है कि अपने मन, वाणी या शरीर द्वारा जानबूझ कर, असावधानी से किसी भी प्राणी को प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से किसी भी प्रकार का कष्ट न पहुँचाना, तथा आत्मौपम्य भावना से प्रत्येक कार्य या व्यवहार करना अहिंसा है।

चूँकि हिंसा एक प्रकार का भाव है और अहिंसा भी एक प्रकार का भाव है, तब हिंसाजनक या हिंसा-उत्तेजक भावों का प्रादुर्भाव न होना ही अहिंसा माना जाएगा। इसी बात को आचार्य अमृतचन्द्र ने ‘पुरुषार्थ सिद्ध-युपाय’ में अभिव्यक्त किया है—

अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति ।  
तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः ॥

राग, द्वेष, मोह, कषाय आदि का प्रादुर्भाव न होना अहिंसा है, और इन्हीं विकारों का उत्पन्न होना हिंसा है, यही जिनागम का सार है ।  
अहिंसा भावात्मक वस्तु है

वास्तव में अहिंसा सिर्फ बाह्य व्यवहार की वस्तु नहीं है, कि उसके सम्बन्ध में अमुक बातों का विधि-निषेध कर दें । अहिंसा भावात्मक वस्तु होने के कारण वह हमारी अन्तश्चेतना से सम्बन्ध रखती है । महात्मा गांधी के मतानुसार "अहिंसा केवल आचरण का स्थूल नियम नहीं है, बल्कि मन की एक वृत्ति है । जिस वृत्ति में द्वेष की गन्ध तक न हो, उसे अहिंसा समझना चाहिए । अहिंसा का भाव दृश्यमान नहीं है, बल्कि अन्तःकरण की रागद्वेषहीन स्थिति में है । अहिंसा का साधक केवल इतने से सन्तोष नहीं मान सकता कि वह ऐसी वाणी बोले, ऐसा कार्य करे, जिससे किसी जीव को उद्वेग प्राप्त न हो, अथवा मन में किसी भी प्रकार का द्वेषभाव न रहने दे; बल्कि जगत् में प्रवर्तित दुःखों का भी वह विचार करेगा और उन्हें दूर करने के उपायों का विचार भी करता रहेगा । इस प्रकार की अहिंसा केवल निवृत्ति रूप कार्य या निष्क्रियता नहीं, बल्कि जबर्दस्त प्रवृत्ति अथवा प्रक्रिया है ।"

**अहिंसा केवल विधिनिषेधात्मक व्यवहार मात्र नहीं**

मुझे कहना चाहिए कि अहिंसा का सूक्ष्म भाव, जिसके साथ अहिंसक का निरन्तर लगाव रहना चाहिए, सतत क्षीण होता जा रहा है । स्थूल व्यवहार के रूप में विधि-निषेधों का जाल बिछा दिया गया है । जिसमें उलझ कर अहिंसा का साधक समस्या का सही समाधान नहीं खोज पाता । सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक एवं आध्यात्मिक जीवन का मूलाधार जिस अहिंसा को माना है, जिसे सहस्राब्दियों से परम धर्म के रूप में माना है और विश्वव्यापी सिद्धान्त के रूप में जिसकी चर्चा की है, वह अहिंसा का तत्त्व समाज एवं राष्ट्र के जीवन में प्रतिफलित क्यों नहीं हुआ ? अहिंसा केवल बौद्धिक व्यायाम बनकर ही क्यों रह गयी ? तर्क-वितर्कों के साथ या बंधे-बंधाए विश्वासों के साथ ही अहिंसा क्यों रह गई ?

आप कहेंगे कि हम मांस नहीं खाते, अंडे और मछलियाँ नहीं खाते, हम शाकाहारी हैं । हमारे रहन-सहन का दायरा अहिंसक है, हम किसी की

हत्या, लाठी, गोली, बंदूक, तलवार आदि शस्त्रों से नहीं करते, न निर्दोष वन्य पशुओं का शिकार करते हैं, न कीट पतंगे मारते हैं, और न ही पशु-बलि देवी देवों के नाम पर करते हैं, क्या हम अहिंसा का पालन नहीं करते ?

हमें एक जगह एक धर्मात्मा गृहस्थ मिले, जो जीवदया के बड़े हिमा-यती थे। बकरों को अमरिया करवाते थे। वे प्रतिदिन कबूतरों के लिए जुआर के दाने और चींटियों के दरों में आटा डालते थे। अभक्ष्य खानपान से बहुत परहेज करते थे। उनकी दृष्टि में अहिंसा का अर्थ था—शुद्ध आहार, खाद्याखाद्य विवेक, जीवदया और पानी छान कर पीने का विवेक। मैंने सोचा, बहुत सोचा—मान लो, भविष्य में, विश्व की जनसंख्या बढ़ जाएगी और जमीन के साथ उसका तालमेल बिठाना होगा, तब यह विचार करना होगा कि एक पूर्ण मांसाहारी के लिए ४ एकड़ जमीन चाहिए, जबकि एक पूर्ण शाकाहारी के लिए सिर्फ एक एकड़ जमीन ही पर्याप्त है। ऐसी दशा में बरबस ही मानव जाति को मांसाहार छोड़ना होगा। उस समय क्या हम उन सभी मांसाहार-त्यागियों को अहिंसाधर्मी मान लेंगे ? क्या अहिंसा इतने में ही समा जाएगी ?

यही कारण है कि भगवान महावीर ने तथा बाद के आचार्यों ने अहिंसा को केवल बाह्य आचार या अमुक विधि-निषेध की परिधि में नहीं बांधा। उन्होंने अहिंसा का हार्द, अहिंसा का आन्तरिक रूप बता दिया। और अहिंसा के उस अन्तरंग सूत्र को पकड़ा कर वे निश्चिन्त हो गए कि भीतर से अहिंसा उगेगी यानी <sup>१</sup>रागद्वेष कषायादि परिणाम नहीं उत्पन्न होंगे तो बाहर का रहन-सहन या आचार विचार अहिंसा के अनुकूल होने ही वाला है। उसकी चिन्ता उसे करना नहीं पड़ेगी। भगवान महावीर ने अनुभव कर लिया कि मनुष्य हिंसा के कुचक्र में उलझता है अपनी ही बैर-भावना, द्वेषभाव, मोह, स्वार्थ, तृष्णा, घृणा, ईर्ष्या आदि दुर्वृत्तियों के कारण। वह हारता है तो अपने अहंकार के कारण, भस्म होता है तो अपने क्रोध के कारण ही, उसका ही द्वेष उसे परास्त कर डालता है। वस्तुओं को नहीं छू कर भी वह उसके मोहजाल में फंस सकता है।

**अहिंसा की कसौटी : आत्मोपम्यवृत्ति**

इसीलिए महावीर ने अहिंसा को कसौटी आत्मोपम्य वृत्ति को, राग-

१—कहा भी है—रागादीणमणुप्पा अहिसत्तंति देसियं समए।

तेसि चे उप्पत्ती हिंसेति जिणेहि निदिट्ठा ॥

द्वेष, स्वार्थ-मोह, अहंकार और क्रोध, कपट और लोभ से रहित वृत्ति को ही बताया। वे अहिंसा के साधक को बाहर के स्थूल जगत् से भीतर की ओर ले गए और बताया—यह है तुम्हारा हिंसा का उत्पत्ति स्थान, यहीं से राग-द्वेषादि उत्पन्न होते हैं, इसे ही नियंत्रण कक्ष बनाओ। क्रोध को उपशम (शान्ति) से जीतो, अहंकार को मृदुता-नम्रता से जीतो, छलकपट को सरलता से समाप्त करो, लोभ को संतोष से परास्त करो, घृणा को प्रेम से पिघाल दो, वैर को अवैर (क्षमा) से पछाड़ो, तृष्णा का मुकाबला समता से करो, मोह का सामना भी समत्व से करो। इस तरह जब आत्मा अपने स्वभाव में स्थिर हो जाएगी, अपने को जांचेगी-परखेगी और तभी अहिंसा के सम्यक् मार्ग पर आरुढ़ होगी।

**यह अहिंसा या अन्तरंग हिंसा ?**

भ. महावीर ने अहिंसा की साधना के लिए एक बात और बताई कि मनुष्य वस्तुओं—राज्य, धन, जमीन जायदाद, शरीर, वस्त्र, मकान आदि के मोह, ममत्व और लोभ में डूब कर जब उन्हें अपने कब्जे में करने, हथियाने या छीनने-झपटने की कोशिश करता है, तब बाहर से अहिंसा का आवरण ओढ़ लेता है, किसी पर शस्त्रास्त्र नहीं चलाता, न मारपीट करता है, किन्तु अंदर ही अंदर मोह, ममत्व एवं लोभ आदि के हथियारों से हिंसा करता रहता है। इसी हिंसा वृत्ति का त्याग करने के लिए उसे जीवनयापन के लिए आवश्यक वस्तुएँ रख कर मोह ममत्व आदि से दूर होकर निर्लिप्त, अनासक्त रहने की साधना करनी होगी। मनुष्य के जीवन की तर्ज अहिंसा है तो उसे अहिंसा की साधना के लिए निर्लिप्तता का अभ्यास करना होगा।

भगवान महावीर ने अहिंसा के मार्ग में एक क्रान्ति और की। उन्होंने बताया—जाति, देश, भाषा, प्रान्त, लिंग, रंग, कुल, बल, रूप, तप, श्रुत आदि का अहंकार भी तोड़ना होगा, क्योंकि ये अहंकार जब तक रहेंगे, तब तक 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' या आत्मौपम्य की वृत्ति नहीं आएगी। अहंकार अपने आप में हिंसा है। अतः अहिंसा की साधना के लिए आत्मौपम्य वृत्ति अपनाना और अहंकारों का छेदन करना जरूरी है। भगवान महावीर ने अहिंसा को सम्प्रदाय पंथ आदि के चौखटों और घेरों से निकाल कर मनुष्य का असली धर्म—आत्म-धर्म—मानव मात्र के हाथों में थमाया और कहा—  
'अप्यसमं मन्निज्ज छप्पिकाए' अपनी आत्मा के समान सबको मानो। आत्मा को पहचानो, सबमें अपनी आत्मा को देखो, जाति, रंग, कुल, स्त्री-पुरुष

आदि के भेद भुला दो। वस्तुतः अहिंसा मानव जाति को हिंसा से मुक्त करती है। वैर, वैमनस्य, द्वेष, कलह, घृणा, ईर्ष्या, दुःसंकल्प, क्रोध, अहंकार, दम्भ, लोभ, दमन आदि जितनी व्यक्ति और समाज की ध्वंसमूलक वृत्तियाँ हैं वे सब की सब हिंसा को ही प्रतिमूर्ति हैं।

**अहिंसा का सीधा सम्बन्ध वृत्ति के साथ**

इसलिए अहिंसा का सीधा सम्बन्ध मनुष्य के मस्तिष्क के साथ नहीं है, हृदय के साथ है, बल्कि अन्तर्जीवन के साथ है, अन्तर् की गहरी आध्यात्मिक अनुभूति के साथ है। मानव मन की मूल पवित्र वृत्ति के साथ ही सारे अध्यात्मदर्शन अहिंसा को सम्बद्ध करते हैं। यही अहिंसा का बीज है। इसी की सुरक्षा की चिन्ता सभी क्रान्तद्रष्टा श्रमण करते हैं, इधर-उधर विधि-निषेधरूप फल, पुष्प एवं शाखाओं की नहीं। बाह्य व्यवहार के आधार पर बने हुए अहिंसा के विधि-निषेधरूप विधान, देश, काल, पात्र और परिस्थिति के अनुसार बदलते रहते हैं। परन्तु अहिंसा का मूल बीज स्थायी रहता है। अतः अहिंसा के आधार पर मनुष्य-समाज को चलाने के लिए हमें बाह्य व्यवहारों के आधार पर खड़े किये हुए विधि-निषेधों को गौण समझकर तथा निवृत्ति-प्रवृत्ति के प्रचलित व्यामोह के एकान्त आग्रह को भी क्षीण करना होगा।

**भय और प्रलोभन पर आधारित अहिंसा स्थिर नहीं**

भय एक प्रकार की हिंसा है। इसी प्रकार धर्म के नाम पर कई धर्म के ठेकेदार अपने अनुयायियों को उत्तेजित करते प्रतीत होते हैं, 'धर्म खतरे में हैं, मर-मिटो, विधर्मियों को मारना गुनाह नहीं है, इससे स्वर्ग मिलेगा। अपने दुश्मनों को समाप्त कर दो, युद्ध में मरने वालों को स्वर्ग में देवांगनाएँ मिलती हैं। यज्ञ में पशुओं को होमने से देव प्रसन्न होते हैं, वे तुम्हें सुख समृद्धि देंगे।' ये प्रलोभन भी लोभ, द्वेष, स्वार्थ और मोह से प्रेरित होने के कारण हिंसाजनक हैं। ऐसे प्रलोभनों ने ही हजारों मनुष्यों को क्रूर बना दिया है। ऐसे स्थूल दृष्टि लोगों ने हृदय में दबी हुई वृत्तिजनित हिंसा को छुड़ाने पर ध्यान नहीं दिया, पहले भय बताकर हिंसा का त्याग कराया, किन्तु ज्यों ही उपर्युक्त प्रलोभन बताया कि भय की जगह प्रलोभन ने ले ली। और उसने फिर हिंसा के लिए उकसा दिया। अगर अन्तर्मन की वृत्ति में अहिंसा जाग जाती तो दुनिया का कोई भी भय या प्रलोभन हिंसा के लिए उस मनुष्य को बाध्य नहीं कर सकता। कारण यह है कि जो

अहिंसा केवल बाह्य विधि-निषेधों या प्रवृत्ति-निवृत्ति के आधार पर जमी हुई है, उसे जरा-सा विरोधी वातावरण का झोंका भी उखाड़ सकता है। जनजीवन में उसकी जड़ें गहरी नहीं होतीं।

**वृत्ति में अहिंसा ही शाश्वत व स्थिर**

जिस व्यक्ति की वृत्ति में अहिंसा होगी, यानी जिसके जीवन में अहिंसा की भावना जड़ जमा चुकी होगी, वह किसी के द्वारा धर्म, जाति, भाषा, प्रान्त, राष्ट्र, कुल, लिंग, रंग आदि के नाम पर भड़काने, धर्म के नाम पर या देवी-देवों के नाम पर बहकाने या प्रलोभन देने से कभी हिंसा के लिए तैयार नहीं होगा। वह किसी भी प्राणी का वध नहीं कर सकता, न कष्ट दे सकता है, न ही सता सकता है। तात्पर्य यह है कि वृत्ति से अहिंसक होने पर व्यक्ति में हिंसा की योग्यता या भावना ही समाप्त हो जाती है। न वह मरणोत्तर स्वर्ग के लिए, न जीवन की सुख-समृद्धि या सामाजिक सम्मान-प्रतिष्ठा के लिए किसी भी प्रकार की हिंसा कर सकता है। वृत्ति में अहिंसा जब जड़ जमा लेती है तो अहिंसक की इतनी सहज अवस्था हो जाती है कि वह हिंसा कर ही नहीं सकता, न हिंसा के लिए किसी को कह सकता है, और न ही मन से किसी की हिंसा का संकल्प कर सकता है। भल ही उसके लिए उसे अपने प्राणों की बाजी लगानी पड़े।

उसके जीवन में अहिंसा का स्वर सर्वत्र शंकृत होता है। अहिंसा के लिए उसे कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता। वह उसके लिए सहज और स्वाभाविक हो जाती है। उसका यह सिद्धान्त नहीं होता कि मुझे केवल अपने दुश्मन से ही प्यार करना है, बल्कि उसका कोई दुश्मन होता ही नहीं। राबैया ने अहिंसा को अपने जीवन में रमा लिया था। वह सारे संसार को प्रेममय दृष्टि से ही निहारती थी। उसके हृदय के कण-कण में मन के अणु-अणु में प्रेम सहज रूप से सभा गया था। एक बार राबैया की झोंपड़ी पर एक महात्मा आये जिनकी ख्याति एक पहुँचे हुए महात्मा के रूप में फैली हुई थी। उन्होंने अपने झोली में से एक ग्रन्थ निकाला और राबैया को देते हुए कहा— यह एक पवित्र धर्म ग्रन्थ है। इसे तुम पढ़ना। मैं पुनः यात्रा से लौटकर जब आऊँगा तब तुम्हारे से यह ग्रन्थ पुनः ले लूँगा।

राबैया धर्म ग्रन्थ को पढ़ने लगी। पढ़ते-पढ़ते उसकी दृष्टि एक स्थान पर अवस्थित हो गई। उस ग्रन्थ में लिखा था कि शैतानों से नफरत नहीं करनी चाहिए और दुश्मनों के प्रति भी प्रेम करना चाहिए। यह

वाक्य पढ़कर वह चिन्तन करने लगी। शैतान कौन होता है? नफरत क्या चीज है? दुश्मन क्या है? मैंने तो आज दिन तक न शैतान देखा है और न दुश्मन। ये वाक्य गलत हैं। अतः उसने उन दोनों वाक्यों को काट दिया।

कुछ दिनों के पश्चात् वे ही महात्मा यात्रा कर पुनः लौटे। राबैया ने वह ग्रन्थ उन्हें समर्पित कर दिया। उस महात्मा ने उस ग्रन्थ के पृष्ठों को इधर से उधर पलटा। उन्होंने राबैया से पूछा—आपने इन दो वाक्यों को क्यों काटा है? राबैया ने कहा—मेरे हृदय में प्रेम का अपार सागर लहलहा रहा है। इसमें कहीं पर भी न तो नफरत है और न कहीं शैतान है। मैं किसी को दुश्मन और शैतान नहीं समझती। शैतान और दुश्मन तो संकीर्ण हृदय के द्योतक हैं।

राबैया की अहिंसा वृत्ति को और उदात्त भावना को निहारकर वह महात्मा श्रद्धा से नत हो गया। उसे अपनी भूल ज्ञात हुई। जिसकी वृत्ति में अहिंसा आसन जमा लेती है उसके हृदय में द्वेष नहीं होता। अपितु उसके हृदय में प्रेम के अतिरिक्त कुछ भी नहीं होता। विशुद्ध प्रेम अहिंसा का स्थायी और शाश्वत रूप है।

**अहिंसा का पालन अव्यवहार्य नहीं ?**

कितने ही चिन्तकों का यह मन्तव्य है—जब तक शरीर है; तब तक अहिंसा का पालन किस प्रकार सम्भव है? वर्तमान युग में माइक्रोस्कोप जैसे यन्त्र निर्मित हो चुके हैं। जिसके द्वारा बारीक से बारीक जीव जन्तु निहारे जा सकते हैं। जैन आगमों में पहले से ही प्रतिपादित है कि जल में, स्थल में, हवा में, अग्नि में और वनस्पति में सर्वत्र असंख्य जीव हैं। प्रस्तुत लोक में चारों ओर सर्वत्र काजल की कुप्पी की तरह जीव ठसाठस भरे हैं। ऐसी स्थिति में कोई भी साधक अहिंसा का पालन किस प्रकार कर सकता है? जैन धर्म की सूक्ष्म अहिंसा-विश्लेषण को पढ़कर या सुनकर उस पर आक्षेप लगाया है। जल में सर्वत्र जीव ही जीव हैं। स्थल में भी जीव हैं। पर्वत में भी जीव हैं। सारा लोक जीवों से संकुल है। तब भिक्षुक अहिंसक कैसे रह सकता है?

**“जले जीवाः स्थले जीवाः, जीवा पर्वतमस्तके ।**

**जीवमालाकुले लोके, कथं भिक्षुरहिंसकः ?”**

आत्मोपम्य दृष्टि से यह मानना होगा कि सभी स्थानों पर सभी

जीवों का समान अधिकार है। पर आप खड़े भी होते हैं। सोते भी हैं, बैठते हैं, चलते-फिरते भी हैं। सफाई भी करते हैं। फिर प्रश्न है कि अहिंसा का पालन किस प्रकार हो ? क्या इस देह को हम छोड़ दें। प्रस्तुत देह के कारण ही तो अनेक खुराफातें होती हैं। शरीर के लिए ही तो असन-वसन-परिजन हैं। यदि शरीर नहीं है तो न कोई रिश्तेदारी है और न किसी प्रकार की खटपट ही है। सारे पाप का केन्द्र यह शरीर है।

श्रमण भगवान महावीर के समक्ष इस प्रकार के अनेक प्रश्न आये थे। पाप से मुक्त होने के लिए देह का परित्याग करना आवश्यक है या अन्य कोई उपाय है ?

भगवान महावीर ने उन प्रश्नों का समाधान देते हुए कहा ---मरने से या देह छोड़ने से प्राणी पाप या हिंसा से मुक्त नहीं हो सकता। जीवन में चारों ओर पाप ही पाप छाया हुआ है। उस पाप से शीघ्रातिशीघ्र मुक्त होने के लिए शरीर पर अधिकाधिक अत्याचार किये जाएँ। उस शरीर को गला दिया जाये, सड़ा दिया जाये, नष्ट कर दिया जाये। पर यह चिन्तन पाप से मुक्त होने का नहीं ? कल्पना कीजिए किसी व्यक्ति ने जबरन वर्तमान देह को छोड़ दिया। पर अगले जन्म में भी तो उसे देह प्राप्त होगा ही। अगले देह में पूर्व के संस्कारों को ले करके ही वह प्रवेश करेगा। वहाँ पर भी वही पाप का भूत सामने नजर आएगा। पाप के भूत से पिण्ड छोड़ने का यह उपाय सही नहीं है। आत्महत्या करने से पाप के भूत से मुक्ति नहीं मिलती। उसने अहिंसा के मार्ग को छोड़कर हिंसा के मार्ग को अपनाया है। पाप से मुक्त होने का यही उपाय होता तो हर व्यक्ति इस आसान उपाय से जन्म-मरण के चक्कर से मुक्त हो जाता। पर यह चिन्तन गलत है। अहिंसा की आराधना के लिए देह की आवश्यकता है। हिंसादि पापों से मुक्त होने के लिए देह त्याग करना आवश्यक नहीं है।

इतिहास के पृष्ठ साक्ष्य हैं कि श्रमण भगवान महावीर के युग में कितने ही साधक जल समाधि लेते थे। कितने ही साधक हिमालय में जाकर गल जाते थे। कितने ही साधक पहाड़ की ऊँची चोटी से छलांग लगाकर झम्पापात करके अपने शरीर के टुकड़े-टुकड़े करके प्राणोत्सर्ग कर देते थे। कितने ही लोग चिताएँ सुलगाकर उस दहकती चिता में अपने शरीर को भून देते थे। कितने ही लोग ऐसे भी थे जो जीवित समाधि लेते थे। कितने ही लोग शरीर का अंग भंग कर लेते थे। पञ्चाग्नि तपकर या जल में खड़े



रहकर अपने शरीर को सुखा डालते थे। इस प्रकार गतानुगतिक बनकर लोग मृत्यु से खेल रहे थे। उनका यह मन्तव्य था कि इस देह को जल्दी से जल्दी छोड़ दें। मर जाएँ। और इस शरीर से वह पाप से छुटकारा पा लें तो बहुत अच्छा है। इस प्रकार अनेक बाल तपस्वी शरीर को यातना देकर शरीर को छोड़ने में धर्म समझते थे। औपपातिक सूत्र में और अन्य अनेक ग्रन्थों में यह वर्णन उपलब्ध है।

भगवान महावीर ने स्पष्ट शब्दों में इस प्रकार के मृत्यु वरण सिद्धान्त का खण्डन किया। उन्होंने यह स्पष्ट उद्घोषणा की कि यह अहिंसा की साधना नहीं है। यदि तुम पाप से मुक्त होना चाहते हो तो वर्तमान के जीवन को ठीक बनाओ। अन्तनिरीक्षण करो। अपने पापों की आलोचना करो। पापों के प्रति पश्चात्ताप व्यक्त करो। प्रायश्चित्त कर आत्मशुद्धि करो। पाप पंक का प्रक्षालन कर देने पर फिर तुम्हें चब्रराने की आवश्यकता नहीं? नरक जैसे संसार को भी स्वर्गमय बना सकते हो। यदि तुम सम्यक्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र के दिव्य-भव्य प्रकाश को लेकर अगली दुनियाँ में भी प्रवेश करोगे तो वहाँ भी तुम्हें अज्ञान की अंधेरी गलियों में भटकना नहीं पड़ेगा। वहाँ भी तुम्हें जीवन पथ को आलोकित करने वाला प्रकाश मिलेगा। वहाँ भी तुम आत्मानन्द की मस्ती में रहोगे। आत्मौपम्य से लहलहाता हुआ जीवन जहाँ भी पहुँचेगा वहाँ वात्सल्य और करुणा की अजस्र धारा प्रवाहित करेगा। वह ऊसर भूमि को भी सरसब्ज बना देगा। इसीलिए तो पावापुरी के अपने अन्तिम प्रवचन में भगवान महावीर ने कहा—

‘इहंसि उत्तमो भन्ते, पच्छा होहिसि उत्तमो’ ।

यही तुम्हारी जीवन ज्योति अन्धकार में भी आलोक फैलाएगी। स्व-पर कल्याण के द्वारा अपने जीवन को उत्तम बनायेगी तो सर्वत्र प्रसन्नता, सहानुभूति और सुख शान्ति प्राप्त होगी। यदि हमने अपने चारों ओर विपत्ति के, अन्धविश्वास के गगनचुम्बी पर्वत-मालाओं को देखकर सर्वत्र पाप के पुञ्ज को निहारकर संसार से पलायन किया, आत्महत्या कर डाली तो हमने अपने आपको गहरे अन्धेरे के गर्त में धकेल दिया है। तो फिर अगले जन्म में भी अन्धकार ही प्राप्त होगा। दुःख और अशान्ति के काले-कजराले बादल ही उमड़ते-घुमड़ते दिखलाई देंगे—“इतो विनष्टिमंहतो विनाष्टः” यदि यहाँ अन्धकार में डूब गये तो आगे सर्वत्र अन्धकार ही अन्धकार प्राप्त होगा।

नन्दी सूत्र की टीका में एक दुःखमोचक मत का वर्णन मिलता है। उस मत का यह मन्तव्य था कि इस विराट विश्व में सभी लोग दुःखी हैं। कोई व्यक्ति परिवार से त्रस्त है। कोई व्यक्ति वृद्धावस्था से तंग आ गया है। कोई व्यक्ति भयंकर व्याधि से संतप्त है तो कोई व्यक्ति कजदारी से पीड़ित है। किसी को शारीरिक व्याधि है, किसी को मानसिक व्याधि है तो किसी को कौटुम्बिक परेशानी है। तो उसके दुःख निवारण का सबसे सरल-तम उपाय यही है कि उसके शरीर को समाप्त कर दिया जाये, ताकि शरीर का अन्त होते ही, उस दुःख का अन्त हो जाये। इस मिथ्यामत के चक्कर में आकर बहुत से लोग अपने शरीर को नष्ट करा देते या कर लेते थे। सुनते हैं, आज पश्चिमी देशों में भी कहीं-कहीं यह प्रथा चल पड़ी है कि वे अपने परिवार के किसी बूढ़े एवं रोगपीड़ित या अन्य दुःख से पीड़ित व्यक्ति को जहर का इंजेक्शन देकर खत्म कर देते हैं, कई लोग स्वयं भी आत्महत्या कर लेते हैं। हिन्दुस्तान में भी आत्महत्याएँ प्रतिवर्ष होती हैं। कोई रेल से कट कर, कोई अग्नि-स्नान करके और कोई गले में फांसी डाल कर आत्महत्या कर लेता है। परन्तु इस प्रकार शरीर का नाश करने से पाप, हिंसा या दुःखों का नाश कदापि नहीं होता, वह तो आगे से आगे चलता जाता है। इसलिए दुःखमोचक मत भी अन्धकार से अन्धकार में जाने का रास्ता है। अगर सुख पाना है, हिंसा या पाप से छुटकारा पाना है तो यहीं इसी जीवन में मोर्चा लगाना है और भलीभांति जूझना है।

प्रश्न होता है, चारों तरफ फैले हुए हिंसा और पाप के वातावरण को अकेला व्यक्ति कैसे मिटा सकेगा, तथा हिंसा और पाप को अपने पर आने से वह कैसे रोक सकेगा ? अगर पापों और हिंसा काण्डों को देख-देख कर यों ही झींकते रहे, कुढ़ते रहे या आत्महत्या का विचार करते रहे तो उससे तो हिंसा, पाप और आर्तध्यान के कारण हिंसा की परम्परा से लिपटते जाओगे, वह गले में सांप की तरह लिपट जाएगी !

प्राचीन काल में एक राजा था। जिसके साम्राज्य की सीमा समाप्त होते ही घोर जंगल था। सीमा पर ही उसका राजमहल बना हुआ था। उस राज्य में यह प्रथा थी कि प्रत्येक राजा को पांच वर्ष बाद उस घोर जंगल में छोड़ दिया जाता था, जहाँ भयंकर चीते, बाघ, सिंह या भेड़िये उसे फाड़ कर खा जाते। उसके स्थान पर दूसरा राजा राजगद्दी पर बिठा दिया जाता था। वह राजा इस भयंकर कुप्रथा को जब याद करता और

राजमहल के झरोखे में बैठा-बैठा जंगल के घोर दृश्यों को देखता तो उसके रोंगटे खड़े हो जाते थे। मृत्यु सामने नाचती देख कर वह रो उठता था। उसे खाना-पीना, राग-रंग, उत्सव आदि कुछ भी नहीं सुहाते थे। राजा की चिन्ता को जान कर सारा राज-परिवार दुःखी रहता था। परन्तु न तो राजा को इस चिन्ता के निवारण का कोई उपाय सूझता था और न ही कोई मंत्री आदि उसे सही उपाय सुझाता था।

संयोगवश एक बार उस राजा के राज्य में एक बूढ़ा दार्शनिक आ गया। वह राजा से मिला और उसे अत्यन्त चिन्तातुर देख कर पूछा—  
“राजन् ! आपके पास तो सुख के सभी साधन हैं, किसी बात की कमी नहीं है, फिर आपको क्या चिन्ता है, जिसके मारे इतने परेशान हो रहे हैं ?”

राजा ने दीर्घ निःश्वास खींच कर कहा—“भूदेव ! मैं अपनी चिन्ता का कारण आपको क्या बताऊँ ? मुझे दुनियादारी की दृष्टि से सभी प्रकार के सुख साधन प्राप्त हैं, परन्तु एक ही चिन्ता है, वह इतनी गहरी है, उसके कारण रात-दिन बेचैन रहता हूँ। बात यह है कि इस राज्य की परम्परा के अनुसार प्रत्येक राजा को पांच वर्ष बाद इस घोर जंगल में छोड़ दिया जाता है, जहाँ हिंस्र जन्तुओं का भक्ष्य बन कर वह समाप्त हो जाता है। मेरा भी पांच वर्ष समाप्त होते ही यही भयंकर हाल होगा, इसे स्मरण करके सिहर उठता हूँ। क्या आप कोई उपाय इस चिन्ता के निवारण का बता सकते हैं ?”

बूढ़े दार्शनिक ने यह सुना तो कुछ क्षण सोच कर बोला—“राजन् ! इस चिन्ता से आप इतने क्यों घबराते हैं ? अभी तो आपके हाथ में लगभग साढ़े चार वर्ष हैं। तब तक तो आप बहुत कुछ कर सकते हैं न ?”

“हाँ, कर सकता हूँ। पर क्या करूँ, कुछ सूझ नहीं रहा है।” राजा ने अफसोस प्रगट करते हुए कहा।

बूढ़ा दार्शनिक बोला—आप एक काम करिये। इस जंगल को साफ करवा दीजिए और यहाँ रहने के लिए हवा और प्रकाश से परिपूर्ण अच्छे मकान बनवा कर लोगों को बसा दीजिए। चार साल में तो यह काम अच्छी तरह हो जाएगा। जब यहाँ नगर आबाद हो जाए तब आप भी वहाँ जाकर रहने लग जाइए। पांच साल की अवधि के बाद यही जंगल जो आपको भयंकर नरक जैसा लग रहा है, वही चमन जैसा गुलजार नगर होकर आपका स्वागत करेगा। आपकी सारी चिन्ता समाप्त हो जाएगी।”

बूढ़े दार्शनिक की बात सुन कर राजा की आँखों में चमक आ गई। वह प्रसन्नता से बोल उठा—“धन्यवाद है, भूदेव ! आपने मुझे उत्तम उपाय बताया, अन्यथा मैं तो यों ही चिन्ता में घुट-घुट कर मर जाता। यह कार्य तो मैं आसानी से कर सकूँगा।” और राजा ने दूसरे दिन से ही उस जंगल को साफ करके वहाँ बढ़िया इमारतें बनाने का आदेश दे दिया। बूढ़े दार्शनिक को सम्मानपूर्वक अपने राज्य में रख लिया।

यह कहानी जीवन की एक महान् प्रेरणा दे रही है। जो लोग दुःख, पाप और हिंसा का भयंकर वन देख-देख कर ध्वराते रहते हैं, रात-दिन चिन्तित होकर एक-दूसरे को कोसते रहते हैं या शरीर छोड़कर पाप या हिंसा से छुटकारा पाने की फिराक में रहते हैं, उन्हें सोचना चाहिए कि अभी तो हमारे हाथ में जिदगी के कुछ वर्ष हैं, क्यों नहीं जिदगी के उन वर्षों में पाप या हिंसा के जंगल को साफ करके उसे आत्मोपम्य के उत्तमोत्तम गुण-प्रासादों से आबाद कर दें।

बूढ़े दार्शनिक की तरह भगवान् महावीर भी कहते हैं, अपने जीवन के राजा = मनुष्य से, कि पाप और हिंसा के निवारण के लिए केवल दृष्टि बदलने की जरूरत है, दृष्टि बदलते ही आपकी सृष्टि सुख-शान्ति के पौधों से लहलहा उठेगी।

पहले उपाय के विषय में भगवान् महावीर स्वामी ने कहा—“हिंसा आदि पाप कर्म कहीं बाहर से नहीं आ रहे हैं, वे न तो परिवार में से आ रहे हैं, न समाज में से और न राष्ट्र में से। उनका मूल तो तुम्हारे अन्दर है, उस मूल स्रोत को तोड़ कर जीवन को उच्चभावों से प्रकाशमान एवं शुद्ध बनाने का प्रयत्न करना चाहिए। संसार में जितने भी प्राणी हैं, उन सभी को अपनी आत्मा के समान समझो, यानी संसार की सभी आत्माओं में अपने आपको और अपने अंदर सभी आत्माओं को समझो, तभी तुम आस्रवों और हिंसा आदि पापों के द्वार बन्द कर लोगे और इन्द्रियनिग्रह एवं मनःसंयम कर लोगे और तुम्हारे पापकर्म का बन्धन नहीं होगा।

तात्पर्य यह है कि जब तुम संसार में सभी प्राणियों को आत्मसम समझने लगोगे, विश्व की आत्माओं में अपनी आत्मा मानने लग जाओगे

१—“सव्वभूयप्पभूयस्स सम्मं भूयाइं पासओ ।

पिहिआसवस्स दंतस्स पावकम्मं न बंधइ ।”

तो किसी को कष्ट देने, गाली देने या परेशान करने का विचार आते ही, यही समझोगे कि मैं अपने आपको ही कष्ट दे रहा हूँ या गाली दे रहा हूँ। एक हाथ में छुरा लेकर दूसरे हाथ में मारने पर जैसा कष्ट आपको होता है, वैसा ही कष्ट दूसरों को मारने या सताने का आपको होगा। उस आत्मौपम्य दशा में आपको कोई भी प्राणी पराया नहीं लगेगा। न किसी मत, पंथ, विचार, मान्यता, प्रवृत्ति आदि का या रंग, राष्ट्र, जाति, प्रान्त, भाषा, धर्म, सम्प्रदाय आदि के मुख्य को देखकर घृणा, द्वेष या वैर उत्पन्न होगा। अतः सूक्ष्म भावजगत की सृष्टि में कोई भेद नहीं रहना चाहिए, पहचानने के लिए नाम-रूपादि की दृष्टि से भले ही औपचारिक भेद रहे।

इस तरह विश्व के सभी प्राणियों को अपने समान मान कर अपने व्यक्तित्व को विश्वत्व में जब साधक समर्पित कर देगा, तब संसार भर के पापकर्मों, राग-द्वेष-कषायादि विकारों एवं हिंसा आदि पापों से धीरे-धीरे छुटकारा पा जाएगा। उसके हृदय में चोर की तरह बैठे हुए काम, क्रोध, लोभ, मोह, द्वेष, अहंकार और दुनिया भर के विकार तथा हिंसा आदि पाप अपने आप भागने लगेंगे। और तब जो भी प्रवृत्ति होगी, उसमें हिंसा के बदले, अहिंसा की भावना लहलहाएगी। ऐसे साधक को स्वयं प्रतीति होने लगेगी कि मेरे अन्दर अहिंसा का झरना बह रहा है।

मान लीजिए, एक जगह घोर सग्राम छिड़ा हुआ है। योद्धागण परस्पर एक दूसरे पर बाणवर्षा कर रहे हैं। परन्तु जिस योद्धा ने अपने वक्षस्थल को मजबूत कवच से ढक रखा है, क्या उसे वे बाण घायल कर सकते हैं? कदापि नहीं। इसी प्रकार हिंसादि पाप-बाणों की चारों ओर से बाणवर्षा हो रही हो, फिर भी जिस साधक ने आत्मौपम्य रूपी कवच अपने जीवन में धारण कर रखा है, उस पर वे हिंसादि पाप का असर कर सकते हैं? वे दूर से ही स्पर्श करके हट जाते हैं।

दूसरा उपाय भगवान महावीर ने बताया कि खाने-पीने, उठने-बैठने, चलने-फिरने, सोने-जागने, बोलने आदि समस्त जीवन-व्यापारों में हिंसा होती है, पाप लगता है, इस स्थिति में यह अनिवार्य नहीं है कि शुद्ध अहिंसक बनने के लिए उधर 'करेमि भंते' और 'अप्पाण वोसिरामि' बोलें और उधर जहर की पुड़िया खा कर सदा के लिए संसार से विदा हो जाएँ। सर्वथा निश्चल रहकर अहिंसा की भूमिका को जीवन में निभाया नहीं जा सकता। आत्मा जब तक संसारावस्था में है, तब तक कोई न कोई जीवन-

व्यापार शरीर से करना अनिवार्य होगा। लम्बी तपस्या भी कर ली जाय, तब भी एक दिन पारणा करना होगा। जैन धर्म का दृष्टिकोण यह नहीं है। इस प्रकार जीवन व्यापार में पद-पद पर हिंसादि पाप लगते हैं तो शरीर को छोड़कर निश्चिन्त हो जाओ। जैन धर्म कहता है—पचास, साठ, सत्तर, अस्सी या सौ जितने भी वर्ष की तुम्हारी जिन्दगी है, पूरे शान के साथ व्यतीत करो, उसमें जान-बूझकर कटौती करने की जरूरत नहीं है, किन्तु एक बात का अवश्य ध्यान रखो, प्रत्येक कार्य यतनापूर्वक करो। यदि चलना है तो चलो, पर चलने में यतना रखो, विवेक रखो। यथाप्रसंग खड़े होना हो तो खड़े हो जाओ, पर विवेक के साथ। यदि बंठना हो तो विवेक के साथ बैठो। अगर सोना है, भोजन करना है, बोलना है या और कोई चेष्टा करनी है तो शर्त यही है कि उसे विवेक के साथ करो। फिर पापकर्म कदापि नहीं बढ़ेंगे।<sup>1</sup> पापकर्म तो अयतना अथवा अविवेक में है। जहाँ विवेक नहीं है, प्रमाद है, असावधानी है, वहाँ अहिंसा भी नहीं है। विवेक, यतना या अप्रमाद से कार्य करते हुए अगर कभी हिंसा हो भी जाती है तो वह कार्य हिंसा का नहीं होगा। उससे हिंसा जनित पापकर्म का बन्ध नहीं होगा। क्योंकि उसके पीछे हिंसा का संकल्प नहीं है।<sup>2</sup> किसी भी जीव को हानि पहुँचाने, उसे मारने-पीटने, सताने या रौंदने की भावना कतई नहीं है, तो वहाँ हिंसा (द्रव्य से) हो जाने पर भी हिंसाजनित पाप कर्म का बन्ध नहीं होगा।<sup>3</sup> क्योंकि हिंसा राग-द्वेषादि परिणामों से होती है, अयतना-चार से होती है, जो यहाँ नहीं है।<sup>4</sup> भगवद्गीता में भी योगी, साधक के सम्बन्ध में यही बात कही गई है—<sup>5</sup> जो युक्त आहार-विहार करता है विविध कार्यों में युक्त चेष्टा करता है, शयन और जागरण भी जिसका युक्त होता है, उस साधक का योग दुःखनाशक होता है।

प्रश्न यह है कि यह यतना, अप्रमाद, सावधानी, जागरूकता या विवेक क्या चीज है, ऐसा कौन-सा कवच है, जिसे लगाने पर साधक के जीवन में पापकर्म का बन्ध नहीं होता ?

- १ जय चरे, जयं चिद्वे, जयमासे जयं सए ।  
जयं भुंजंतो भासंतो, पावकम्मं न बधइ ॥ —दशवैकालिक सूत्र ४/८
- २ युक्ताऽऽहारविहारस्य, युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।  
युक्तस्वप्नाऽवबोधस्य, योगो भवति दुःखहा ॥

इसे हम एक मोटर ड्राइवर के उदाहरण द्वारा समझ लें। एक ड्राइवर है, उसने नशा कर लिया है और अंधाधुंध तेज रफ्तार से गाड़ी चला रहा है। वह नहीं देखता कि मेरे आगे-पीछे, दाएं-बाएं कौन चल रहा है। तो इस प्रकार मोटर चलाने का परिणाम क्या आएगा? कभी न कभी एक्सीडेंट होगा ही। और एक्सीडेंट होगा तो उक्त ड्राइवर को किसी मनुष्य को कुचल डालने, घायल करने या मार डालने के जुर्म में सरकार भारी सजा देगी, उसका लाइसेंस जब्त कर लेगी। किन्तु कोई बाहोश ड्राइवर मोटर सावधानी से चला रहा है, आगे-पीछे, दाएं-बाएं देखकर ही मोटर को चलाता है, जहाँ रफ्तार तेज करने की जरूरत होती है, वहाँ तेज भी करता है, परन्तु रखता पूरी सावधानी है। इतनी सावधानी रखते हुए भी यदि कभी कोई मनुष्य उसकी मोटर की चपेट में आ जाता है, हार्न बजा कर सावधान करने पर भी वह मोटर के नीचे आ जाता है तो ऐसी दशा में वह ड्राइवर अपराध का भागी नहीं होता, उसका लाइसेंस भी जब्त नहीं होता और न ही उसे सरकार भारी सजा देती है। क्योंकि उसने जान-बूझकर इरादे से या असावधानी से एक्सीडेंट नहीं किया है। एक्सीडेंट हो गया है, उसने किया नहीं है। यही बात जीवन रूपी मोटर गाड़ी को चलाने के सम्बन्ध में समझ लीजिए। अगर जीवन की गाड़ी अंधाधुन्ध, अविवेक से चलाता है, प्रमाद (गफलत) पूर्वक तेज रफ्तार से गाड़ी छोड़ देता है, तो अवश्य ही हिंसा होगी और उससे पापकर्म का बन्ध होगा। उसका मनुष्यगति का लाइसेंस भी शायद छिन जाए। परन्तु जो साधक बाहोश होकर विवेकपूर्वक सावधानी से आगे-पीछे, दाएं-बाएं और भी जिन्दगियाँ हरकत कर रही हैं, उन्हें देखकर आत्मौपम्यभाव से व्यवहार करते हुए जीवन रूपी गाड़ी चलाता है। ऐसी दशा में यदि कोई जीव उसकी चपेट में आ भी जाता है, हिंसा हो भी जाती है तो भी वह पाप कर्म बन्ध जनक नहीं होती। ऐसा विवेकी साधक हर क्षण यह सावधानी रखता है कि किसी भी प्रवृत्ति के समय मुझ से किसी प्राणी के प्रति हिंसा या हिंसा के कारणभूत राग-द्वेष-मोह-स्वार्थ आदि का संकल्प न आ जाय। यही यत्नाचार का कवच है, जो हिंसा के बाणों का प्रहार अपनी आत्मा पर नहीं होने देता।

एक उपाय और बताया है, उत्तराध्ययन सूत्र के ३४ वें अध्याय में बहुत ही विस्तार से जिसका निरूपण किया गया है। उसका आशय यह है कि आप देह और देह से सम्बन्धित सजीव निर्जीव तथा मनोज्ञ-अमनोज्ञ

वस्तुओं के प्रति राग और द्वेष या मोह और घृणा करते रहते हैं, वही हिंसा और तज्जनित पापकर्मबन्ध का कारण बनता है। अतः यदि हिंसा से बचना हो, पापकर्म से अपनी आत्मा को बचाना हो तो इष्ट पदार्थ के प्रति राग या मोह एवं अनिष्ट के प्रति द्वेष या घृणा अथवा क्रोधादि चार कषाय न करो। जल में कमल की तरह निर्लेप रहो। इस प्रकार देह का त्याग न करके देह और देह से सम्बद्ध पदार्थों के प्रति अनासक्त एवं निर्लिप्त होकर जो जीवन यात्रा करता है, वह हिंसा या पापकर्मबन्ध नहीं करता, बाह्य रूप से हिंसा होने पर भी वह उस हिंसा में संकल्प से लिप्त नहीं होता।

इसी प्रकार का एक समाधान वेदान्त दर्शन द्वारा भी किया गया है। वहाँ यह बताया गया है, कि देह अपने आप में न हिंसा करता है, न अहिंसा। वह तो जड़ है। आत्मा के संकल्प या अभ्यास से कार्य होता है। और आत्मा जब देह को अपना स्वरूप मानकर प्रवृत्ति करता है, तब उस प्रवृत्ति के द्वारा हिंसा होती है। अतः जीवन के व्यापार से होने वाली हिंसा से अपनी रक्षा के लिए देह को छोड़ने की जरूरत नहीं, जरूरत है देहभाव, देह के साथ आसक्तिजन्य सम्बन्धों को छोड़ने की। देह को निज रूप समझना भी आसक्तिमूलक होने से हिंसा है और उस हिंसा से छूटने के लिए देह को छोड़ना, दूसरी हिंसा करना है। अगर इन दोनों प्रकार की हिंसाओं से छूटना है तो देह से भिन्न अपना जो निज स्वरूप है, जिसे आत्मा या परमात्मा कुछ भी कहें, उसे पहचान लेना चाहिए और देह के साथ आसक्तिजन्य सम्बन्ध या अहंकर्तृक भाव है, उसे छोड़ देना चाहिए।

भगवद् गीता में भी इसी आशय को स्पष्ट करते हुए कहा है—

यस्य नाहंकृतो भावो, बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।  
हत्वाऽपि स इमाँल्लोकान्, न हन्ति न निबध्यते ॥

जिस पुरुष के अन्तःकरण में मैं करता हूँ, अथवा मैं देहरूप हूँ, ऐसा अहंकर्तृक भाव नहीं है, तथा जिसकी बुद्धि सांसारिक इष्टानिष्ट पदार्थों में रागद्वेष से लिप्त नहीं होती अथवा किसी भी प्रवृत्ति में लेपायमान नहीं होती, उस पुरुष के निमित्त से यदि इस संसार के सभी प्राणियों की कदाचित् हिंसा भी हो जाती है, तो भी समझना चाहिए कि न तो वह हिंसा करता है, न पाप से बँधता है।

तात्पर्य यह है कि जिस पुरुष की देह में आसक्ति नहीं है, देहाध्यास



छूट गया है, सावधानीपूर्वक देहाभिमान रहित होकर लोकहितार्थ जिसकी सम्पूर्ण क्रियाएँ होती हैं, उस पुरुष के शरीर एवं इन्द्रियों द्वारा यदि किसी प्राणी की हिंसा होती हुई, लोक दृष्टि में देखी जाती है, तो भी वास्तव में वह हिंसा नहीं है। क्योंकि आसक्ति, स्वार्थ और अहंकार के न होने से किसी प्राणी की हिंसा हो ही नहीं सकती तथा कर्तृत्वाभिमान के बिना किया हुआ कर्म वास्तव में पापकर्म नहीं होता, इसलिए वह पुरुष पाप से बद्ध नहीं होता।

सारांश यह है कि देहभाव छोड़कर देह से अलग होकर जीवन-क्रिया करना ही प्राणियों से सर्वत्र व्याप्त संसार में अहिंसा-पालन का राजमार्ग है।

अहिंसा के विषय में जैन धर्म के मर्मस्थल का स्पर्श करने से एक बात खासतौर से मालूम हो जाएगी कि जो भी कार्य, प्रवृत्तियाँ, चेष्टाएँ, या हरकतें की जाती हैं, उन सबके मूल में हिंसा नहीं उठती है, न ही उनमें से अपने आप में कहीं पाप पैदा होता है। किन्तु उन प्रवृत्तियों के पीछे जो संकल्प हैं, भावनाएँ हैं वे कषाय या राग-द्वेष-मोह-युक्त हैं, उन्हीं में हिंसा है, वहीं से पाप पैदा होता है। अगर किसी प्रवृत्ति के पीछे आपकी वृत्ति कषाय या रागद्वेषादि से युक्त नहीं है तो आपको उस प्रवृत्ति से भाव-हिंसादि एवं पापकर्म का बन्ध नहीं हो सकता। इसीलिए जब तीर्थंकरों से पूछा गया कि खाने-पीने में पाप है क्या? तो उन्होंने यही कहा—नहीं, खाने-पीने में तो कोई पाप नहीं है, किन्तु यह बतला दो कि उसके पीछे वृत्ति क्या है? अगर तुम्हारा खाना अविवेकयुक्त है, केवल स्वाद एवं शरीर में शक्ति बढ़ाने के लिए खाते हो, अथवा यह विवेक नहीं है कि खाने के बाद शरीर का क्या उपयोग करना है, कर्तव्य की कोई भावना भी नहीं है तो समझ लो, तुम्हारा खाना हिंसा है; किन्तु खाने के पीछे विवेक है, कर्तव्य एवं सत्कर्म की भावना है, शरीर के उपयोग के सम्बन्ध में निर्णय है, तो तुम्हारा वह खाना अहिंसा एवं धर्म है। यही निर्णय जीवन की सभी क्रियाओं के सम्बन्ध में जैन धर्म का है।

निष्कर्ष यह है कि अहिंसा के पालन के लिए जीवन यात्रा में इस प्रकार की सावधानी और जागरूकता रखकर चला जाय तो किसी भी कोटि के साधक के लिए अहिंसा अव्यवहार्य नहीं रहती। कई लोग कह देते हैं कि अहिंसा है तो अच्छी चीज, परन्तु व्यवहार में आने लायक नहीं।

इसका मतलब है, अहिंसा केवल वाणी विलास की चीज है, या अहिंसा की व्याख्या केवल लाइब्रेरियों में बन्द रखने के लिए है, जीवन में उतारने के लिए नहीं। परन्तु यह अहिंसा के वस्तु स्वरूप को न समझने का परिणाम है। यदि भारत के स्वर्णिम अतीत पर दृष्टिपात किया जाय और हृदय पर हाथ रख कर ठंडे दिमाग से सोचा जाए तो प्रतीत होगा कि अहिंसा के लिए अव्यवहार्य का आरोप यथार्थ नहीं है। जो वस्तु सहस्राब्दियों से लगातार व्यवहार में आती रही है, जिसे अतीत और वर्तमान के सभी तीर्थंकरों एवं साधकों ने जीवन में अवतरित करके बताया है, वर्तमान में भी अवतरित कर रहे हैं, भविष्य में भी अवतरित करेंगे, उसकी अव्यावहारिकता में सन्देह करना अपने अस्तित्व में सन्देह करना है। अत्यन्त प्राचीन जैनागम आचारांग सूत्र में इसके व्यवहार में आने के स्पष्ट संकेत मिल रहे हैं—

से बेमि, जेय अतीता, जेय पडिपुत्रा, जेय अणागया तित्थयरा ते सव्वे एवं आइक्खति, एवं भासेंति, एवं परूवेति, एवं पणवेति सव्वे पाणा, सव्वे भूया, सव्वे जीवा, सव्वे सत्ता न हंतव्वा, न अज्जावेयव्वा, न परिघेतव्वा, न परियावेयव्वा, न उद्देयव्वा, इत्थं विजाणह। नत्थित्थ दोसो, आरियवयणमेयं।

मैं कहता हूँ, जो अतीत में, वर्तमान में और भविष्य में तीर्थंकर हुए हैं, हैं और होंगे, वे सब तीर्थंकर ऐसा कहते हैं—समस्त प्राण, भूत, जीव और सत्त्वों की हिंसा नहीं करनी चाहिए न उन पर अनुचित शासन करना चाहिए, न उन्हें गुलामों की तरह पराधीन बनाना चाहिए, न उन्हें परिताप देना चाहिए और न ही उनके प्रति किसी प्रकार का उपद्रव करना चाहिए। ऐसा समझो। इस अहिंसा धर्म में किसी प्रकार का दोष नहीं है, अहिंसा वस्तुतः आर्यों का सिद्धान्त है।

अतः इसमें कोई सन्देह नहीं कि भगवान् महावीर जैसे महापुरुषों ने, गौतम जैसे गणधरों ने, आनन्द जैसे सम्भ्रान्त गृहस्थों ने तथा वर्तमान में राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अहिंसा के सफल प्रयोग करके दिखाए हैं। अनेकों जैन, बौद्ध, वैदिक साधकों ने यही नहीं ईसामसीह एवं हजरत मुहम्मद जैसे धर्मप्रवर्तकों ने अहिंसा की साधना करके अपने आपका और विश्व का कल्याण किया है, तब यह कैसे कहा जा सकत है कि अहिंसा आकाश की चीज है, धरती की नहीं? जिन्होंने अपने जीवन

व्यवहार में अहिंसा का आचरण किया है, उन्हें यह अनुभव हो गया कि यह शत प्रतिशत व्यवहार को चीज है, अव्यवहार्य नहीं।

क्या अहिंसा के बिना सामाजिक, राष्ट्रीय एवं आध्यात्मिक जीवन एक क्षण भी चल सकता है? क्या मनुष्य अपने निहित स्वार्थों की पूर्ति के लिए कदम-कदम पर संहार का डंका बजाता हुआ चलेगा? नहीं, कदापि नहीं चल सकता। यह तो हैवान, शैतान एवं दैत्य की गति है, मानव की यथार्थ गति नहीं है। क्या मनुष्य अपने जीवन पथ में किसी दूसरे के लिए कांटे बिछाकर ही चलता है? क्या वह हर समय दूसरों से टकराता हुआ ही गति करता है? जो लोग अहिंसा को उत्तम चीज मानते हुए भी इसे व्यवहार में उपादेय नहीं मानते हैं, उनसे पूछा जाय कि आखिर जीवन का सरल व्यवहार मार्ग कौन-सा है? बचना और बचाना, स्वयं सुख-शान्ति से जीने और जिलाने का मार्ग ही व्यवहारपथ है, यही वास्तविक अहिंसा है। स्वयं उलझने और टकराने, तथा स्वयं बर्बाद होने और दूसरों को बर्बाद करने का पथ हिंसा का मार्ग है। भला, कौन मूर्ख होगा, जो जानबूझकर हिंसा को व्यवहारमार्ग बनाएगा? अगर स्थिर मन मस्तिष्क से सोचो तो वह स्वयं जान जाएगा कि अपना दैनिक व्यवहार वह हिंसा के बजाय अहिंसा से ही अधिक चलाता है। क्या घर में छोटा-सा संघर्ष हो जाता है तो कानून के तीरकमान लेकर न्यायालय के द्वार खटखटाए जाते हैं? या परिवार की कोई गुत्थी उलझ गई तो क्या डंडे से सुलझाई जाती है? कदापि नहीं। अधिकांश मसले अहिंसक उपायों से ही हल किये जाते हैं। परिवार में जैसे अहिंसा और प्रेम से प्रायः हर समस्या सुलझाई जाती है, वैसे ही समाज और राष्ट्र में भी सुलझाई जा सकती है।

जो लोग हिंसा का कठोर मार्ग लेते हैं, वे भी अन्त में ऊबकर अहिंसा की शरण में आते हैं। सम्राट् अशोक ने हिंसा के कठोर मार्ग का अनुसरण करके कलिंग पर अचानक बहुत बड़ी सेना लेकर चढ़ाई कर दी। लाखों मनुष्यों का संहार किया। किन्तु जब अशोक ने स्वयं अपनी आँखों से उस युद्ध के भयंकर परिणाम देखे तो उसे एकदम विरक्ति हो गई युद्ध से। सम्राट् अशोक के हृदय में अहिंसादेवी विराजमान हो गई और उसने कलिंग नरेश को जीता हुआ राज्य वापिस लौटा दिया। सदा के लिए युद्ध को विदाई दे दी। क्या कोई कह सकता है कि अहिंसा स्थायी सुख-शान्ति के व्यवहार के लिए उपादेय नहीं है? लाखों-करोड़ों का संहार करके अन्ततोगत्वा जिस

अहिंसापथ को अपनाकर सन्धि करना है, उसे पहले ही क्यों न अपना लिया जाय ?

अहिंसा को अव्यवहार्य और हिंसा को व्यवहार्य समझने वाला व्यक्ति यह प्रतिज्ञा कर ले कि जो भी मेरे सम्पर्क में आएगा. उसको खोपड़ी फोड़े बिना न रहूँगा, तो क्या वह एक दिन भी अपनी प्रतिज्ञा पर अटल रह सकेगा ? अहिंसा की प्रतिज्ञा लेकर तो काफी लम्बा जीवन व्यतीत किया जा सकता है. परन्तु हिंसा की प्रतिज्ञा लेकर तो शायद चन्द मिनट भी मुश्किल से बिताये जा सकेंगे। ठंडे दिल से सोचने पर आपको पता लगेगा कि आप अपने जीवन में सम्भवतः ६५ प्रतिशत कार्य तो शान्ति, प्रेम, सेवा, सहानुभूति एवं सहयोग से निपटाते हैं. शायद ५ प्रतिशत कार्यों में हिंसा, घृणा, द्वेष आदि से ही निपटाते हों। वस्तुतः अहिंसा के द्वारा ही जीवन व्यवहार चलाया जा सकता है।

वास्तव में अहिंसा मानव जाति को सुख-शान्ति का वरदान देने आई थी। परन्तु आज हम देखते हैं कि मनुष्य को प्रायः अपनी काया से आगे कुछ सूझता नहीं। उसकी हृत्तंत्री के तार पूरी सृष्टि से जुड़ने चाहिए थे। किसी और की पीठ पर पड़ने वाले कोड़ों की पीड़ा अकेले रामकृष्ण परम-हंस को ही क्यों हुई ? अपने चारों ओर फैल रही वेदनाओं से वर्तमान अहिंसाधर्मी पसीजते क्यों नहीं ? वैज्ञानिक कहते हैं—

मनुष्य आज चांद को देख आया, मंगल को छूने जा रहा है, परन्तु आत्मजगत् में इतना पंगु कैसे रह गया ? मनुष्य की संवेदनशक्ति को लकवा क्यों मार गया ? उसकी करुणा पिघलती क्यों नहीं ? अपने और अपनों तक ही आकर अहिंसा का रथ क्यों रुक गया ? आपके हाथ से लाठी छूट जाए, आप किसी की हत्या न करें, मनुष्य की तो क्या, किसी भी जीव-जन्तु की भी नहीं ? आपके मुँह में निरामिष भोजन का कौर पढ़ूँचे, आप कुछ दिन उपवास रख लें, खाने-पीने पर संयम रख लें—क्या महावीर का अहिंसा धर्म इतना-सा ही है ? इससे आगे अहिंसा की गाड़ी क्यों रुक गई ? कारण यह है कि भगवान महावीर ने अहिंसा के साथ 'सर्वभूतात्मभूत' दृष्टि इसलिए देनी चाही थी कि मानव सहिष्णु, संवेदनशील एवं सहृदय बने, अपना अहंकार छोड़े, सहअस्तित्व को समझे—आप भी रहें, और अन्य प्राणी भी रहें। आप ऐसा कुछ न करें, जिससे दूसरे की हस्ती मिटे और दूसरा ऐसा काम न करे कि आप बुझ जाएँ। सम्पूर्ण प्राणि जगत् सह-

अस्तित्व की परिधि में आ जाए। इन सबसे मनुष्य का आत्मधर्म जुड़ा हुआ है। पर अहिंसक केवल जीव हत्या का परहेज करके चुपचाप बैठ गया इसलिए यह आत्मधर्म उसके जीवन में आया नहीं। अहिंसा की गति इसी कारण रुकी हुई है, बल्कि वह लड़खड़ा रही है। अहिंसा के पुजारी ने हिंसा के जिन बाह्य उपकरणों से छुट्टी पाई थी, उनके भाई आन्तरिक उपकरण लौट कर उसके हृदय में खुल कर खेल रहे हैं। सर्वाधिक प्रभावशाली उपकरण 'स्वार्थ' को सर्वत्र बेरोकटोक प्रवेश का अनुमति पत्र मिल गया है। देनंदन जीवन के मैदान में घृणा, ईर्ष्या, द्वेष, बैर, मोह, तृष्णा आदि हिंसा की पलटन की परेड हो रही है और अहिंसा देवी चुपचाप मौन साधे बैठी है। अहंकार ने भी अहिंसा के आगे बढ़ने का रास्ता रोक लिया है। भगवान महावीर ने अहिंसा के पुजारी को हिंसा के इन सैनिकों से सावधान रहने को कहा था, पर उसने उनकी दी हुई सीख पर अधिक ध्यान नहीं दिया। अहिंसा जीवहिंसा न करने के मुकाम पर आकर ठिठक गई है, आगे बढ़ती ही नहीं। मनुष्य के पास करुणा, प्रेम, दया, सेवा, सहानुभूति, धैर्य, क्षमा, समता, संयम आदि का बहुमूल्य भंडार तो है, पर वह इसे खोलता ही नहीं। स्वार्थ और अहंकार के दो कपाटों से उसका दरवाजा बंद कर रखा है। उसका यह भंडार खुल जाए तो उसकी ऊर्जा प्रगट होने में कोई संदेह नहीं है। अहिंसा कहती है—कूदो, जूझ पड़ो इस हिंसा की पलटन से! अपनी करुणा, समता और प्रेम को लेकर पहुँचोगे तो हिंसा के पैर उखड़ जाएँगे।

आज अहिंसा का पथिक अपनी मंजिल के जिस पड़ाव पर है, वह तो तलहटी है। अभी तो काफी चढ़ाई चढ़नी पड़ेगी। आगे तो केवल आरोहण ही आरोहण है। नई ऊर्जा मनुष्य के हृदय से प्रगट होगी, तभी वह इस कठिन चढ़ाई को चढ़ सकेगा। आवश्यकता है, साहसपूर्वक अपनी ऊर्जा प्रगट करने के लिए अहिंसा के सहजीवी गुणों को लेकर आरोहण करने की। अहिंसा की प्रगति का संकल्प ही अहिंसाधर्मी साधक को मंजिल की ओर बढ़ाएगा।



## हिंसा-अहिंसा की परख

अहिंसा एक विराट् शक्ति है। अहिंसा के बिना सृष्टि के अस्तित्व की कल्पना करना अविचारिता होगी। जीवन के हर मोड़ और हर प्रवृत्ति में अहिंसा ने मनुष्य का साथ दिया है, हर परिस्थिति में उसने मनुष्य के अस्तित्व की रक्षा की है, जीवन की समस्याओं को सुलझाया है, और उसके कल्याण-पथ को प्रशस्त किया है। यही कारण है कि अहिंसा के जितने प्रयोग हुए हैं, शायद ही और किसी व्रत के प्रयोग हुए हों। इस कारण अहिंसा के उन विभिन्न प्रयोगों को समझना वर्तमान युग के अहिंसा-साधक को समझना अनिवार्य है। अहिंसा को भली-भांति समझने के लिए सर्व-प्रथम उसके विरोधी हिंसा को समझना आवश्यक है। क्योंकि कई बार साधक हिंसा को अहिंसा समझ लेता है, और जो वास्तव में हिंसा नहीं है, उसे हिंसा समझता है। बहुत बार इसी भ्रम के कारण लोग गड़बड़ा जाते हैं। इसलिए हिंसा और अहिंसा को परखने का खास थर्मामीटर क्या है, इसे जान लेना चाहिए।

चूँकि अहिंसा का मूल अर्थ सर्वप्रथम 'न' पर आधारित है, इसलिए मैं आपको हिंसा का ही स्वरूप बताऊँगा, ताकि आप हिंसा-अहिंसा का यथार्थ विवेक और नापतौल कर सकें।

**हिंसा के दो रूप—द्रव्य हिंसा और भाव हिंसा**

अहिंसावतार तीर्थंकरों एवं महान् आचार्यों ने मूल में हिंसा को दो रूपों में विभाजित किया है—द्रव्य हिंसा और भाव हिंसा। आम तौर पर हिंसा का अर्थ यही समझा जाता है, जानबूझ कर या असावधानी से वाणी से गाली, अपशब्द, व्यंग या आक्रोश करके किसी को क्षुब्ध करना और

शरीर से किसी को मारना, पीटना, कष्ट पहुँचाना, हैरान करना, प्राणों से रहित कर देना। परन्तु यह तो द्रव्य हिंसा है। यह हिंसा प्रायः प्रत्यक्ष होती है, इसलिए आम आदमी इसे हिंसा कह देता है। साथ ही यह फैसला भी दे देता है कि हिंसा के कारण इस व्यक्ति को पापकर्म का बंध हो गया। मगर तीर्थंकर कहते हैं कि केवल द्रव्य हिंसा के होने से ही पापकर्म का बंध हो जाता है, यह बात सिद्धान्त सम्मत एवं तथ्यपूर्ण नहीं है। इसका कारण यह है कि द्रव्य हिंसा में किसी के प्राणों का अतिपात तो होता है, लेकिन उसमें निमित्त केवल शरीर बनता है, मन की अशुभ प्रवृत्ति उसमें निमित्त नहीं होती। मनोयोग जब तक किसी प्रवृत्ति में न हो, तब तक वह प्रवृत्ति कर्मबन्ध का कारण नहीं बन सकती। तात्पर्य यह है द्रव्यहिंसा, वाह्यहिंसा है, उसमें बाह्यरूप प्राणातिपात अवश्य होता है, लेकिन उस प्राणघात के साथ हिंसा का संकल्प या राग-द्वेष का संकल्प नहीं जुड़ा है, इसलिए अन्दर से हिंसा नहीं है। और न ही कर्मबन्ध होता है। जैन सिद्धान्त की दृष्टि से कर्मबन्ध मन से होता है, शरीर से नहीं। शरीर से तो क्रिया होती है। इसीलिए कहा है—‘परिणामे बन्धः’—अर्थात् बंध परिणाम से होता है। शरीर अपने आप में जड़ है, कोरा शरीर न तो विचार कर सकता है, न किसी प्रकार का संकल्प ही। इसलिए केवल शरीर से स्थूल दृष्टि से दृष्टि-गोचर होने वाले प्राणघात के साथ न राग होता है, न द्वेष ही। न ही उसमें कषाय होता है। इसलिए कर्मबन्ध होता ही नहीं। अगर अकेला शरीर कर्मबन्ध कर सकता हो, तब तो प्रत्येक जड़ पदार्थ—पत्थर, ईंट, मेज, कुर्सी आदि—से किसी का सिर फूट जाय या अंगभंग हो जाय या प्राणवियोग हो जाए तो उस जड़पदार्थ के भी कर्मबन्ध होना चाहिए। अतः जब पत्थर, ईंट आदि जड़ पदार्थों को कोई हिंसा नहीं लगती, तब शरीर को हिंसा क्यों लगेगी? वास्तव में हिंसा का संकल्प करने वाला राग-द्वेष-कषायग्रस्त मन ही है। शरीर तो फिर मन का अनुगामी बन जाता है। मूल कर्ता मन ही है।

एक लोटे में भांग बहुत तेज घोंट कर रखी हुई है, क्या लोटे को उस भांग का नशा चढ़ता है? नहीं चढ़ता। क्योंकि भांग के साथ चेतना का कोई संयोग नहीं हुआ। यदि भांग का लोटा किसी मुर्दे के पेट में उँड़ेल दिया जाय तो क्या वह उसे नशा चढ़ाती है? वहाँ भी भांग नशा नहीं चढ़ाती। और न ही भांग का भरा हुआ लोटा हाथ में लेने या शरीर के भांग का

स्पर्श कराने से नशा चढ़ता है। नशा तभी चढ़ता है, जब भांग सजीव प्राणी के पेट में उँड़ेल दी जाती है, जब उसका चेतना के साथ संयोग हो जाता है। यही बात हिंसा के कारण रागद्वेष रूप नशा चढ़ने के बारे में समझिये। केवल शरीर या शरीर के अंगोपांगों से स्थूल हिंसा की कोई क्रिया होगी, उससे कर्मबन्ध नहीं होगा, न राग-द्वेष ही होगा, क्योंकि शरीर जड़ है। हिंसा की क्रिया का जब मन के साथ—मन के रागद्वेषादि परिणामों के साथ संयोग होता है, तभी कर्मबन्ध होता है, और वह हिंसा पाप-कर्मबन्धनजनक समझी जाती है।

आचार्य अमृतचन्द्र जैन धर्म के सूक्ष्म चिन्तनकार आचार्य हुए हैं। उन्होंने पुरुषार्थ सिद्धयुपाय में हिंसा-अहिंसा के सम्बन्ध में स्पष्ट निरूपण किया है। उन्होंने हिंसा-अहिंसा की परख के लिए एक स्पष्ट निर्णय दे दिया है—

‘अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्याहिंसेति ।

तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः ॥’

स्थूल दृष्टि वाले लोग जीव न मरने को अहिंसा और जीव मरने को हिंसा कह देते हैं, परन्तु वास्तव में बाह्य रूप से जीव मर जाते हैं, किन्तु अन्तर् में राग-द्वेष-कषायादि उत्पन्न नहीं हुए हैं, ऐसी स्थिति में वह हिंसा न होकर अहिंसा ही होती है। किन्तु बाहर से जीव न मरा हो, फिर भी अन्तर् में राग-द्वेष-कषायादि पैदा हो गए तो वहाँ बाहर से अहिंसा का आभास होते हुए भी हिंसा है। यही जैन सिद्धान्त का सार है।

**आत्मा अमर : मारने से हिंसा का पाप क्यों ?**

एक जगह एक विद्वान् ने पूछा—आत्मा तो अजर-अमर है। यह न मरती है, न कटती है, न जलती है, न सूखती है, 'तब फिर किसी को मारने से हिंसा का पाप क्यों लगता है ?

जैन दर्शन कहता है—प्राणियों को मारना या जिलाना किसी के वश की बात नहीं है। अनन्तबली तीर्थंकर भी किसी जीव को अपनी आयु से एक क्षण अधिक न जिला सकते हैं, और न ही इन्द्र आदि जैसे शक्तिशाली देव अपनी पूरी ताकत लगा कर भी किसी जीव को उसके आयुष्य से एक

१ “नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि, नैनं दहति पावकः ।

न चैनं क्लेदयन्त्यापो, न शोषयति मारुतः ॥’ —भगवद् गीता



क्षण पहले भी मार सकते हैं, न कोई किसी को मार सकता है, न जिला सकता है। सब अपने-अपने आयुष्यकर्म के अनुसार मरते या जीते हैं। आप पूछेंगे, तब फिर हिंसा-अहिंसा की बात मारने न मारने के साथ कैसे संगत हो सकती है? जब किसी को जिलाना या बचाना हमारी सामर्थ्य से बाहर है, तब फिर किसी की दया या करुणा की प्रेरणा भी व्यर्थ है और जब मारना किसी के हाथ की बात नहीं, तब किसी की हिंसा भी कैसे होगी? इनका समाधान क्रमशः इस प्रकार है—आत्मा अविनाशी है, तभी तो हिंसा लगती है। अगर आत्मा अनात्मा बन जाता, तब तो हिंसा किसे लगती? मारने वाले का आत्मा नष्ट हो गया और मरने वाले का भी आत्मा समाप्त हो गया, फिर तो हिंसा-अहिंसा का कोई सवाल ही न रहता। आत्मा अजर अमर अविनाशी है, इसीलिए तो बचाने वाले को अहिंसा (धर्म) और मारने वाले को हिंसा (पाप) होती है। आत्मा तो अजर, अमर, अविनाशी है, किन्तु प्राण तो अविनाशी नहीं हैं, वे तो समाप्त होते हैं। यद्यपि वे शरीर से सम्बन्धित हैं, किन्तु आत्मा ने आसक्तिवश अपने मान रखे हैं। शरीर और प्राण के साथ आत्मा ममत्व से बंधा हुआ है। इसलिए ही प्राणों का वियोग, उक्त आत्मा को असह्य हो उठता है, प्राणों का हरण करने वाला रागद्वेषादि वश करता है, इसलिए वहाँ हिंसा हो जाती है।

दूसरी बात यह है कि आत्मा के पास आयुष्यरूप प्राण है, जो १० प्राणों में अन्तिम प्राण है। आयुष्यप्राण पर भी प्राणी की ममता है। उसे अकाल में ही अलग कर देना—यानी आत्मा का प्राणों से पृथक कर देना हिंसा कहलाती है। जो आयुष्य अधिक समय तक चल सकता था, उसे शीघ्र ही रागद्वेषादिवश समाप्त कर देना ही तो हिंसा है। जैसे किसी दीपक में ८ घंटे तक तेल चल सकता है, किसी ने उसकी बत्ती तेज करके दियासलाई बता दी। इससे दो ही घंटे में वह तेल समाप्त हो जाता है, उसी प्रकार अधिक समय तक चल सकने वाले आयुष्य को प्रहारादि करके सहसा अकाल में नष्ट कर देने से प्राणों व शरीर पर ममत्व वाले व्यक्ति को कष्ट होता है, कष्ट देना हिंसा है। इसलिए वहाँ जो हिंसा हुई, वह पापकर्म बंधक भी हुई।

तीसरा समाधान यह है कि यह सच है कि किसी को मारना-जिलाना आपके हाथ में नहीं है, किन्तु मन से शुभाशुभ संकल्प करना तो आपके हाथ में है। मारने और जिलाने का संकल्प ही हिंसा-अहिंसा का मूल कारण है। हिंसा और अहिंसा का स्रोत तो मन के ये संकल्प हैं। जब किसी व्यक्ति के मन में मारने, सताने, कष्ट देने, हानि पहुँचाने, बदनाम करने, अपशब्द

कहने, अपमानित करने आदि के रूप में हिंसा के संकल्प उठते हैं, तब से ही समझ लो हिंसा हो गई ।

### भाव हिंसा का विश्लेषण

जहाँ किसी को मारने का संकल्प आया, रागद्वेष का भाव आया, वहाँ दूसरे की हिंसा हो या न हो; निश्चय में वह हिंसा ही है । इसे ही भाव हिंसा कहते हैं । वस्तुतः मनोविकारों के भड़कने का नाम ही भाव हिंसा है । मन के किसी कोने में किसी व्यक्ति के प्रति विद्वेष की आग पैदा हुई तो भाव हिंसा हो गई । द्वेष की तरह मनुष्य के अन्तर्जीवन में क्रोध, अहंकार, छल, कपट, लोभ, राग, मोह, घृणा, ईर्ष्या, द्रोह आदि मनोविकारों का उत्पन्न होना भी हिंसा है । इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि किसी की आत्मा में किसी के प्रति द्वेष, ईर्ष्या, द्रोह जगा तो भाव हिंसा हो गई । इसी प्रकार मन में हिंसा के कारणभूत असत्य, चोरी, अब्रह्मचर्य, बेईमानी, छल, धोखा, हत्या, डकैती, लूट, अपहरण, व्यभिचार आदि के रूप में दुर्भाव आए तो वे आत्म परिणामों की हिंसा के कारणभूत होने से सब के सब भाव हिंसा के अन्तर्गत आ जाते हैं । आचार्य अमृतचन्द्र ने इसी बात का समर्थन किया है—

“आत्मपरिणाम हिंसन हेतुत्वात् सर्वमेव हिंसतत् ।

अनृतवचनादि केवलमुदाहृतं शिष्यबोधाय ॥”<sup>१</sup>

आत्मा के शुद्ध परिणामों की हिंसा के कारण होने से असत्य, चोरी, व्यभिचार आदि सभी भाव हिंसा के अन्तर्गत आ जाते हैं । असत्य वचनादि केवल शिष्य को पृथक्-पृथक् बोध कराने के लिये हैं ।

द्रव्य हिंसा तो सीधा दूसरे प्राणी के जीवन का अहित करती है । परन्तु भाव हिंसा दूसरे के जीवन का अहित करे या न करे सर्वप्रथम हिंसा का संकल्प करने वाले स्वात्मा का अहित करती है । इसलिए भाव हिंसा पर की अपेक्षा अपने लिए अधिक अहितकर तथा आत्मपतन का मूल कारण बनती है । प्रायः यह देखा जाता है कि मनोविकार मनुष्य की आत्मचेतना को आवृत कर देते हैं । आचार्य अमृतचन्द्र इसी अनुभवयुक्त वचन का समर्थन करते हैं—

यस्मात् सकषायः सन् हन्त्यात्मा प्रथममात्मनात्मानम् ।

पश्चात् जायेत न वा हिंसा, प्राण्यन्तराणां तु ॥<sup>२</sup>

१ पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय-४३, २ पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय-४७

आत्मा क्रोधादि कषाय के वशीभूत होकर पहले तो अपनी हिंसा स्वयं ही कर डालती है, दूसरे प्राणियों की हिंसा तो बाद की बात है, वह हो भी सकती है, नहीं भी ।

यह भाव हिंसा ही है, जो पहले अपने आत्मा के गुणों की हत्या कर डालती है । रही बात दूसरों की हिंसा की, वह द्रव्य, क्षेत्र, काल आदि पर निर्भर है । किन्तु अपने आप तो जल ही जाता है ।

आपने दियासलाई देखी है न ? वह रगड़ खाती है, तब जल उठती है । जलने के बाद ज्यों ही घास को जलाने जाती है, त्यों ही हवा का झोंका आया और बुझ गई तो वह घास को जला नहीं सकी । लेकिन खुद तो जल ही गई वह । इसी प्रकार भाव हिंसाकर्ता स्वयं तो अपनी आत्मा का अहित कर ही लेता है, दूसरों का अहित करे या न करे, दूसरों का सर्वनाश शायद न भी कर सके, यदि उनका पुण्य प्रबल हो, आयुष्यबल या प्राणबल प्रबल हो तो ।

बात यह है कि मनुष्य के अन्तर्मन में जब आत्मौपम्यभाव का हास होने लगता है, तो उसकी आत्मा में राग, द्वेष, ईर्ष्या, घृणा, क्रोध, अहंकार आदि विकार अपना आसन जमाने लगते हैं । वह बाहर से तो किसी पत्तलवार, बन्दूक, चाकू या लाठी आदि हथियार चलाता नहीं दिखता । ये बाह्य शस्त्र-अस्त्र तो उसने कभी से फेंक दिये । मांसाहार, शिकार या किस पर प्रहार आदि भी वह नहीं करता । शराब आदि नशीली चीजों का भी सेवन नहीं करता, किन्तु अंदर में उनसे भी बढ़कर तेज हथियार वह पकड़ लेता है । वह स्वयं समझता है कि मैं अहिंसक हो गया, मैं चींटी को भी नहीं मारता, किन्तु अन्दर में भयंकर हिंसा चलती रहती है ।

कोई गरीब हरिजन किसी व्यक्ति के यहाँ आ गया । हरिजन को देखते ही उसके मन में भेदभाव के संस्कार घूमने लगे और मन ही मन घृणा करने लगा । मन में कहने लगा — “कहाँ से आ मरा, यह सुबह-सुबह यहाँ ? इसे भी यहीं आना था !” बस, उसके आने से पहले ही आप घर से नौ दो ग्यारह हो गए और अपने छोटे लड़के से कहला दिया उसे—बाबूजी घर पर नहीं हैं, फिर कभी आना ।

इस घटना में उक्त बाबूजी ने बाहर से किसी की कोई हत्या की नहीं दिखाई देती, परन्तु हरिजन के प्रति घृणा करके भाव हिंसा द्वारा अपना आत्म-हिंसा तो कर ही डाली ।

मान लीजिए, एक परिवार का अगुआ है। सारे परिवार का उस पर उत्तरदायित्व है। परिवार में बूढ़े माँ-बाप हैं, भाई-बहन हैं, और अन्य सगे-सम्बन्धी हैं। इनमें कुछ लोग ऐसे भी हैं, जो अशक्त हैं, न कमा सकते हैं, न कुछ श्रम कर सकते हैं। ऐसी स्थिति में परिवार के अगुआ के मन में विकल्प उठता है—ये सब लोग मेरी कमाई खा रहे हैं, वेकार पड़े रोटियां तोड़ रहे हैं। काम कुछ करते नहीं, अनाज के दुश्मन बन रहे हैं। बूढ़े माँ-बाप अब तक क्यों खाट संभाले बैठे हैं, क्यों नहीं भगवान् के घर पहुँच जाते ! बीमार पड़ते हैं, दवा चाहिए, पथ्यपालन के लिए चीजें चाहिए। मैं अकेला कब तक करता रहूँगा ? इस प्रकार की लोभ वृत्ति ने परिवार के मुखिया के मन में जन्म ले लिया। इसका मतलब है—अपने ही सुख-दुःख को वह सुख-दुःख समझता है, परिवार के सुख-दुःख में अपना कोई हिस्सा नहीं समझता। ऐसा मानव अपने में ही बंद होना शुरू हो गया। यहाँ बाहर से किसी की कोई हिंसा नहीं दिखाई दे रही है, लेकिन लोभवृत्ति के विचार के कारण उसने अपनी आत्मा का हनन कर लिया, लोभरूप भाव हिंसा के द्वारा।

परिवार में कोई आदमी बीमार है। बीमारी की पीड़ा से छटपटा रहा है। रात भर नींद नहीं आ रही है। उस हालत में यदि किसी के मन में यह विचार आया कि यह बीमार नाहक मुझे क्यों तंग कर रहा है ? मेरी नींद क्यों हराम कर रहा है यह ? ऐसी सूरत में वह बीमार का तो बाह्य दृष्टि से कोई हिताहित नहीं कर सका, मगर स्वार्थवृत्ति के रोग से लिप्त होकर उसने अपनी भाव हिंसा कर ली। अहिंसा के उसने टुकड़े-टुकड़े कर डाले, साथ ही उसने मानवता को भी तिलांजलि दे दी।

इसी प्रकार घर में कोई अतिथि आ गया। उसके पेट में अचानक दर्द उठा। दर्द इतना असह्य हो उठा कि वह दर्द के मारे कराहने और चीखने लगा। मान लो, घर का मुखिया उसकी परिचर्या में दो-तीन घंटे लग जाने के बाद उकता कर मन ही मन विद्रोह कर बैठे, झुंझला उठे कि यह बला कहाँ से आ पड़ी ? इसे यहीं आकर बीमार होना था ? हमें नाहक हैरान कर दिया। ऐसी स्थिति में बाह्य अहिंसा का भले ही वह घर का मालिक पालन करता हो, 'मिस्त्री मे सब्बभूएसु' का भले ही उच्चारण करता हो, सामायिकें दिन में भले ही -५ कर लेता हो, किन्तु अन्तर् में समभाव नहीं जगा, अन्तर् में अभी विद्रोह रूप में भाव हिंसा करवटें ले रही है।

बीमार के साथ सहानुभूति की वाणी भी प्रगट न कर सके। वास्तव में ऐसा व्यक्ति भाव-अहिंसा के टुकड़े-टुकड़े करके सिर्फ बाह्य अहिंसा के कलेवर को ढो रहा है। हृदय आत्मौपम्य से बहुत दूर होकर अहिंसा की शमशान भूमि बन गया है। कोमल भावनाओं की हत्या करके वह अपने ही आत्मगुणों की हत्या कर रहा है।

**भाव हिंसा : अपने और दूसरों के लिए हानिकार**

शास्त्रकार अविवेकी बालजीवों के लिए यही बात कह रहे हैं कि वे लम्बे-चौड़े क्रियाकाण्ड करते दिखाई देंगे, कठोर तप से देह को मुखा डालेंगे, प्रत्येक कदम फूँक-फूँक कर रखेंगे, किन्तु उस बाह्य अहिंसा की तह में उनके अन्तर् में दूसरों के प्रति घृणा, द्वेष, ईर्ष्या, अहंकार, द्रोह, छल-कपट, स्वार्थ, लोभ, क्रोध आदि के दुर्भाव धमाचौकड़ी मचाते रहते हैं। अन्तःकरण में वे इस प्रकार की मलिनता रख कर दुःसंकल्पों के वशीभूत होकर अपने आत्मगुणों की हत्या (भाव हिंसा) करते रहते हैं। वे ऊपर से अहिंसा का बुर्का ओढ़ कर भाव हिंसा के शिकार बने लोकबंधना करते रहते हैं, जनता से सेवा-पूजा पाते रहते हैं। जब उनके अन्तर् में क्रोध आता है तो क्षमा गुण की हत्या कर देते हैं, जब लोभ आता है तो सन्तोष विदा हो जाता है, माया आई तो सरलता का गला घोट दिया जाता है, अहंकार आया तो जाति मद आदि के नशे में नम्रता का सत्यानाश हो गया। द्वेष आया तो प्रेमभाव का संहार हो गया। इस प्रकार भाव हिंसा बुराइयों और दुर्गुणों की फौज लेकर आती है और आत्मगुणों की सेना को कुचल डालती है। सचमुच भाव हिंसा आत्मगुणों का संहार करने वाली शत्रु है। वह अंदर ही अंदर आत्मगुणों का सफाया कर देती है। जैसे टी. बी. के रोगी का शरीर बाहर से बहुत ही सुन्दर और पुष्ट दिखाई देता है, किन्तु अंदर से खोखला होता है, वैसे ही ऐसे तथाकथित द्रव्य-अहिंसक का जीवन बाहर से तो अहिंसा से पूर्ण एवं पुष्ट-सा लगता है, लेकिन अंदर से भाव हिंसा से खोखला हो जाता है।

एक मछुआ है, वह घर से मछली पकड़ने का जाल वगैरह लेकर चल पड़ता है, अचानक ही रास्ते में मूर्च्छित होकर गिर पड़ा या किसी कारणवश मछलियाँ न पकड़ सका, किन्तु उसका संकल्प निर्दोष मछलियों

१ व्युत्थानावस्थायां रागादीनां वशप्रवृत्तायां ।

म्रियतां जीवो मा वा, धावत्यग्रे ध्रुवं हिंसा ॥ -पुरुषार्थ० ४५

को पकड़ने और मारने का था, इसलिए हिंसा तो हो ही गई। सिद्धान्त यह है कि जीव चाहे मरे या न मरे, रागादिवश हिंसा का संकल्प आ गया तो हिंसा हो ही गई, और वह भाव हिंसा हुई।

वास्तव में, मनुष्य प्रतिक्षण द्रव्य हिंसा नहीं कर सकता। किसी भी प्राणी को प्रतिक्षण उत्पीड़ित करना उसके लिए असंभव है। विरोधी यदि दुर्बल है तो उस पर कुछ समय के लिए वह हावी हो सकता है, जोर-आजमाई कर सकता है। किन्तु यदि प्रतिपक्षी प्रबल है, अधिक शक्तिशाली है तो मनुष्य चाहते हुए उसका बाल भी बांका नहीं कर सकता। भले ही वह असफलता की दशा में कुढ़ता रहे, मन ही मन गालियाँ देता रहे, लेकिन बाह्य रूप से उसका कुछ भी बिगाड़ नहीं सकता। फिर भी दूसरे का नाश करने की जो दुर्भावना उसके मन में उठी है, वह स्वयं का नाश करने वाली भाव हिंसा तो है ही।

प्रसन्नचन्द्र राजर्षि वन में ध्यानस्थ खड़े थे। अचानक ही उनके कानों में एक आवाज टकराई—“यह साधु कंसा ? यह तो महास्वार्थी है ! इसने अपने छोटे-से पुत्र को जिस सामंत के हाथ में सौंप कर दोषा ली है, वह सामंत दूसरे राजा से मिलकर उसका काम तमाम करवा कर स्वयं राजगद्दी पर बैठना चाहता है ! धिक्कार है इसे !” बस, इन शब्दों ने प्रसन्नचन्द्र राजर्षि की आत्मा में उथल-पुथल मचा दी। वे अपना भान भूल गए और लगे मन में उधेड़बुन करने—“क्या मुझे उन दुष्टों ने कमजोर समझ रखा है ! मेरे जीते जी कैसे वे राज्य ले लेंगे। मैं अभी एक-एक को मार गिराता हूँ।” यों सोच कर मन से उन्होंने शस्त्रास्त्र बना लिये और मन से ही शत्रु पर शस्त्र प्रहार करने लगे—“यह मारा, यह काटा !” बस, मन की दुनिया में घनघार संग्राम छेड़ दिया राजर्षि ने। पर नतीजा ? नतीजा भगवान महावीर के मुख से मगध सम्राट श्रेणिक ने सुना—“अगर इस समय प्रसन्नचन्द्र राजर्षि का देह छूटे तो वे सीधे सातवीं नरक में जाएँ।” “भगवन् ! यह कैसी अटपटी बात कह रहे हैं। इतने महान् श्रमण और सातवीं नरक ! मेरे गले यह बात उतरी नहीं।” राजा श्रेणिक ने आश्चर्यचकित होकर कहा।

इस पर सर्वज्ञ भगवान महावीर ने तथ्य को उजागर करते हुए कहा—“राजन् ! तुम ऊपर की क्रिया और शारीरिक चेष्टाओं को देख रहे हो, ऊपर से तो वह परम शान्त लग रहे हैं, परन्तु उनके मन के भावों में जो महा हिंसा का ज्वार उमड़ रहा है, उन्हें मैं पढ़ रहा हूँ।” और भगवान्

ने अथ से इति तक प्रसन्नचन्द्र राजर्षि का सारा कच्चा चिट्ठा खोल कर रख दिया। अब तो श्रेणिक के कहने की आगे कोई गुंजाइश ही न थी। कहानी आगे अचानक उनके भावों के परिवर्तन और उसके फलस्वरूप स्वर्ग और फिर केवलज्ञान और मोक्ष तक का वर्णन करती है।

मुझे आपके सामने संक्षेप में मूल मुद्दे की बात कहनी थी कि प्रसन्नचन्द्र राजर्षि ने बाहर से कोई हथियार नहीं लिये, न बाह्य हिंसा की, रक्त की एक बूँद भी नहीं बहाई। पर मन ही मन भयंकर भाव हिंसा कर ली, जिसके पापकर्मों का घोरतम प्रतिफल उन्हें मिलना था।

जो हिंसानन्दी लोग दूसरों का कत्ल करने के लिए शस्त्रास्त्रों का निर्माण करते हैं, वे बहुधा पहले ही अपनी हानि कर लेते हैं, अपने शत्रुओं का या हिंस्य जानवरों का वध तो बाद में कर पायेंगे या नहीं, यह अलग बात है।

वास्तव में देखा जाए तो द्रव्य हिंसा की जननी भाव हिंसा ही है। क्योंकि वही हिंसा को तीव्र, तीव्रतर बनाती है, अपने तीव्र-तीव्रतर कषायों या रागद्वेषों के हथियारों द्वारा। वृत्तिगत जो हिंसा है, वही भाव हिंसा है, और उसी से लड़ना है, अहिंसा के साधक को। इसीलिए आत्मा को ही इस संग्राम का मैदान बना कर इसमें उठने वाली रागाद्वेषादि वृत्तियों से जूझना है। यही बात नमि राजर्षि ने कही थी—<sup>1</sup>“अप्पाणमेव जुज्झाहि किं ते जुज्जेण बज्जओ।”<sup>2</sup> अपनी आत्मा में डटे हुए विकारों एवं हिंसावृत्ति से लड़ो, बाह्य शत्रुओं से लड़ने से क्या मतलब है? यदि इस युद्ध में विजय प्राप्त हो जाती है तो बाहर के शत्रु तो स्वतः शान्त हो जायेंगे।

भाव हिंसा और द्रव्य हिंसा का मानदण्ड मन है। मन के द्वारा ही बन्धन और मुक्ति होती है। तभी तो भारतीय दार्शनिकों को कहना पड़ा—  
‘मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः’<sup>3</sup> मनुष्यों के बन्ध और मोक्ष का कारण मन ही है।

एक बार सोक्रेटीस (सुकरात) से किसी ने प्रश्न किया—“इस जगत् में आपका साथी कौन है ?”

सुकरात ने दार्शनिक स्वर में उत्तर दिया—“मेरा साथी मेरा मन ही है।”

“आपका दुश्मन कौन है ?” आगन्तुक ने पुनः प्रश्न किया ।

सुकरात ने उसी मुद्रा में उत्तर दिया—“मेरा दुश्मन भी मेरा मन ही है ।”

प्रश्नकर्ता ने जब स्पष्टीकरण मांगा तो उन्होंने कहा—“मेरा मन इसलिए मेरा साथी है कि यही मुझे सच्चे मित्र की तरह सत्पथ पर ले जा सकता है, और मेरा मन ही मेरा दुश्मन इसलिए है कि यही मुझे उत्पथ बुरे मार्ग की ओर ले जा सकता है । मन ही सर्वेसर्वा है ।”

निष्कर्ष यह है कि भाव हिंसा ही सबसे भयंकर हिंसा है, अकेली द्रव्य हिंसा तो नाम मात्र की हिंसा है । भाव हिंसा के साथ मिल कर ही वह पापवर्द्धक बनती है । अतः धार्मिकता या दार्शनिकता की दृष्टि से भाव हिंसा ही अग्रगण्य का आसन लेती है, द्रव्य हिंसा तो भाव हिंसा को कार्य-रूप में परिणत करके भयंकर बनती है । अकेली द्रव्य हिंसा कोई इतनी भयंकर चीज नहीं ।

### द्रव्य हिंसा का स्वरूप

प्रश्न होता है कि भाव हिंसा ही जब इतनी भयंकर और जबर्दस्त है तो द्रव्य हिंसा को क्यों हिंसा माना गया । द्रव्य हिंसा का असली स्वरूप जानने पर ही इसका समाधान हो जाएगा । द्रव्य हिंसा का अर्थ है—आंखों से प्रत्यक्ष दिखाई देने वाली हिंसा । आपने देखा कि एक आरामी दूसरे प्राणी को मार रहा है, पीट रहा है, उसे हानि पहुँचा रहा है, दम घोट रहा है, लाठी आदि से प्रहार कर रहा है, थप्पड़-मुक्के भी मार रहा है, अस्त्र-शस्त्र से प्रहार करता है या जान से मार डालता है, शारीरिक कष्ट पहुँचाता है, अंग-भंग भी कर देता है, गाली और अपशब्दों से अपमानित भी करता है, तो ऐसी स्थिति में द्रव्य हिंसा तो है, पर इस द्रव्य हिंसा के साथ भाव हिंसा पहले से मिली हुई है । भाव हिंसा के परिणामस्वरूप जो भी इस प्रकार का सक्रिय रूप आता है, वह सब द्रव्य हिंसा की कोटि में आता है । किन्तु द्रव्य हिंसा का एक रूप ऐसा भी होता है, जहाँ वह निखालिस होती है, उसके साथ भाव हिंसा नहीं होती, वह इतनी उग्र नहीं होती, न ही जिस विवेकी व्यक्ति से वह हिंसा हो जाती है, वह इतना उग्र होता है, वह सहज भाव से विवेकपूर्वक अपनी चर्या करता है, प्रवृत्ति करता है, उसके मन में किसी को मारने-पीटने, सताने या नुकसान पहुँचाने का संकल्प नहीं होता, फिर भी जीव मर जाते हैं, कुचल भी जाते हैं, साधारण तकलीफ भी पाते हैं । जन



साधारण में धारणा यही है कि द्रव्य हिंसा ही हिंसा है, क्योंकि हिंसा के नाम पर प्रत्यक्ष रूप में द्रव्य हिंसा ही सामने आती है, भाव हिंसा तो पीछे छिपी हुई होती है। किन्तु एक बात निश्चित है कि मन में कोई भले ही भ्रान्त धारणा बना ले, लेकिन जब तक कोई व्यक्ति सकल्पपूर्वक किसी को शारीरिक हानि नहीं पहुँचाता, तब तक वह हिंसा का दाँषी नहीं माना जाता। जो कुछ भी हिंसा हुई है, वह उसने की नहीं है, हुई है। हिंसा होना एक बात है और हिंसा करना दूसरी बात है। हिंसा करने में तो संकल्प शामिल होता है, हिंसा होने में संकल्प साथ में नहीं होता। भगवद् गीता में इसी आशय का समर्थन किया गया है—

यस्य नाऽहंकृतो भावो, बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।

ह्रत्वाऽपि स इमाल्लोकान्, न हन्ति, न निबध्यते ॥<sup>१</sup>

जिसके मन में 'हिंसा करूँ' (मार दूँ, पीट दूँ, हैरान कर दूँ), ऐसा अहंकर्तृक भाव नहीं है, जिसकी बुद्धि राग द्वेषादि में लिप्त नहीं होती। उससे कदाचित् इन लोकों के प्राणियों का हनन हो भी जाता है, तो भी हन्ता या हिंसा दोष का भागी नहीं माना जाता है, न पाप बन्धन से बद्ध होता है।

उक्त कथन का भावार्थ भी जैन सिद्धान्त से मिलता-जुलता है कि हिंसा का मूलाधार प्रमाद, कषाय और अशुभ मन-वचन-काया का योग है। जो साधक कषाय भाव में न हो, यतनापूर्वक प्रवृत्ति कर रहा है, और मन में कोई मारने आदि का अशुभ संकल्प नहीं है, वचन से भी हिंसाजनक दुर्वचनों का प्रयोग नहीं करता है, काया से भी जान-बूझकर दुश्चेष्टा नहीं करता है, सहज भाव से प्रवृत्ति कर रहा है, फिर भी उसके शरीर से यदि हिंसा हो जाती है, तो वह केवल औपचारिक (द्रव्य) हिंसा है, भाव हिंसा नहीं। ऐसी निखालिस द्रव्य हिंसा प्राणविराधनरूप होते हुए भी हिंसा नहीं मानी जाती। जहाँ मन, वचन, काया का दुष्प्रयोग किया गया हो, उससे किसी का प्राणातिपात किया गया हो, वहाँ हिंसा होती है।<sup>२</sup>

१. भगवद् गीता अ. १८

२. यदा प्रमत्तयोगो नास्ति, केवलं प्राणव्यपरोपणमेव, न तदा हिंसा।  
उक्तञ्च—वियोजयति चासुभिर्नच वधेन संयुज्यते।

—तत्त्वार्थ राजवार्तिक ७, १३

३. "मण-वयणकायेहिं जोगेहिं, दुप्पउत्तेहिं जं पाणववरोपणं कज्जइ सा हिंसा।"

—दशवैकालिक चूर्णि अ. १

## हिंसा के चार भंग

जैन दृष्टि हर विचाराधारा को अनेकान्त की तराजू पर तौलती है, एकान्तरूप से किसी बात का विधान या निषेध नहीं करती। पूर्वोक्त द्रव्य हिंसा और भाव हिंसा की दृष्टि से आचार्यों ने ४ भंगों (विकल्पों) का सुन्दर विश्लेषण किया है। आगम की भाषा में इसे चौभंगी कहते हैं। वह यों है—

- (१) भाव हिंसा हो, किन्तु द्रव्य हिंसा न हो।
- (२) द्रव्य हिंसा हो, लेकिन भाव हिंसा न हो।
- (३) द्रव्य हिंसा भी हो, भाव हिंसा भी हो।
- (४) न द्रव्य हिंसा हो और न भाव हिंसा हो।

इन चारों विकल्पों से हिंसा और अहिंसा की पूर्णतया परख हो जाती है। जैसे थर्मामीटर से बुखार का पता लग जाता है, शरीर की गर्मी का नापतौल हो जाता है, वैसे ही इस चौभंगी से हिंसा की गर्मी का पता लग जाता है, अगर हिंसा का ज्वर तीव्रतर है, तब तो समझ लो द्रव्य हिंसा के साथ भाव हिंसा भी है, अगर हिंसा का ज्वर इतना तीव्र नहीं है तो अकेली भाव हिंसा है। इसी प्रकार हिंसा ज्वर के पाइंट से अगर नीचे की डिग्री पर है, यानी भाव हिंसा मिश्रित नहीं है तो केवल द्रव्य हिंसा है। और जिसमें हिंसा का ज्वर बिलकुल नहीं है, न द्रव्य हिंसा है, न भाव हिंसा है, वहाँ हिंसा बिलकुल निल है, पूर्ण अहिंसा है।

हाँ तो, पहला भंग है, जहाँ सिर्फ भाव हिंसा हो, द्रव्य हिंसा न हो।

एक व्यापारी था। उसकी इच्छा परदेश में व्यापार करके कुछ धन कमाने की थी। देश में व्यापार चलता नहीं था। जो भी व्यापार करता, उसमें घाटा लग जाता। एक दिन अपने साथ दो हजार की पूंजी लेकर घर से चल पड़ा। प्राचीनकाल में रेल-मोटरें थी नहीं, या तो पैदल चलना पड़ता था या बैलगाड़ी से। इतनी पूंजी अगर बैलगाड़ी से परदेश जाने में लगा देता तो व्यापार कहाँ से करता। अतः उसने पैदल ही चलने का निश्चय किया। लगभग चार महीने में वह बंगाल पहुँचा। वहाँ उसके प्रान्त का निवासी एक व्यापारी मिल गया। उससे इसने व्यापार धंधे के बारे में बातचीत की। वह बड़ा चालाक था। उसे किसी तरह से पता लग गया कि इसके पास दो हजार रुपये हैं। अतः विश्वास में लेने के लिए उसने रुपये के बारे में कुछ नहीं कहा। यही कहा—“जूट खरीद लो, कुछ अर्थराशि मैं तुम्हें देता हूँ, करो व्यापार।” कुछ ही दिनों में उस चालाक व्यापारी ने

इसका विश्वास जीत लिया। रात-दिन भाई की तरह वह साथ में रहता, धार्मिक क्रियाएँ करता, बाह्य बहिष्सा के पालन में कोई कोर-कसर नहीं रखता था। पर उसकी नीयत खराब थी। वह चाहता था कि किसी तरह इसे खत्म कर दिया जाए तो इसकी पूँजी मेरे हाथ में आए। एक बार वह बीमार पड़ा, इतने असाध्य रोग से ग्रस्त कि बचने की आशा न रही। यह चालाक व्यापारी डॉक्टर से दवा लेकर आया और चुपके से उसमें जहर की पुड़िया घोल कर लाया और इस बीमार व्यापारी को पीने को दी। इसने भगवान् का नाम लेकर वह दवा पी ली। संयोगवश वह पुड़िया, जो उस चालाक व्यापारी ने दवा में मिलाई थी, वह जहर की नहीं थी, वह इसी रोग की कोई पेटेंट दवा थी। इस कारण भाग्यवश वह व्यापारी निरोग हो गया। उसने अपने इस चालाक व्यापारी का बहुत आभार माना। चालाक व्यापारी ने देखा कि यह तो विष देने पर भी मरा नहीं, अतः उसके मन में तो बहुत अफसोस रहा, परन्तु बाहर से बहुत ही चिकनी-चुपड़ी बातें करने लगा।

इस कहानी में यद्यपि चालाक व्यापारी नये व्यापारी की किसी प्रकार की हिंसा नहीं कर सका, किन्तु भावों से वह हिंसा कर ही चुका था, हिंसा के लिए ही उसने जहर की पुड़िया समझ कर दवा में घोली थी। यह तो उस बेचारे रोगी व्यापारी का भाग्य था कि वह दवा मारक न होकर स्वास्थ्यकर सिद्ध हुई। स्थूल दृष्टि वाले लोग इस चालाक व्यापारी को भले ही दयालु, परोपकारी या जीवनदाता कहें, परन्तु ज्ञानी पुरुषों की दृष्टि में वह पूरा हिंसक है, उसके मन में हिंसा के संकल्प आए, तभी से भाव हिंसा हो गई और पापकर्म का बन्ध हो गया, द्रव्य हिंसा इस घटना में कतई नहीं हुई।

मगध की एक प्राचीन कथा है, काल सौकरिक की। सम्राट श्रेणिक को श्रमण भगवान् महावीर ने नरक गति निवारण के लिए चार उपाय बताये थे, उनमें से एक उपाय यह भी था कि राजगृह निवासी काल सौकरिक (कसाई) अगर एक दिन के लिए पशुबध सर्वथा बंद कर दे। सम्राट श्रेणिक ने शेष तीनों उपाय आजमा लिए और उनमें निष्फल हो गए, तब इस चौथे उपाय को आजमाना चाहा। उन्हें विश्वास था कि काल सौकरिक मेरे राज्य का नागरिक है, वह मेरी बात मान कर पशुबध बंद कर देगा। परन्तु काल सौकरिक से कहने पर वह तन गया—“यह तो मेरी मुख्य आजीविका है, न करूँ तो मैं और परिवार वाले सब भूखे मरेंगे।”

राजा ने उसे और धंधा देने, नकद रुपये सहायताथे देने तथा सारे परिवार के भरणपोषण करने का आश्वासन दिया। पर वह अपनी बात से टस से मस न हुआ। आखिर राजा ने उसे दण्डित करने की धमकी दी, फिर भी वह नहीं माना। तब राजा ने उसे तहखाने के एक कोठे में डाल देने की सजा दी, ताकि वहाँ न तो भैंसे होंगे, और न ही वह उनकी हत्या कर सकेगा। इस पर भी काल सौकरिक भयभीत न हुआ। अपनी ही बात पर अड़ा रहा। अतः राजपुरुषों ने राजाज्ञा के अनुसार उसे तहखाने के एक कोठे में डाल दिया और कहा—“यहीं पड़ा रह, या राजा की बात मान जा।” फिर भी राजा की बात कालसौकरिक ने नहीं मानी।

आखिर उसने अपनी जिद पूरी करने के लिए अपने शरीर पर जमे हुए मैल को पसीने के साथ मिला कर बट्टियाँ बनाईं और मन से कल्पना की—“यह भैंस काटा, यह मारा।”

बाहर से देखने वाले को तो कोई भैंसा कटा या मरा हुआ दिखाई नहीं दे रहा था। परन्तु काल सौकरिक ने तो अपनी ओर से दुर्विकल्प करके भैंसे मार ही दिये थे। यहाँ द्रव्य हिंसा बिल्कुल गायब थी, पर भाव हिंसा का ही एकमात्र साम्राज्य था, जिसने काल सौकरिक को पाप कर्मों के ढेर होने से नरकगति प्रदान की।

अब सुनिये, तन्दुलमच्छ की शास्त्रीय कथा। तन्दुलमच्छ पाँचों इन्द्रियों वाला जलचर मत्स्य है, उसका शरीर सिर्फ चावल के दाने जितना होता है, और वह महाकाय मत्स्य की भौंह या कान पर बैठा रहता है। जब भी कोई जलचर जन्तु उस महाकाय मत्स्य के सामने आता है और सरसराता हुआ चला जाता है, तब वह बैठा-बैठा सोचा करता है—“ओफ! यह मत्स्य कितना आलसी और बुद्धू है। इतने सारे जल जन्तुओं को वह यों ही जाने देता है। अगर मैं इसकी जगह होता तो एक को भी जाने नहीं देता, सबको निगल जाता!” परन्तु आश्चर्य यह है, कि यह हलचल उसकी मन की दुनिया में ही होती है, बाहर तो वह कुछ भी नहीं कर पाता, खून की एक बुँद भी नहीं बहा सकता, न किसी जलचर को निगल सकता है। किन्तु मन की इसी दुर्विकल्पों की परम्परा के कारण अन्तर्मुहूर्तभर की नन्ही-सी जिन्दगी में वह भयंकर भाव हिंसाजनित पापकर्म कर लेता है, जिसके फलस्वरूप मर कर वह सातवीं नरक की यात्रा करता है।

उपर्युक्त दृष्टान्तों के अनुसार अहिंसा के साधकों को इस भाव हिंसा के राक्षसी दुर्विकल्पों से, खासतौर से तन्दुलमत्स्य के-से दुश्चिन्तन से तो

अवश्य ही बचना चाहिए। ज्ञानी पुरुष कहते हैं—जब किसी भी प्राणी का जीवन-मरण तुम्हारे हाथ में नहीं है, तब व्यर्थ ही क्यों किसी को मारने का दुःसंकल्प करते हो ? अपनी जिन्दगी अहिंसा की शोतल छाया में व्यतीत करो।

अब आइए, दूसरे प्रकार के भंग या विकल्प पर। वह है—जिसमें द्रव्य हिंसा तो दृष्टिगोचर हो, पर भाव हिंसा बिलकुल न हो। अहिंसा का एक साधक अपने मन में आत्मौपम्य की भावना लेकर चल रहा है। वह अत्यन्त सावधानी से फूँक-फूँक कर कदम रखता है, किसी भी जीव को सताने, मारने या हानि पहुँचाने की उसकी कतई भावना नहीं है, न उसके मन के किसी कोने में चलते-फिरते, उठते-बैठते, सोते, खाते-पीते, यानी प्रत्येक प्रवृत्ति करते हुए किसी भी प्राणी के प्रति द्वेष, क्रोध, अभिमान, ईर्ष्या, छल, घृणा, लोभ या स्वार्थ रूप हिंसा की वृत्ति है, फिर भी जब तक शरीर है, तब तक शरीर का निर्वाह करने या शरीर से संयम यात्रा करने या धर्म पालन करने के लिए हलचल करते समय किसी न किसी सूक्ष्म जीव की हिंसा हो ही जाती है। वह अनिवार्य है। एक पलक झपकाने में असंख्य जीव मर जाते हैं। जब तक आत्मा और शरीर परस्पर सम्बद्ध हैं, तब तक तेरहवें गुणस्थान तक भी अंशतः हिंसा होती रहती है। जैन सिद्धान्त के अनुसार केवलज्ञानियों (वीतरागों) से भी काययोग की प्रवृत्ति के कारण कभी-कभी पंचेन्द्रिय जीवों तक की हिंसा हो जाती है, परन्तु इस प्रकार की हिंसा करने की उनकी भावना जरा भी नहीं होती, इसलिए साम्प्रदायिकी क्रिया (जो कषायों के कारण होती है) उन्हें जरा भी नहीं लगती, उन्हें सिर्फ ऐर्यापथिकी क्रिया लगती है।

मतलब यह है कि केवलज्ञानियों से भी हिंसा हो जाती है, वे हिंसा करते नहीं। केवलज्ञानी कहीं विहार (पदयात्रा) कर रहे हैं, रास्ते में नदी आ गई। मान लो, नदी में पानी कम है, नदी पर वर्तमान युग की तरह कोई पुल नहीं बना हुआ है, ऐसी हालत में वे शास्त्रीय विधि के अनुसार पैदल चलकर उस नदी को पार करेंगे। अगर जल अधिक हुआ तो नौका में बैठकर पार करेंगे, परन्तु चाहे वे पैदल नदी पार करें या नौका से, जीर्वाहिंसा से बचना तो सर्वथा असम्भव है। जलकायिक जीवों के अलावा जलाश्रित रहने वाले पंचेन्द्रिय जल जन्तु उस हरकत से मर भी सकते हैं। शास्त्र पुकार-पुकार कर कहते हैं कि ऐसे उच्च साधक को, जो साधना की पराकाष्ठा पर

पहुँचा हुआ है, शरीर के निमित्त होने वाली हलचलों के कारण जो जीव-हिंसा हुई है, उससे सातावेदनीय कर्म—पुण्य का ही बंध होता है। पापकर्म का बन्ध नहीं। ओधनिर्युक्ति में आचार्य शिरोमणि भद्रबाहु स्वामी ने इस सम्बन्ध में सुन्दर सैद्धान्तिक निर्णय दिया है—

उच्चालिअम्मि पाए, इरियासमिअस्स संकमट्टाए ।  
 वावज्जेज्ज कुलिगी, मरेज्ज तं जोगमासज्ज ॥७४८॥  
 न य तस्स तन्निमित्तो बंधो सुहुमो वि वेसियो समए ।  
 अणवज्जो उवओणेणं, सव्वभावेण सो जम्हा ॥७४९॥

एक उच्च साधक ईर्यासमिति से युक्त है, वह जब कहीं विहार करने (चलने) के लिए अपने पैर उठाता है, पुनः जमीन पर रखता है, इसमें काय योग के निमित्त से कोई त्रस जीव दबकर मर भी जाता है, मगर उसे उस निमित्त से तनिक-सा बन्ध भी सिद्धांत में निर्दिष्ट नहीं है। क्योंकि वह उच्च साधक सर्वथा उपयोगपूर्वक निरवद्य (मन में सावद्य विकल्प से रहित) होकर गमन क्रिया में प्रवृत्त होता है; इसलिए निष्पाय है।

आशय यह है कि जहाँ कषाय, प्रमाद एवं दुष्प्रयुक्त मन-वचन-काया हैं, वहीं हिंसा होती है। जिसके अन्तर्मन में क्रोध, मान, माया, लोभ, ईर्ष्या, राग-द्वेष न हो, सावधानी पूर्वक यत्नाचार से प्रवृत्ति करता हो और मन-वचन-काया में कोई दुष्ट संकल्प, वचन या चेष्टा न हो, वहाँ हिंसा नहीं होती। हिंसा का लक्षण—‘प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा’—यानी प्रमाद-पूर्वक मन-वचन-काया के दुष्टयोगों से रागद्वेष-कषाय की वृत्ति से किसी के द्रव्य-भाव-रूप प्राणों का नाश करना हिंसा है।<sup>१</sup> तात्पर्य यह है कि हिंसा का मूलाधार कषाय, रागद्वेषादि से युक्त संकल्प एवं प्रमाद है। अतः जो साधक कषायादि से रहित संकल्प लेकर यतनापूर्वक प्रवृत्ति करता है, उसके शरीर से हिंसा हो जाती है, वह वास्तव में हिंसा ही नहीं है,<sup>२</sup> नाममात्र की हिंसा है, जिसे द्रव्यहिंसा कहते हैं। किसी के द्वारा किसी जीव का मर जाना ही हिंसा नहीं है।

१ यत्खलु कषाययोगात्प्राणानां द्रव्यभावरूपाणाम् ।  
 व्यपरोपणस्य करणं, सुनिश्चिता भवति सा हिंसा ॥

—पुरुषार्थसिद्धयुपाय ४२

२ युक्ताचरणस्य सतो रागाद्यावेशमन्तरेणाऽपि ।  
 नहि भवति जातु हिंसा, प्राणव्यपरोपणादेव ॥

—पुरुषार्थ ० ४५

केवल श्वेताम्बर परम्परा ही नहीं, दिग्म्बर परम्परा में भी समय-सार में इसी सिद्धांत का समर्थन मिलता है ।

जदं तु चरमाणस्स, दयापेहस्स भिक्खुणो ।  
णवं ण बज्जदे कम्मं योराणं च विधूयदि ॥

जो भिक्षु यतनापूर्वक चल रहा है, जिसके चित्त में प्राणिमात्र के प्रति दया का झरना बह रहा है वह चलता हुआ भी नवीन कर्मों का बंध नहीं करता; इतना ही नहीं, पहले बंधे हुए कर्मों की निर्जरा भी करता है । क्योंकि यतनाशील साधक के हृदय के कण-कण में भाव विशुद्धि होती है । इस कारण बाहर में हिंसा होते हुए भी कर्मबन्ध नहीं होता प्रत्युत कर्मनिर्जरा का ही फल होता है । भावहिंसा से शून्य केवल द्रव्यहिंसा को भलीभांति समझने के लिए एक व्यावहारिक दृष्टान्त लीजिए ।

एक बहुत प्रसिद्ध चिकित्सक है । वह चीरफाड़ (ऑपरेशन) करने में बहुत माहिर है । दूर-दूर से रोगी आकर उससे चिकित्सा कराते हैं । एक ऐसा रोगी आया जिसके पेट में फोड़ा था । कई वैद्यों, हकीमों और डाक्टरों की दवा ले चुका था, फिर भी रोग ठीक नहीं हुआ । आखिर निराश होकर वह इस चिकित्सक की शरण में आता है । चिकित्सक रोग का गहराई से अध्ययन करता है, सारा इतिहास पूछता है, आखिर अपना निर्णय रोगी को सुना देता है कि “इस रोग का ऑपरेशन करना पड़ेगा, ऑपरेशन बड़ा खतरनाक है । भगवान् की कृपा हुई तो उससे तुम्हारा रोग ठीक हो जाएगा ।” रोगी ऑपरेशन का खतरा उठाने के लिए तैयार हो जाता है । वह लिखितरूप से भी चिकित्सक को अपनी सम्मति दे देता है । चिकित्सक आपरेशन टेबल पर रोगी को लिटा कर आपरेशन शुरू करता है । चिकित्सक के दयालु हृदय में रोगी के स्वस्थ होने की मंगलकामना है, उसकी जिन्दगी बचाने के लिए प्रयत्न है । बहुत ही सावधानी से ईमानदारी पूर्वक वह शल्य क्रिया करता है । किन्तु ऑपरेशन करते-करते अचानक एक नस कट जाती है, जिससे खून का फव्वारा छूटता है । चिकित्सक कर्णार्द्र होकर हरसम्भव प्रयत्न करता है, रक्त प्रवाह को रोकने के लिए । लेकिन उसके सभी उपाय विफल हो जाते हैं, रोगी वहीं दम तोड़ देता है ।

अब बताइए कि उक्त चिकित्सक को क्या फल हुआ ? क्या वह हिंसा के पाप का भागी होगा या दयाभाव से प्रेरित होने के कारण पुण्यबन्ध का ? स्थूल दृष्टि वाले लोग तो यही कहेंगे—“चिकित्सक के हाथ से बीमार की

मौत हुई है। वह ऑपरेशन न करता तो रोगी क्यों मरता? सम्भव है, रोगी के रिश्तेदार भी उक्त चिकित्सक को भला बुरा कहें; मूर्ख, अनाड़ी या लापरवाह कहें। सारे शहर में उसकी बदनामी होने से शायद उसकी प्रेक्टिस को भी धक्का पहुँचे। यह सब तो बाह्य दृष्टि से देखने वालों की बातें हैं। शास्त्रकार की दृष्टि तो बड़ी पैनी है, वह तो सिद्धान्त के काँटे में तौल-तौल कर निर्णय देता है। शास्त्रकार की दृष्टि में चिकित्सक हिंसा के दोष का भागी नहीं है। उसने बिलकुल सावधानी के साथ, ईमानदारीपूर्वक हृदय में रोगी के प्रति करुणाभाव रख कर शल्य चिकित्सा की है। ऐसी स्थिति में बीमार को चिकित्सक ने कतई मारा नहीं है, वह स्वतः अपनी मौत से मरा है। यह बात दूसरी है कि चिकित्सक उसमें निमित्त बन गया है। परन्तु इस घटना में द्रव्यहिंसा हुई है, ऐसा कहा जा सकता है; भावहिंसा कतई नहीं हुई। अतः चिकित्सक पुण्य का भागी जरूर हुआ है, पाप का भागी कतई नहीं। क्योंकि पुण्य-पाप का सम्बन्ध तो कर्ता के भावों पर निर्भर है, कोरी क्रिया से उनका कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है।

हिंसा और अहिंसा का निर्णय करने में लोकदृष्टि काम नहीं आती, वहाँ सिद्धान्तदृष्टि ही वास्तविक निर्णायक माननी चाहिए। लोकदृष्टि से तो प्रथम विकल्प में बाहर से हिंसक प्रतीत न होते हुए हिंसक है, और दूसरे विकल्प में बाहर से हिंसक प्रतीत होते हुए भी अहिंसक है।

इन दोनों भंगों की तुलना करके देखेंगे तो आपको बहुत आश्चर्य होगा। पहले भंग में केवल भावहिंसा है और दूसरे में केवल द्रव्यहिंसा। दोनों में रात-दिन का अन्तर है। वह अन्तर केवल परिणाम और प्रयोग का है।

अब आप तीसरे भंग (विकल्प) को पकड़िए। तीसरा भंग है—जहाँ भावहिंसा भी हो, द्रव्यहिंसा भी। इस विकल्प में दोहरी हिंसा समाई हुई है। अन्तर्मन में किसी को मारने, सताने, दुःख या हानि पहुँचे का दुर्विकल्प भी आ गया और उसके अनुसार मारने, सताने, दुःख या हानि पहुँचाने आदि की क्रिया भी कर ली। इस विकल्प के तो अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं।

अमेरिका ने जापान को दबाने और अपने अधीन करने का दुर्विकल्प किया और साथ ही इसके लिए उपाय के रूप में अणुबम का प्रयोग करने का विचार भी किया। यह हुई भावहिंसा और तदनुसार उस दुर्विकल्प को



सक्रिय रूप देने के लिए द्रव्यहिंसा यह हुई कि हीरोशिमा और नाकासाकी इन दो शहरों पर अणुबम बरसा कर दोनों शहरों को तहस-नहस कर दिया, लाखों प्राणियों को मौत के घाट उतार दिया। जो बच रहे, वे भी अंग-विकल, बीमार, मृत्यु और जीवन के बीच में झूलते रहे। मनुष्य का किया हुआ सारा परिश्रम, सारे जुटाए हुए साधन मिट्टी में मिला दिये। यह द्रव्य-हिंसा के साथ भावहिंसा थी।

शास्त्रीय उदाहरण चाहें तो कोणिक सम्राट् का लीजिए। लोभवश हार और हाथी को हल्ल-विहल्लकुमार से हथियाने के लिए कोणिक ने प्रयत्न किया। सत्ता के जोर से धमकी देकर उनसे हार, हाथी माँगा लेकिन हार और हाथी दोनों उन्हें न्यायप्राप्त वस्तुएँ थीं, वे उनके अधिकार की थीं, नहीं दीं और मातामह चेटक महाराजा की शरण में चले गये। नाना चेटक-राज ने कोणिक को बहुत समझाने की कोशिश की, लेकिन कोणिक उलटा नाना के खिलाफ बोलने लगा। नाना को भी उसने धमकी दे दी कि या तो हल्ल-विहल्लकुमार से हार और हाथी दिला दो, या फिर हम युद्ध करके ले लेंगे। महाराजा चेटक ने हल्ल-विहल्ल का पक्ष न्याययुक्त देखकर वही निर्णय लिया। जिसके फलस्वरूप कोणिक ने युद्ध छेड़ दिया। उस युद्ध में १ करोड़ ५० लाख मनुष्यों का संहार हुआ। यह हुई भावहिंसा के साथ भयंकर द्रव्यहिंसा।

अब चौथा विकल्प रहा। वह इस प्रकार है -- न तो भावहिंसा हो और न ही द्रव्यहिंसा हो। यह चौथा भंग हिंसा की दृष्टि से शून्य है, यानी पूर्ण अहिंसा की स्थिति है। इसमें हिंसा को किसी भी रूप में अवकाश नहीं है। ऐसी स्थिति १४वें गुणस्थानवर्ती अयोगी केवली की होती है, या मुक्ति में होती है। वहाँ न तो हिंसा की वृत्ति है और न ही हिंसा का कृत्य है। अहिंसा का यह सर्वोच्च आदर्श है।

### हिंसा-अहिंसा

कई बार साधारण जन हिंसा के साधनों को लेकर अनुमान लगा लेते हैं कि यह हिंसक है या हिंसा ज्यादा हो रही है। परन्तु जैन सिद्धान्त की दृष्टि से एक बात निश्चित है कि हिंसा चाहे सूक्ष्म<sup>१</sup> हो या स्थूल, वह

१ सूक्ष्मा न खलु हिंसा परवस्तुनिबन्धना भवति पुंसः।

हिंसायतन निवृत्तिः परिणामविशुद्धये तदपि कार्या ॥ --पुरुषार्थ० ४६

पर-वस्तु-आश्रित नहीं होती। वह जब भी होगी आत्मा के आश्रित होगी। क्योंकि यदि आप कहेंगे, तलवार, लाठी, चाकू आदि से हिंसा होती है, तो यह बात सिद्धान्त की दृष्टि से यथार्थ नहीं है। तलवार अपने आप में न कोई हिंसा करती है, न अहिंसा ही। तलवार आदि ये सब चीजें जड़ हैं। तलवार शस्त्र है तो कलम भी कम नहीं है। कलम से भी गलत लिखने पर वह भी शस्त्र का काम करती है, उससे भी बड़ी-बड़ी लड़ाइयाँ होती हैं, हुई हैं। इसलिए ये कोई भी उपकरण कुछ करते हैं तो प्रयोगकर्ता द्वारा ही करते या किये जाते हैं। शरीर और इसके अंगोपांग भी अपने आप में न हिंसा करते हैं, न अहिंसा ही। तन, वचन और मन प्रयोग करने वाले आत्मा पर निर्भर है। इसलिए हिंसा आत्मा के दुष्परिणामों से होती है। क्योंकि हिंसा का मूल स्थान या मूलाधार रागादि दुष्परिणाम हैं। इसलिए अहिंसा के साधक को परिणामों की शुद्धि की लिए प्रयत्न करना चाहिए। तभी वह भार्वाहिंसा से छुटकारा पा सकेगा। आत्मा में दुष्परिणामों के आने पर वही हिंसा करती है। आचार्य भद्रबाहु ने इसी को स्पष्ट किया है—<sup>१</sup>आत्मा अगर विवेकी है, सजग है, सावधान है, अप्रमत्त है तो वही अहिंसक है और आत्मा अगर अविवेकी, अजागृत, असावधान एवं प्रमादयुक्त है, तो वह हिंसक है।

**हिंसा से अविरत हिंसक या अहिंसक ?**

एक प्रश्न कई लोगों के दिमाग में चक्कर काटता रहता है, वह यह है कि हिंसा तो जीवन के हर मोड़, हर प्रवृत्ति एवं हर श्वास में लगती ही रहती है, फिर इससे विरत होने या अहिंसाव्रत लेने की क्या तुक है ? क्यों न बिना व्रत लिए ऐसे ही अहिंसा का जितना पालन किया जाय, पालन करें ? इसके उत्तर में जैन दर्शन कहता है कि <sup>२</sup>जो ऐसा सोचकर हिंसा से विरत नहीं होता है व्रत-ग्रहण नहीं करता है, वह व्यक्ति हिंसा करे, चाहे न करे, प्रमत्त होने के कारण हिंसा का भागी होता रहता है। इसी प्रकार हिंसा का परिणाम (भाव) करना भी हिंसा है, चाहे बाह्य हिंसा हो चाहे न हो। क्योंकि दोनों जगह मन-वचन-काया खुले रहते हैं, प्रमत्त रहते हैं। और

- १ आया चेव अहिंसा, आया हिंसति निच्छओ एसो ।  
जो होइ अप्पमत्तो, अहिंसओ हिंसओ इयरो ॥
- २ हिंसायामावरभणं हिंसा, परिणमनमपि भवति हिंसा ।  
तस्मात् प्रमत्तयोगे, प्राण-व्यपरोपणं नित्यम् ॥

हिंसा का लक्षण भी यही है। जो हिंसा से विरत होकर व्रतबद्ध हो जाता है, वह अपने मन-वचन-काया का प्रयोग यतना एवं सावधानी से करता है।

अगर यह सिद्धान्त नहीं माना जाएगा तो एक चींटी है, वह कोई युद्ध नहीं लड़ती, न किसी को सताने का सोच सकती है और न ही मारने की। ऐसी दशा में क्या वह अहिंसक मानी जाएगी? कदापि नहीं। इसी प्रकार एक अबोध बालक है, अथवा बैल, कुत्ता, बिल्ली आदि जानवर हैं, वे सोच नहीं सकते कि क्या हिंसा है, क्या अहिंसा है? न वह इतनी हिंसा ही करता है, न हिंसा के परिणाम उनमें आते हैं, न अहिंसा के, ऐसी स्थिति में ये अहिंसाव्रती नहीं कहे जा सकते, क्योंकि समझबूझकर हिंसात्याग करने का संकल्प नहीं लिया या व्रत ग्रहण की प्रतिज्ञा भी नहीं ली। ऐसी दशा में अप्रमत्तयोग कहाँ रहेंगे? जब अप्रमत्तयोग नहीं रहेंगे तो हिंसा अवश्यमेव होती रहेगी? क्योंकि जहाँ प्रमत्तयोग होगा, वहाँ हिंसा होगी।

करे कौन, भरे कौन ?

कई बार ऐसा होता है कि एक व्यक्ति स्वयं बाहर से हिंसा करता हुआ दिखाई नहीं देता, किन्तु सारा हिंसा का संचालन या हिंसा का दुःसंकल्प अथवा हिंसा की सारी प्रेरणा वह व्यक्ति करता है, वहाँ हिंसा का फल बाहर से हिंसा न करने वाले, किन्तु अन्दर से मन-वचन से हिंसा की प्रेरणा करने वाले को मिलता है।

उदाहरण के तौर पर एक राजा है, वह युद्ध में स्वयं लड़ने नहीं जाता, वह सेनापति और सेना को लड़ने भेजता है। ऐसी स्थिति के हिंसा का सारा संकल्प राजा करता है, युद्ध की योजना भी वही बनाता है, युद्ध में सेना को शौकता है। अतः बाह्यहिंसा (द्रव्यहिंसा) न करते हुए भी भाव-हिंसा तथा द्रव्यहिंसा कराने के फल का भागी बनता है।

हिंसा करता हुआ भी हिंसाफल भागी नहीं

दूसरी ओर एक व्यक्ति बाह्यहिंसा करता प्रतीत होता है, फिर भी हिंसा के फल का भागी नहीं होता।<sup>१</sup> इसका कारण यह है कि उसके निमित्त से द्रव्यहिंसा होती है। क्योंकि उसकी प्रवृत्ति के पीछे राग, द्वेष, कषाय,

१ अविधायान्पि हिंसां, हिंसाफलभाजनं भवत्येकः।

कृत्वाऽप्यपरो हिंसा, हिंसाफलभाजनं न स्यात् ॥ —पुरुषार्थः. ५१

प्रमाद या अशुभयोग नहीं है, हिंसा का दुःसंकल्प नहीं है, इस कारण भाव-हिंसा नहीं होती। और भावहिंसा ही वास्तविक हिंसा है। भावहिंसा ही पापकर्मबन्ध का कारण होती है, द्रव्यहिंसा नहीं। अतः हिंसादोष का भागी न होने के कारण वह व्यक्ति हिंसा का फलभागी नहीं होता।

**अल्पहिंसा : महाफल; महाहिंसा : अल्पफल**

कई बार यह देखा जाता है कि किसी ने एक ही प्राणी की हिंसा की, किन्तु वही हिंसा बहुत अधिक दुःखद फलदायिनी बनती है; जबकि दूसरी ओर इससे विपरीत स्थिति देखी जाती है। वह हिंसा तो अनेक प्राणियों की करता है, किन्तु फल उसका इतना अधिक दुःखद नहीं मिलता, स्वल्पफल मिलता है।

**हिंस्य और हिंसक का वर्गीकरण**

इस संसार में असंख्य प्रकार के जीव हैं और वे असंख्य प्रकार के जीव भी अगणित हैं। उनमें कोई एकेन्द्रिय है, कोई द्वीन्द्रिय है, कोई त्रीन्द्रिय है, कोई चतुरिन्द्रिय और कोई पचेन्द्रिय है। इसके अतिरिक्त कोई हाथी, गेंडे, महाकाय मत्स्य, ऊँट जैसे स्थूल शरीर वाले प्राणी हैं, तो कोई कुन्धुआ, चींटी आदि जैसे छोटे शरीर वाले हैं। वनस्पतिकायिक जीवों में निगोद के जीव सूई की नोक पर आए उतने छोटे-से खण्ड में अनन्त-अनन्त रहते हैं।

यह जो जीवों का वर्गीकरण किया गया है, वह इस दृष्टि से कि अहिंसा का साधक पहले यह जान ले कि संसार में कितनी किस्म के जीव हैं, जिनकी हिंसा से मुझे बचना है। अर्थात् हिंस्य जीवों की पहिचान हो जाय तो उनकी हिंसा से अहिंसक अपने आपको बचा सकता है, सावधान रह सकता है।

यह भी समझ लेना आवश्यक है कि एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के जीवों का यह वर्गीकरण जीवों के शरीर की रचना, उनकी चेतना के विकास तथा सुख-दुःख-संवेदना की न्यूनाधिकता के आधार पर किया गया है। जीवों में ज्यों-ज्यों इन्द्रियों और प्राणों की वृद्धि होती जाती है त्यों-त्यों उत्तरोत्तर चेतना का विकास तथा सुख-दुःख संवेदन भी अधिकाधिक होता चला जाता है।

१ एकस्याल्पा हिंसा, ददाति काले फलनल्पम् ।  
अन्यस्य महाहिंसा, स्वल्पफला भवति परिपाके ॥

—पुरुषार्थ० ५२

यह तो हुई उन जीवों की बात, जिन्हें हिंस्य (हिंसा की जाती है, वे) कहा जाता है। परन्तु हिंसाकर्ता, जो कि हिंसा करते हैं, वे भी एक सरीखे नहीं होते। मतलब यह है कि किसी हिंसाकर्ता के मन में क्रोध, अहंकार, द्वेष, स्वार्थ, लोभ आदि के रूप में हिंसा की भावना बहुत तीव्र होती है, द्वेषादि की वृत्ति प्रबल होती है जबकि किसी की मध्यम होती है और किसी की मन्द होती है। कोरी द्रव्य हिंसा के समय किसी की कषायादिरूप हिंसा की वृत्ति होती ही नहीं है। यों हिंस्य और हिंसक की अनेक भूमिकाएँ हैं, इन दोनों के योग से ही हिंसा निष्पन्न होती है।

**सभी हिंसा एक समान नहीं**

ऐसी स्थिति में प्रश्न होता है—क्या ये सब हिंसाएँ एक सरीखी होती हैं, एक ही श्रेणी की मानी जाती हैं, या इनमें कुछ अन्तर भी है। अगर एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के जीवों की होने वाली समस्त हिंसाएँ एक ही कोटि की मानते हैं, तब तो साग-सब्जी के खाने और मांस के खाने में हिंसा का कोई तारतम्य नहीं होना चाहिए। जितना सब्जी के खाने में हिंसा का पाप लगता है, उतना ही मांस खाने में लगना चाहिए। किन्तु व्यवहार में ऐसा नहीं माना जाता, कोई हिंसा बड़ी मानी जाती है, कोई छोटी। तब सवाल यह है कि हिंसा में इस प्रकार के बड़े-छोटेपन का आधार क्या है? किन बाँटों से हिंसा की कमोबेशी तौली जाती है? कौन-से गज से नापना चाहिए? मरने वाले जीवों की गिनती के आधार पर हिंसा की कमो-बेशी को नापते हैं अथवा हिंसक की हिंसामयी मनोवृत्ति की तीव्रता-मन्दता के आधार पर हिंसा की न्यूनाधिकता नापते हैं? आखिर वह माप-दण्ड कौन-सा है; जिससे हिंसा की न्यूनाधिकता को आप नाप सकें?

कुछ लोगों और खासकर राजस्थान के एक पंथ का मानना यह है कि जीव-जीव सब समान हैं, फिर चाहे एकेन्द्रिय पृथ्वीकाय से लेकर वन-स्पतिकाय तक हों, चाहे द्वीन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक में से कोई भी जीव हो, सबकी आत्मा एक-सी है। इसलिए उनको हिंसा भी एक-सरीखी है। किसी प्राणी की जिन्दगी का मूल्य कम क्यों आँका जाय? एकेन्द्रिय की हिंसा भी हिंसा है और पंचेन्द्रिय की हिंसा भी। जब दोनों प्रकार की हिंसाएँ हिंसा की दृष्टि से एक समान हैं, तब एक की हिंसा को कम और दूसरे की हिंसा को ज्यादा क्यों माना जाय? सभी हिंसाएँ एक बराबर मानी जानी चाहिए? 'सर्वजीव समान' सिद्धान्त वालों के सामने प्रश्न यह है कि जब

सभी जीव समान हैं, तो उनकी हिंसा भी समान होनी चाहिए, किसी की हिंसा कम और किसी की अधिक कैसे हो सकती है ? फिर कोई जीव कम हिंसक और कोई अधिक हिंसक कैसे माना जा सकता है ? यदि माना जाए तो कारण क्या है उसका ? इसी नये सिद्धान्त के आविष्कार के अनुसार यह हल निकाला गया कि जहाँ जीव ज्यादा मरेंगे, वहाँ ज्यादा हिंसा होगी, जहाँ कम मरेंगे, वहाँ कम होगी। मतलब यह है कि जीवों को गिन-गिन कर हिंसा को न्यूनाधिकता का हिसाब लगाया जाना चाहिए।

**हिंसा का नाप-तौल : भावों से या संख्या से**

परन्तु मरने वाले जीवों की गिनती से हिंसा के नाप-तौल का यह सिद्धान्त जैन सिद्धान्त से मेल नहीं खाता। जैन सिद्धान्त तो जैसा कि भाव-हिंसा के प्रसंग में मैंने कहा था, भावों की गिनती करता है, वह भावों को तौलता है। वह संख्या के गज से जीवहिंसा को नहीं नापता।

मैंने एक ईसाई पादरी को यह कहते सुना था कि हिन्दू लोगों से तो हम ज्यादा दयालु और अहिंसक हैं। हिन्दुओं के धर्मशास्त्रों के अनुसार गेहूँ आदि पदार्थों में बहुत जीव है। और जब गेहूँ को खेती की जाती है, तब मिट्टी, पानी के और न जाने कितने ही अन्य हजारों जीवों की हिंसा की जाती है, तब कहीं ये हिन्दू अपना पेट भर पाते हैं। हम ईसाई लोग सिर्फ एक बकरे को मारते हैं, उससे एक से भी अधिक व्यक्तियों का पेट भर जाता है। इसलिए हम बहुत कम हिंसा से अपना पेट भर लेते हैं और ये हजारों जीवों की हिंसा करके पेट भरते हैं।

यहाँ भी वही मरने वाले जीवों की गिनती के आधार पर हिंसा की नाप-तौल करने वाला सिद्धान्त आ गया। यहाँ वे 'सर्वजीव समान' और 'सर्व जीव-हिंसा समान' के सिद्धान्त वाले क्या उत्तर देंगे ? यदि वे ईसाइयों की उक्त दलील को मानते हैं तो उनकी बात जैन सिद्धान्त के विरुद्ध सिद्ध होती है। क्योंकि भगवान् महावीर ने सूत्रकृतांग सूत्र में हस्तितापसों की मान्यता को गलत बताया है, जो सभी जीवों की हिंसा को समान मानकर चलते थे। वे जंगलों में अनेक तापस मिलकर रहते थे। कई तापस घोर तपस्या करते थे और कठिन व्रतों का पालन करते थे। जब पारणे का दिन आता तो वे सोचते—यदि जंगल के कंदमूल और फल खाएँगे तो असंख्य और अनन्त जीव मरेंगे, अन्न खाएँगे तो भी अनेक जीवों की हिंसा होगी, सेर-दो सेर

अनाज खाने में असंख्य जीवों का संहार हो जाएगा, इसलिए अच्छा तो यही है कि हम जंगल में ही किसी हाथी जैसे स्थूलकाय एक जीव को मार लें, जिसे हम भी खाएँ और दूसरों को भी खिलाएँ। ऐसा करने से सिर्फ एक जीव की हिंसा होगी, हिंसा की मात्रा भी कम होगी और यह आहार कई दिनों तक चल सकेगा। इस प्रकार सुविधानुसार कई दिन तक वे उसे खाते रहते थे।

मैं आपसे पूछता हूँ, क्या हस्तितापसों का ऐसा विचार सही था? आप कहेंगे कि नहीं, यह तो बिलकुल अटपटा सिद्धान्त है, किसी भी तरह गले ही नहीं उतरता यह! सचमुच यह सिद्धान्त गलत था इसीलिए भगवान महावीर ने हस्तितापसों की इस मान्यता को गलत बताया है। कदापि ऐसा मत समझो कि वनस्पति में जीवों की संख्या अधिक है तो हिंसा अधिक होगी और हाथी या बकरे जैसे एक जीव को मार कर खाया तो उससे हिंसा कम होती है।

हिंसा की न्यूनाधिकता का आधार हिंस्य जीवों के शरीर, प्राण और चेतना का विकास तथा हिंसाकर्ता की तीव्र, मध्यम, मन्द भावना है। जिस-जिस जीव में शरीर की रचना, प्राण और चैतन्य के विकास की मात्रा जितनी-जितनी अधिक होती है, हिंसक के भावों में तीव्रता, तीव्रतरता प्रायः उत्तरोत्तर अधिक होती जाती है, इसलिए उसी हिसाब से हिंसा की मात्रा उत्तरोत्तर अधिक मानी जाएगी।

क्या एकेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय की चेतना और सुख-दुःख का संवेदन समान है? जैनशास्त्र ही नहीं, वैदिक धर्मग्रन्थ भी इस बात को स्वीकार करते हैं कि गेहूँ आदि अनाज या वनस्पति आदि एकेन्द्रिय जीव व्यक्त चेतना वाले जीव हैं; और बकरा, हाथी आदि स्पष्टतः पंचेन्द्रिय और व्यक्त चेतना वाले जीव हैं। गेहूँ आदि पैदा करने वाले की नीयत किसी जीव को मारने की नहीं होती, स्वयं आयुष्य पूर्ण होने से मर जाय, यह बात दूसरी है। गेहूँ पीसने वाले या वनस्पति के खाने वाले के परिणाम क्रूर, तीव्र तथा घातक नहीं होते। उस समय मन में उग्र घृणा और द्वेषभाव नहीं पैदा होते,

१ बहुसत्त्वघातजनिताद्, वरमेकं सत्त्वघातोत्थम् ।

इत्याकल्प्य कार्यं, न महासत्त्वस्य हिंसनं जातु ॥

—पुरुषार्थसिद्ध्युपाय ४२

क्रूरता और निर्दयता की आग नहीं जलती; तथा गेहूँ आदि अनाज तो दूसरी खुराक न होने से विवश होकर प्राणी प्राणरक्षा के लिए खाते हैं, जबकि बकरे आदि का मांस खाने वाले लोग अन्य सात्त्विक आहार होते हुए भी स्वादलोलुपता या परम्परागत रूढ़िवश अस्वाभाविक रूप से हिंसा कर डालते हैं। फिर बकरा, हाथी आदि कोई भी पंचेन्द्रिय जीव मारा जाता है, उस समय अन्तःकरण की स्थिति दूसरे प्रकार की हो जाती है। पंचेन्द्रिय जीव विकसित चेतना वाला प्राणी होता है, जिसकी चेतना का विकास जितना अधिक होता है, उसे उतने ही अधिक दुःख का संवेदन होता है। चेतना के अधिक विकास के अलावा उसमें प्राण भी अधिक होते हैं, शरीर की बनावट भी अधिक बड़ी होती है। इन्द्रियाँ भी अधिक और विकासशील होती हैं। वह हलचल करने वाला विशालकाय प्राणी है। जब उसे मारा जाता है तो घेरा जाता है, उसके मन में भी प्रतिक्रिया जागती है, वह अपनी आत्मरक्षा के लिए या तो प्रत्याक्रमण करता है या फिर भागने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार जब अन्तःकरण के भावों में तीव्रता होती है, क्रूरता, निर्दयता अधिक होती है, तभी उसकी हिंसा की जाती है। अतः यह सिद्ध है कि पंचेन्द्रिय जीव की हिंसा तीव्र और क्रूर परिणामों के बिना नहीं हो सकती। इसीलिए उसकी हिंसा बड़ी हिंसा कहलाती है। वह अधिक पाप-कर्मबन्ध का कारण बनती है और इसी कारण औपपातिक एवं भगवती सूत्र में नरकगमन के कारणों में एक कारण पंचेन्द्रिय वध बतलाया है। एकेन्द्रिय वध को नरक का कारण कहीं बताया। अतः थोड़े-से पंचेन्द्रिय जीवों की हिंसा अत्यन्त उग्र नरकगमन फलदायिनी होती है, जबकि अनेक स्थावर जीवों की हिंसा स्वल्पफलदायिनी होती है।<sup>१</sup>

निष्कर्ष यह है कि एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय जीव तक की हिंसा में परिणाम एक सरीखे नहीं रहते, अतः उनकी हिंसा भी एकसरीखी नहीं मानी जा सकती। ज्यों-ज्यों भावों में तीव्रता बढ़ती जाती है, प्राण, चेतना और सुख दुःख संवेदन का विकास भी ज्यों-ज्यों बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों हिंसा की तीव्रता में भी वृद्धि होती है। एकेन्द्रिय जीव की अपेक्षा द्वीन्द्रिय जीव की हिंसा में परिणाम अधिक उग्र होंगे, इसलिए हिंसा की मात्रा भी

१ एकस्याल्पा हिंसा, ददाति काले फलमनल्पम्।

अन्यस्य महार्हिंसा, स्वल्पफला भवति परिपाके ॥ —पुरुषार्थ. ५२



ज्यादा होगी। इस क्रम के अनुसार द्वीन्द्रिय से त्रीन्द्रिय में अधिक, त्रीन्द्रिय से चतुरिन्द्रिय में और चतुरिन्द्रिय से पंचेन्द्रिय जीवों में हिंसा अधिक मानी जाती है; और पंचेन्द्रिय जीवों में भी दूसरे प्राणियों की अपेक्षा मनुष्य को मारने में और मनुष्यों में भी शासक को और शासक के बजाय एक महाव्रती साधु को मारने में उत्तरोत्तर अधिक हिंसा होती है।

अगर ऐसा नहीं माना जाएगा तो इस प्रकार 'सर्वजीवहिंसा समान' मान्यता के अनुसार जल का एक गिलास पीने में और मनुष्य का रक्त पीने में कोई भेद नहीं होना चाहिए! क्योंकि दोनों ही प्रासुक रूप से उपलब्ध हो सकते हैं। हस्तितापसों के मत को मानने वाला साधु अगर सब जीवों की हिंसा को बराबर मानकर चलता है तो उसे आहार सम्बन्धी नियमानुसार गृहस्थ के द्वारा दी जाने वाली उबली हुई ककड़ी की तरह उबली हुई मछली के लेने में कोई विचार नहीं होना चाहिए क्योंकि उनके मतानुसार तो जैसी पीड़ा एकेन्द्रिय (ककड़ी) को हुई, वैसी ही पीड़ा पंचेन्द्रिय (मछली) को हुई है न! परन्तु जब व्यवहार के मैदान में आते हैं, तब असलियत खुल कर सामने आ जाती है।

यदि मरने वाले जीवों की गणना करके हिंसा का लेखा-जोखा किया जाता हो, तब तो ऐसी मान्यता वाले साधु के सामने कोई आकर यह कहे कि "महाराज! गाजर-भूली खाने में अधिक जीव मरते हैं, अतः अधिक हिंसा होती है, बकरा मार कर खाने में सिर्फ एक जीव की हिंसा होती है इसलिए मुझे दोनों में से किसी एक अधिक हिंसा वाली चीज का त्याग करा दें।" बोलिए, उस समय वह साधु क्या फंसला करेगा? किसका त्याग करायेगा? निश्चय ही वह बकरे को मारने या उसका मांस खाने का त्याग करायेगा। अतः अन्ततोगत्वा उन्हें 'सर्वजीवसमान, सर्वजीवहिंसा-समान' वे सिद्धान्त को तिलांजलि देकर भगवान महावीर के सही सिद्धान्त पर आन ही पड़ेगा।

अन्यथा, २२वें तीर्थंकर नेमिनाथ का पशुहिंसात्याग के सन्दर्भ में पशु मोचन संबंधी मसला, कैसे हल होगा? नेमिनाथ विवाह करना ही नहीं चाहते थे, किन्तु यादवों में प्रविष्ट महाहिंसा को दूर करने के लिए विवाह के लिए किसी तरह मान गए। जब बरात की तैयारी होने लगी, तब स्नान कर्क कुण्डी में अनेक स्थलों का जल एकत्र किया गया। कहते हैं, १०८ घड़ों के पानी से स्नान कराया गया तथा विभिन्न प्रकार के फूलों की अगणित

मालाएँ पहनाई गईं। अगर 'सर्वजीवहिंसा-समान' का सिद्धान्त होता तो वे उसी समय मन में यह सोच कर कि मेरे विवाह के समय पशु तो गिनती के छूटेंगे, यानी थोड़े-से जीवों की हिंसा छूटेगी, किन्तु यहाँ असंख्यात जीवों की हिंसा हो रही है। वे कह देते—मेरे विवाह के लिए इतनी हिंसा हो रही है! जल की एक बूंद में असंख्यात जीव हैं, फूल की एक पंखुड़ी में भी असंख्य जीव हैं, अतः इस हिंसा को देखते हुए मुझे विवाह करना श्रेयस्कर नहीं है। मगर नेमिनाथ उस समय कोई विरोध किये बिना ही चुपचाप स्नान करके रथ पर आरूढ़ हो गए। लेकिन जब बरात द्वारिका से चल कर राजा उग्रसेन के यहाँ पहुँची और तोरण के पास नेमिनाथ आए, तब उन्हें बाड़े में अवरुद्ध पशु-पक्षियों की करुण पुकार सुन कर सारथी से कारण पूछा। सारथी ने कहा—<sup>1</sup>“ये भद्र प्राणी आपके विवाह-प्रसंग पर अनेक लोगों को भोजन कराने के लिए यहाँ एकत्र किये गए हैं।” सारथी की बात सुनते ही दयासागर नेमिनाथ करुणाद्र होकर बोले—“यदि विवाह के निमित्त ये बहुत से प्राणी मारे जाते हैं, तो यह हिंसा मेरे लिए परलोक में श्रेयस्कर नहीं होगी। अतः इन सब पशुओं को बाड़े से बाहर निकाल दो।” सारथी ने वैसा ही किया। उसके बाद नेमिनाथ विवाह न करके उस यादव जाति को महाहिंसा-त्याग की प्रेरणा देकर स्वयं साधना पथ पर चल पड़ते हैं।

यहाँ विचारणीय यह है कि जीव अधिक संख्या में कहाँ थे? बाड़े में या जल की कुण्डी में? बाड़े में तो गिनती के पशु-पक्षी थे, लेकिन जल की एक बूंद में असंख्यात जीव मानें तो, पूरी जल की कुण्डी में कितने ही असंख्य जीव थे। बुद्धि से सोचिए—यदि एकेन्द्रिय जीवों और पंचेन्द्रिय जीवों की हिंसा बराबर मानी जाती तो तीर्थंकर नेमिनाथ स्नान के समय ही स्पष्ट इन्कार कर देते, विरोध प्रगट कर देते। अतः हिंसा की तरतमता-न्यूनताधिकता हिंस्य जीवों की गणना द्वारा आंकना, जैन धर्म की अपनी कसौटी नहीं है। हिंसा के तारतम्य को समझने के लिए हिंस्य जीवों के शरीर, इन्द्रिय, प्राण, चेतना आदि के विकास एवं साथ ही हिंसक के मनो-भावों की तीव्रता-मन्दता को समझना होगा।

१ उत्तराध्ययन सूत्र २२/१७

### हिंसकों की तीव्रता-मंदता के अनुसार हिंसा फल

जैसे जीवों की चेतना आदि के विकास के अनुसार<sup>१</sup> उनकी हिंसा तीव्र-तीव्रतर फलदायिनी बनती है, वैसे ही हिंसाकर्ता की तीव्र, मध्यम एवं मन्द भावना के अनुसार हिंसा भी तीव्र, मध्यम एवं मन्द फलदायिनी होती है। जैसे एक व्यक्ति पंचेन्द्रिय जीव को मारता है तो उस एक ही जीव की हिंसा हिंसक के तीव्र परिणाम होने से तीव्र फलदायिनी होती है, विकलेन्द्रिय (द्वीन्द्रिय से चतुरिन्द्रिय तक के) जीवों की हिंसा करते समय हिंसाकर्ता की भावना मध्यम होती है, वह हिंसा भी मध्यम फलदायिनी होती है, तथा एकेन्द्रिय (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पतिकाय) जीवों की हिंसा करते समय हिंसाकर्ता की भावना मन्द होती है। इसलिए वह हिंसा अनेक जीवों की होते हुए भी मन्द फलदायिनी होती है। क्या वनस्पति पर चाकू चलाने वाला और किसी मनुष्य या पशु की गर्दन पर चाकू चलाने वाला दोनों समान हिंसाजनित पाप के भागी हैं? क्या दोनों की हिंसा समान फलदायिनी हो सकती है? कदापि नहीं।

### पूर्व, पश्चात् और अनारब्ध हिंसा का फल

कोई हिंसा ऐसी होती है, जिसे आरम्भ करने से पूर्व ही उसका फल मिल जाता है, कोई हिंसा ऐसी है, जिसका फल करते समय मिलता है, किसी हिंसा का फल करने के बाद मिलता है, किसी हिंसा को आरम्भ करना चाहते हुए भी, की न जाने पर भी उसका फल मिलता है।<sup>२</sup> जैसे एक शिकारी वन्य जीवों का शिकार करने के लिए जंगल में गया, वहाँ शिकार के रूप में जीव की हिंसा करने से पूर्व ही सिंह ने उसे देखते ही झपट कर फाड़ डाला। इसी प्रकार कोई शिकारी किसी शेर पर गोली चलाता है, उस समय निशाना चूकते ही शेर झपट कर शिकारी का काम तमाम कर देता

- १ एकस्य सैव तीव्रं दिशति फलं, सैव मन्दमन्यस्य ।  
व्रजति सहकारिणोरपि हिंसा वैचित्र्यमत्र फलकाले ।

—पुरुषार्थ. ५३

- २ प्रागेव फलति हिंसा, क्रियमाणा फलति, फलति च कृताऽपि ।  
आरभ्यकर्तुं मकृताऽपि फलति हिंसानुभावेन ॥

—पुरुषार्थ ५४

है। कोई हिंसा ऐसी भी होती है, हिंसा करने के बाद उसका फल इस लोक या परलोक में मिलता है। एक शिकारी ने मृग को मारने के लिए बंदूक तानी, परन्तु कारतूस खराब होने के वह चला न सका। इससे मृग का वध तो न हो सका, लेकिन परिणाम कषाययुक्त होने से भावहिंसा का फल उसे मिलता ही है।

इस प्रकार हिंसा-अहिंसा की विवेकपूर्वक परख एवं नापतौल करने से आप अवश्य ही इन दोनों से परिचित हो जाएँगे और अहिंसा के सोपान पर क्रमशः चढ़ते जाएँगे।



## हिंसा के स्रोत और उनमें तारतम्य

अहिंसा का स्वरूप बहुत ही व्यापक है। यह परिवार, समाज, राष्ट्र और विश्व के जीवन में विविध रूपों में फैली हुई है। जिस किसी क्षेत्र में जो भी ज्ञात रूप या अज्ञात रूप से, स्थूल या सूक्ष्म, बाह्य या आन्तरिक हिंसा हो रही है, उस क्षेत्र में और उस रूप में हिंसा का सर्वतोमुखी विरोध या निरोध करना ही अहिंसा का प्रमुख उद्देश्य है। अहिंसा के उस विराट् स्वरूप को समझना, समझाना हमारा दायित्व और कर्तव्य है और तदनुसार आचरण करना और कराना भी। किन्तु अहिंसा के स्वरूप को भलीभांति समझने के लिए हिंसा के भी तमाम रूपों को तथा उसके विभिन्न कारणों, स्रोतों, तारतम्यों एवं बचने के उपायों को भी समझ लेना जरूरी है।

### हिंसा के विभिन्न स्रोत : तीन योग

हिंसा का त्याग करने से पहले हिंसा के स्रोतों को भी समझ लेना आवश्यक है।

सर्वप्रथम प्रश्न यह है कि हिंसाजनित जो कर्मबन्धन होते हैं, वे आत्मा द्वारा होते हैं या शरीर के द्वारा? शास्त्रीय समाधान यह है कि मन-वचन-काया के योगों में जब तक चंचलता और हलचल रहती है, जिन्हें शास्त्रीय भाषा में योग कहते हैं—उन्हीं के द्वारा कर्मबन्ध होते हैं। वचन और मन चूँकि शरीर के ही अन्तर्गत हैं, इसलिए यह कहा जाता है कि यह कर्मबन्धन शरीर के द्वारा होता है, किन्तु उस शरीर के द्वारा जो आत्मा के साथ संलग्न हो। केवल शरीर के द्वारा बन्धन नहीं हो सकता, न अकेली आत्मा में हो सकता है। बल्कि एक-दूसरे के प्रगाढ़ सम्बन्ध के कारण ही

बन्धन होता है। अगर शरीर के द्वारा ही होता तो आत्मविहीन मुर्दा शरीर के भी हो जाना चाहिए और अगर आत्मा के द्वारा ही होता हो तो सिद्धों की आत्मा से भी होना चाहिए। परन्तु जब तक शरीर को आत्मा का पावर नहीं मिलता, तब तक केवल शरीर से कोई स्वतन्त्र क्रिया या कर्म-बन्ध नहीं हो सकता।

तब प्रश्न होता है, क्या आत्मा कर्मबन्ध कर सकता है? यह जो शुभ या अशुभ कर्मों की धाराएँ बह रही हैं, क्या वे शरीर में नहीं बह रही हैं? आत्मा तो अदृश्य है, अकेली आत्मा में शुभाशुभ कर्मबन्ध होता हो तो तब तो सैद्धान्तिक आपत्ति यह आयेगी कि कर्मबन्ध से अतीत, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त आत्मा में भी शुभाशुभ कर्म मानने पड़ेंगे, किन्तु ऐसा होता नहीं।

इसलिए निष्कर्ष यह निकला कि शरीर और आत्मा दोनों के संयोग से, दोनों के मिलन से संसारी दशा में कर्मबन्ध होता रहता है।

अब सवाल यह उठता है कि हिंसा या अहिंसा को व्यक्ति अपने जीवन में लेकर चलता है, तब वह कहाँ-कहाँ किस-किस रूप में रहती है? पहले मैंने स्पष्ट कर दिया था कि कर्मबन्ध के लिए न अकेला शरीर दोषी है, न अकेली आत्मा। जब आत्मा निरंजन, विशुद्ध, निर्लेप, निराकार हो जाती है, तब उसमें कोई स्पन्दन या हलचल नहीं रह जाती, इसी को योगनिरोध कहते हैं। मतलब यह है कि मन, वाणी और शरीर में कम्पन नहीं होता, उस अवस्था को शैलेशी और निष्कम्प अवस्था कहते हैं। दसवें गुणस्थान तक कषाय और योग दोनों से बन्ध होता है, ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें गुणस्थान में सिर्फ योगों से बन्ध होता है; तथा चौदहवें गुणस्थान में कषाय और योग दोनों ही नहीं रहते। इसलिए वहाँ अबन्धक दशा है।

जब यह स्पष्ट हो गया कि योगों की हलचल शरीर और आत्मा दोनों से होता है, तब हिंसा आदि पाप (आस्रव) भी इन दोनों से होते हैं। पर कौन मुख्य संचालक बनता है, कौन अनुगामी यह देखना है। वास्तव में देखा जाय तो मन-वचन-काया के साथ आत्मा के मिले बिना तो हिंसा आदि की प्रवृत्ति (व्यापार) हो ही नहीं सकती। स्पष्ट है कि आत्मा के द्वारा ही हिंसादि की प्रवृत्ति होती है, किन्तु आत्मा कराता है, शरीर के माध्यम से ही। शरीर में ही मन और वाणी की धारा भी प्रवाहित होती रहती है। मन, वचन और काया तीनों के व्यापार को योग कहते हैं।

अतः हिंसा को रोकने के लिए या हिंसा का निरोध करने के लिए

मन के अशुभ संकल्परूप व्यापारों को हटाना चाहिए, वचन को असद-भाषणरूप व्यापार से रोकना चाहिए और काया को हिंसादि की बाह्य चेष्टा करने से रोका जाना चाहिए। इस प्रकार तीनों योगों पर नियन्त्रण रखने से मानसिक, वाचिक और कायिक हिंसा के तीनों स्रोत रुक जाते हैं। इन तीनों स्रोतों से हिंसा रुक जाएगी तो आत्मा से भी हिंसा बन्द हो जाएगी।

मन पहला योग है। यह योग इतना जबर्दस्त है, कि अधिकतर काम तो यही करता है, यही हिंसा के प्लान बनाता है, यही वचन और काया को प्रेरित करता है, यही लम्बी-लम्बी उड़ानें भरता है। भावहिंसा के प्रसंग में मैंने कहा था कि उसकी आधारभूमि मन है। जैसे कोई इंजीनियर मकान बनाना चाहता है तो पहले उसका नक्शा मन में खींच लेता है, उसके बाद कागज पर उसका नक्शा बनाता है, फिर कारीगरों और मजदूरों को मकान के निर्माण कार्य में नियुक्त करता है। इसी प्रकार आत्मरूपी इंजीनियर हिंसा करने के लिए भी पहले मन में योजना बनाता है, उसके बाद वह हिंसा का नक्शा प्रस्तुत करता और वाणी से कहता है, तदनन्तर शरीर के अंगोपांगों को कारीगरों और मजदूरों के रूप में हिंसा को क्रियान्वित करने के लिए नियुक्त करता है।

इसलिए मन ही इन दोनों का सरदार है। जितनी भी क्रियाएँ, हलचलें हैं, स्पन्दन या हरकतें हैं, वे सब पहले मन में ही जन्म लेती हैं। विश्व के सभी दर्शन इस बात को मानते हैं। बौद्ध धर्म के मूर्धन्य ग्रन्थ 'धम्मपद' में भी कहा है—

“मनो पुव्वंगमा धम्मा, मनोसेट्ठा मनोमया ।  
मनसा चे पदुट्ठेन, भासति वा करोति वा ॥”

जितने भी विकल्प उठते हैं, वे शुभ हों या अशुभ, सर्वप्रथम मन में ही उठते हैं। जितनी भी हरकतें होती हैं, वे मनोमय होती हैं, मन से ही श्लिष्ट होती हैं, मन से प्रयुक्त होकर ही प्राणी बोलता है या क्रिया करता है। हमारा सारा जीवन मानसिक अध्यवसायों से परिपूर्ण है, उसी से संचालित एवं प्रेरित होता है। अतः मन में उत्पन्न अध्यवसाय ही मुख्य रूप से हिंसा के जनक हैं।

मन में प्रतिक्षण समुद्र की लहरों की तरह विचारों की लहरें उठती रहती हैं। विचारों का ज्वार-भाटा जब उठता है, तब इतने वेग से उठता है, मानो मन नाच रहा है। क्षण भर में स्वर्गलोक की उड़ान भरता है, दूसरे

ही क्षण नरकलोक की, यानी मन प्रतिपल आकाश-पाताल की उधेड़-बुन करता रहता है। मन की चंचल गति को नापना बहुत ही कठिन है, कवि-वर श्री बनारसीदास जी कहते हैं—

एक जीव की एक दिन, दसा होई जेतीक ।  
सो कहि सकैं न केवली, यद्यपि जानै ठीक ॥

कोई कह सकता है कि जिन जीवों में मन नहीं है, वहाँ अध्यवसाय कैसे होते हैं ? जैनदर्शन कहता है, वहाँ बाहर से वे असंज्ञी—अमनस्क होते हुए भी उनके भावमन तो होता ही है। एकेन्द्रिय जीव, जिन्हें हम अमनस्क कहते हैं, वे भी सात या आठ कर्म समय-समय पर बाँधते हैं। सात कर्म तो नियम से बाँधते हैं। और कर्मबन्ध तभी होता है, जब आत्मा में योगों की हलचल से कम्पन उत्पन्न होता है। उन्हीं के साथ ही कषायों के संस्कार जागृत होंगे। इसीलिए एकेन्द्रिय जीव में भी हिंसा तब तक चानू रहती है, जब तक वे मन से हिंसा का त्याग नहीं कर देते। नीचे की भूमिकाओं में मन का प्रत्येक कम्पन हिंसा है।

तात्पर्य यह है कि एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक जितने भी प्राणी हैं, और जब तक वे संसारी दशा में हैं, तब तक मन, वचन, काया के द्वारा समुद्र की लहरों की तरह कम्पन होता रहता है, हलचल मची रहती है। और जब कम्पनों की कोई गिनती नहीं तो हिंसा के भेदों की गणना कैसे हो सकती है। फिर भी आचार्यों ने स्थूल दृष्टि वाले जीवों के लिए हिंसा के कुछ स्थूल रूपों को समझाने का प्रयास किया है।

**हिंसा के तीन स्तर**

यह निश्चित हो गया कि हिंसा की आधारभूमि तीन योग हैं—मन, वचन और काया; तब हिंसा के स्तरों को समझ लेना आवश्यक है।

सर्वप्रथम हिंसा के तीन स्तर हैं—संरम्भ, समारम्भ और आरम्भ।

सर्वप्रथम मन में हिंसा के विचार पैदा होते हैं। अतः हिंसा करने यानी मारने, पीटने, सताने, द्वेष करने आदि के विचारों का मन में उत्पन्न होना संरम्भ है। फिर उसके लिए सामग्री जुटाई जाती है। यानी हिंसा करने के लिए विविध सामग्री जुटाना—समारम्भ है। इसके पश्चात् 'आरंभ' का नम्बर आता है। 'आरम्भ' का क्रम हिंसा के प्रारम्भ से लेकर अन्तिम—प्राणों से रहित कर देने तक चलता है।



### हिंसा की पृष्ठभूमि : कषाय

अब देखना यह है कि हिंसा का जो संकल्प या प्रयत्न किया जाता है, उसकी पृष्ठभूमि क्या है ? वह किसकी प्रेरणा से किया जाता है ? जैन दृष्टि से हिंसा का संकल्प, सामग्री संग्रह या हिंसा का सक्रिय प्रयत्न—ये तीनों अन्तर्हृदय की दुष्ट कल्पनाओं, दुष्परिणतियों या दुर्भावनाओं की प्रेरणा से होते हैं ।

ये दुर्भावनाएँ चार प्रकार की हैं—क्रोध, मान, माया और लोभ जब कभी हिंसा की किसी स्तर की दुष्प्रवृत्ति की जाती है तो उसके पीछे या तो क्रोध होता है, या अभिमान, अथवा माया या लोभ होता है । राग, द्वेष, ईर्ष्या आदि का भी अन्तर्भाव इन चारों में हो जाता है । इन्हीं चारों को चार कषाय कहते हैं । इन्हीं चारों कषायों के कारण संरम्भरूप, समारम्भरूप या आरम्भरूप हिंसा होती है ।

जैसे बहनों रोटी बनाने के लिए पहले मन में विचार करती हैं, तदनन्तर रोटी बनाने की सामग्री जुटाती हैं और उसके बाद रोटी बनाने की क्रिया शुरू कर देती हैं । इसी प्रकार हिंसा के ये तीन क्रम हैं । इन तीनों के साथ चारों कषाय मिल जाते हैं, तो तीन को चार से गुणा करने पर १२ भेद हिंसा के बन जाते हैं । कषायों का रंग जितना ही अधिक पक्का और गहरा होगा, उतनी ही अधिक हिंसा भड़केगी, और इनका रंग जितना कच्चा या अल्प होगा, उतनी ही हिंसा अल्प होगी । हिंसा की पृष्ठभूमि कषाय है, यह याद रखना चाहिए ।

### हिंसा के तीन योग और तीन करण

हिंसा के स्रोत तीन योग हैं—मन, वचन और काया; यह पहले कहा जा चुका है । ये ही हिंसा के मुख्यतः तीन औजार या साधन हैं । मनुष्य के पास ये ही तीन ताकतें हैं, और हैं ये प्रबल रूप में, इन्हीं पर जब स्पन्दन या हलचल होती है, तभी हिंसा होती है ।

हाँ, तो हिंसा के पूर्वोक्त १२ भेदों के साथ मन-वचन-काया ये तीन योगों का गुणन करने पर ३६ भेद हो गए ।

इन तीन योगों के द्वारा हिंसा करने के तीन द्वार हैं या तरीके हैं, जिन्हें शास्त्रीय परिभाषा में करण कहते हैं । करण तीन प्रकार के हैं—कृत, कारित और अनुमोदन । अर्थात् मनुष्य हिंसा केवल स्वयं ही करता

है, ऐसी बात नहीं; कई बार दूसरों से हिंसा कराता है, और कई बार न तो स्वयं करता है, न कराता है, सिर्फ हिंसा का अनुमोदन-समर्थन करता है। इन तीनों करणों का उक्त तीन योगों के साथ मिलन होता है। यानी पूर्वोक्त ३६ भेदों को तीन करणों के साथ गुणित करने पर हिंसा के १०८ भेद हो जाते हैं।

हिंसा के इन १०८ भेदों से विरत होना ही अहिंसा को प्राप्त करना है। ज्यों-ज्यों मनुष्य हिंसा के इन प्रकारों से निवृत्त होता जाता है, त्यों-त्यों वह अहिंसा के भेदों की साधना में प्रवृत्त होता जाता है। इसलिए स्पष्ट है कि जितने भेद हिंसा के हैं, उतने ही भेद अहिंसा के हैं। किन्तु हिंसा के इन भेदों से निवृत्त होने के लिए अप्रमत्तता की जरूरत है। प्रमाद अथवा असावधानी के रहते हुए मनुष्य हिंसा से विरत नहीं हो सकता।

### जैन श्रावक की हिंसा-त्याग की मर्यादा

जैन श्रावक दो करण एवं तीन योग से हिंसा का परित्याग करता है। वह किस रूप में, किस हिंसा का त्याग करता है, इसे मैं प्रसंगवश आगे बताऊँगा। अभी तो करण और योग के प्रसंग में श्रावक के अहिंसा व्रत की मर्यादा यह है कि वह न तो मन, वचन और काया से हिंसा करता है और न ही मन-वचन काया द्वारा हिंसा करवाता है। अनुमोदन की छूट रखता है—मन, वचन, काया से।

स्पष्ट तौर से कहें तो हिंसा का त्याग ६ प्रकार से होता है—

- (१) अपने मन में स्वयं किसी जीव की हिंसा करने के भाव आने पर।
- (२) अपने मन में किसी व्यक्ति को उस जीव की हिंसा करने के लिए कहने का भाव आने पर।
- (३) कोई व्यक्ति स्वतः ही उस जीव की हिंसा कर दे तो, बहुत अच्छा, इस प्रकार का मन में भाव आने पर।
- (४) अपने मुख से कहना कि मैं इस जीव की हिंसा करूँगा।
- (५) किसी अन्य व्यक्ति से कहना कि इस जीव की हिंसा कर दो।
- (६) कोई व्यक्ति किसी जीव की हिंसा कर रहा हो तो उसे अपने वचनों द्वारा और भी प्रोत्साहित करना।
- (७) स्वयं जीव की हिंसा करना।

(८) किसी अन्य व्यक्ति से कराना ।

(९) कोई अन्य व्यक्ति किसी जीव की हिंसा कर रहा हो तो उसका अनुमोदन करना ।

इन प्रकारों में से तीसरे, छठे और नौवें प्रकार को छोड़कर बाकी के ६ प्रकारों से जैन श्रावक हिंसा का त्याग करता है। अनुमोदन के आश्रित तीन प्रकार खुले रखे हैं, उनमें भी यथाशक्ति विवेक रखता है।

यहाँ प्रश्न किया जा सकता है कि जब हिंसा बुरी है तो श्रावक को हिंसा की अनुमोदना का त्याग भी करना चाहिए। वह हिंसा करने वाले से परिचय रखने का त्याग क्यों नहीं करता? इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि श्रावक ने अपने द्वारा की या कराई जाने वाली हिंसा का त्याग किया है, वह अभी अपने परिवार व पुत्र-पौत्रादि के साथ सम्बन्धित है, उसने गृहत्याग नहीं किया है, अतः ममत्व भाव का छेदन नहीं किया है। अतएव जब पुत्र-पौत्रादि के साथ रहता है और उनमें से कोई हिंसा करता है या हिंसा का श्रावक के दर्जे तक का त्याग नहीं किया है, ऐसी हालत में संवासानुमति का दोष उसे लगे बिना नहीं रह सकता। संभव है, आत्मीय जनों में से कोई हिंसा करे और वह उसे न छोड़ सके, अतएव वह हिंसा करने वाले से परिचय रखना छोड़ नहीं सकता। महाशतक श्रावक व्रतधारी श्रावक था, लेकिन उसकी पत्नी ने हिंसा त्याग नहीं किया था। फिर भी वह उसे परित्यक्त न कर सका। संभव है, परित्यक्त कर देने से वह व्यभिचारादि में प्रवृत्त हो जाए, यह भी आशंका हो। प्राचीन काल में हिंसा की अपेक्षा भी व्यभिचार का पाप अत्यन्त भयंकर समझा जाता था।

इसी तरह गृहस्थाश्रमी श्रावक अपनी जाति को भी नहीं छोड़ सकता और न जाति के सभी लोगों पर इस बात को बलात् थोप सकता है कि वे न स्थूल हिंसा करेंगे और न करायेंगे। इसलिए जो हिंसा करते-कराते हैं, उनके साथ सम्बन्ध रखने से अनुमोदन का दोष लगता है। इस बात को लक्ष्य में रख कर गृहस्थ श्रावक को दो कारण तीन योग से हिंसा का त्याग करना बतलाया है। इस प्रकार का त्याग करने से गृहस्थ के संसार-व्यवहार में बाधा नहीं आ सकती।

एक बात और है, गृहस्थ श्रावक के आश्रित पुत्र-पौत्रादि भी रहते हैं, उनके द्वारा को गई हिंसा से संसर्ग दोष ही नहीं लगता, कभी-कभी

उसके लिए प्रेरणा भी करनी पड़ती है। मान लीजिए—दो करण तीन योग से अहिंसाव्रती के यहाँ कोई राज्याधिकारी आ गया। उससे श्रावक ने कहा—उठिए, भोजन कर लीजिए। इस प्रकार भोजन की प्रेरणा कर दी। लेकिन भोजनकर्ता यदि कहीं जा कर अभक्ष्य पदार्थ खाये तो क्या होगा? अगर उसके साथ सम्बन्ध का त्याग कर दिया जाय तो क्लेश वृद्धि होने की सम्भावना है। यदि वह थोड़ा हिंसक है तो सम्बन्ध तोड़ देने पर संभव है, अधिक हिंसक बन जाए। सम्बन्ध रखने पर कदाचित्त उसे सन्मार्ग पर भी लाया जा सकता है। मतलब यह है कि गृहस्थ होने के कारण श्रावकों का इस प्रकार का सम्बन्ध बना रहता है। किसी अच्छे काम के लिए किसी सम्बन्धित व्यक्ति के साथ गत्यवरोध न हो, इस कारण श्रावक तीसरा करण खुला रखता है। इससे पापी को भी सुधारने में कोई अड़चन नहीं आ सकती।

मान लीजिए, किसी ने अपने लिए सौदा किया, किसी ने अपने लिए मुनीम से सौदा कराया और किसी ने सौदा करने वाले को सम्मति या सलाह दी। यहाँ वह स्वयं किये या कराये हुए सौदे के हानि लाभ को तो भोगेगा, किन्तु जिसे सलाह दी है, वह उसके हानि लाभ को नहीं भोगेगा। सौदा करने वाले को केवल सलाह देने के कारण उसे अनुमति का दोष अवश्य लगा है, लेकिन उस श्रावक के दो करण तीन योग से लिये हुए व्रत में कोई आंच नहीं आती।

तात्पर्य यह है कि श्रावक यद्यपि अनुमोदनरूप हिंसा खुली रखता है, फिर भी विवेकवान होने के कारण वह उस हिंसा को भी मन, वचन, काया से टालने की कोशिश करता है। परिस्थितिवश यदि उसे संवासानुमति का दोष लगता है, उसके लिए वह पूरा सतर्क रहता है।

**पापबन्ध किसमें ज्यादा, किसमें कम ?**

हिंसा तीन तरह से होती है, स्वयं करने से होती है, कहीं दूसरे से कराने से होती है, कहीं अनुमोदन से होती है। एक आदमी स्वयं काम करता है, उससे हिंसाजनित पापबन्ध होता है। दूसरा स्वयं नहीं करता किन्तु दूसरों से करवाता है, उससे हिंसाजनित पापबन्ध होता है। तीसरा स्वयं करता भी नहीं, करवाता भी नहीं, सिर्फ करने वाले का अनुमोदन या सराहना करता है और उसमें भी हिंसाजनित पापबन्ध होता है। अतः

प्रश्न यह है कि इन तीनों कारणों में से किसमें पापबन्ध कम है, किसमें ज्यादा ?

इसका समाधान यह है कि जैन धर्म अनेकान्तवादी धर्म है, वह हर बात को विभिन्न दृष्टिकोणों से देख-परखकर ही निर्णय देता है। जैन धर्म का निर्णय भावों की विविधता पर है, कहीं-कहीं विवेक पर आश्रित है। करना, कराना और अनुमोदन—ये तीनों विवेकदृष्टि पर निर्भर हैं। जहाँ जीवन की नीची भूमिका होती है, वहाँ विचारों का प्रवाह अनियन्त्रित रहता है, वहाँ प्रायः एकान्त दृष्टि का ही आग्रह रखा जाता है, किन्तु जीवन की भूमिका जहाँ जिज्ञासु साधक की होती है, वहाँ व्यक्ति फूँक-फूँक कर कदम रखता है।

कई लोग भ्रान्तिवश यह सोच लिया करते हैं कि अगर हम अपने हाथ से काम करेंगे तो हिंसा हमसे होगी और उसका पाप हमें लगेगा, इसलिए दूसरे से या नौकरों से काम करवा कर यह सन्तोष कर लेते हैं कि इस कार्य में जो कुछ हिंसा हुई है, उसका पाप उसे लगेगा, लेकिन यह सिद्धान्त यथार्थ नहीं है। जब तक व्यक्ति आरम्भजनक कार्यों को सर्वथा छोड़कर महाव्रती साधक नहीं बन जाता, तब तक स्वयं कार्य छोड़कर दूसरों से कराने पर भी उस पापबन्ध से छूट नहीं सकता। दूसरी बात यह है कि जिस कार्य को व्यक्ति स्वयं विवेकपूर्वक कर सकता है, उस कार्य को जब ऐसे व्यक्ति (नौकर आदि) से कराता है, जिसे बिल्कुल विवेक नहीं है। ऐसे अविवेकी से काम कराने में अनेकगुनी हिंसा ज्यादा होगी, पापबन्ध भी अधिक होगा। मतलब है कि साधक जब स्वयं काम करता है तो यदि उसमें विवेक, विचार और चिन्तन है तो वह उस कार्य में जान डाल देगा। वह अन्धाधुन्ध एवं अविवेक से जैसे-तैसे कार्य को बेगार समझकर नहीं करेगा। परन्तु जो साधक स्वयं दक्षतापूर्वक काम कर सकता है, किन्तु वह स्वयं न करके किसी ऐसे व्यक्ति से, जिसकी भूमिका उस काम के योग्य नहीं है, उस काम को वह विवेक से नहीं कर सकता, यदि आग्रहपूर्वक करवाता है, तो ऐसी स्थिति में करने की अपेक्षा करवाने में ज्यादा पापबन्ध होता है।

पूज्यश्री जवाहरलालजी महाराज के बचपन की एक घटना है। वे स्वयं लिखते हैं कि उस समय मेरी आयु करीब दस साल की होगी। जिस गाँव में मेरा जन्म हुआ था, वहाँ मुख्य खान-पान मक्का का था। वहाँ मक्का पैदा हो जाता तो वर्ष अच्छा मानते। मक्के का उत्पादन उस वर्ष

खूब अच्छा हुआ था, अतः ग्राम के बड़े-बड़े लोगों ने मिलकर गोठ करने का निश्चय किया। सभी लोगों ने विचार किया कि मक्का के पकौड़े बनाये जायें। मक्का के पकौड़ों के साथ ही कुछ भांग के पकौड़े बनाने का भी विचार हुआ। मेरे सांसारिक पक्ष के मामाजी वहाँ राज्य सम्मानित तथा प्रतिष्ठित नागरिक माने जाते थे। मेरे मामाजी ने मुझसे कहा—“बाड़े में भांग बहुत उगी हुई है, अतः वहाँ जाकर भांग की पत्तियाँ तोड़ लाओ।” मुझे यह नहीं बताया गया कि पत्तियाँ कितनी तोड़कर लानी हैं। मैं अबोध बालक था। दौड़ा-दौड़ा बाड़े में गया और ढेर-सी पत्तियाँ तोड़ लाया। मेरे अनुमान से पत्तियाँ लगभग सेर भर होंगी। मेरे मामाजी धार्मिक विचारों के थे, वे सम्भवतः चौविहार भी रखते थे, प्रतिक्रमण भी नित्य करते थे। पापभीरु होने के कारण मेरे हाथ में भांग की ढेर-सी पत्तियाँ देख वे मुझसे कहने लगे—“जवाहर ! इतनी पत्तियाँ क्यों तोड़ लाया ? थोड़ी-सी भांग की जरूरत थी। तुझमें इतनी भी अकल नहीं है कि इतनी ढेर पत्तियों का क्या होगा ?” इस प्रकार वे मुझे उलाहना भरे स्वर में डांटने लगे। लेकिन यह कसूर मेरा था या उनका ? जब वे जानते थे कि मैं अबोध बालक हूँ, इतना विवेक कहाँ कि मैं थोड़ी-सी पत्तियाँ लाता। न उन्होंने मुझे विवेक सिखाया, न बच्चा होने के कारण मुझमें विवेक ही था।

इस तरह इस घटना में अधिक पापबन्ध करने की अपेक्षा कराने में हुआ, जिसे अगर मेरे मामाजी स्वयं हाथ से करते तो शायद कम से कम पापबन्ध से कर सकते थे। क्योंकि अपने हाथ से वे भांग के पत्ते तोड़कर लाते तो जितनी आवश्यकता थी, उतनी ही लाते, अधिक नहीं। दूसरे, उलाहना देने या भला-बुरा कहने का मानसिक वाचिक क्लेश न होता।

एक बहन जो विवेकवती है, वह स्वयं चौके की मर्यादा अहिंसा की दृष्टि से निभा सकती है, यथाशक्ति जीवरक्षा कर सकती है। परन्तु वह इस भ्रम में है कि स्वयं रोटी बनाने में पाप लगता है। यद्यपि वह स्वयं खाने तथा पारिवारिकजनों को खिलाने की जिम्मेवारी से मुक्त नहीं हुई है। इस स्थिति में वह किसी अविवेकी नौकरानी को रोटी बनाने का काग सौंपती है, जिसे अहिंसा सम्बन्धी मर्यादा का ज्ञान नहीं है। वह तो जैसे-तैसे रोटियाँ सेक कर रख देगी। उसे यह भान नहीं है कि पानी छना हुआ है या बिना छना ? लकड़ियों में कोई जीव है या नहीं, देखभाल नहीं

करती। अतः ऐसी अविवेकवती नौकरानी से काम कराने में ज्यादा पाप-बन्ध होगा। यदि कोई बहन विवेक के साथ काम करेगी तो कदम-कदम पर छानबीन करेगी; आटा, पानी, लकड़ी आदि देखभाल कर करेगी। उसके अन्तर् में दया एवं करुणा की लहर उदबुद्ध होगी तो वह यह भी सोचेगी कि यह भोजन मेरे पारिवारिक जनों के स्वास्थ्य के अनुकूल है या नहीं? किन्तु उसने आलस्यवश अविवेकी नौकरानी से रसोई कराने में शान समझी। वह चौके को हिसामय बना देगी। इस तरह उससे कराने में अधिक पाप हुआ।

जो बात गृहस्थ के लिए है, वही बात साधुओं के लिए है। एक शिष्य है, एक गुरुजी के पास। परन्तु वह गोचरी सम्बन्धी नियमोपनियमों से अनभिज्ञ है। नौसिखिया है, केवल माल इकट्ठा कर लेना ही गोचरी का अर्थ समझता है। गुरुजी विवेकी हैं, गोचरी सम्बन्धी नियमों के जानकार हैं। परन्तु वे अपने बड़प्पन की शान दिखाने के लिए स्वयं गोचरी हेतु न जाकर अविवेकी शिष्य को भेज देते हैं। उसे पता नहीं कि कहाँ, कितनी चीज लेनी चाहिए या गृहस्थ के परिवार के लिए पीछे कुछ बचता है या नहीं? इस प्रकार अटसंट आहार भर कर ले आता है, तो वह गोचरी के साथ दोषों का भंडार भर लाएगा। ऐसी स्थिति में गुरुजी स्वयं जाते तो इतनी हिंसा नहीं होती। यहाँ करने की अपेक्षा कराने में अधिक हिंसा हुई।

एक डॉक्टर है, वह ऑपरेशन करने में एक्सपर्ट है। परन्तु वह अपने कंपाउंडर से कहता है कि मुझे ऑपरेशन करते हुए घृणा आती है, इस कारण मैं ऑपरेशन नहीं कर सकता, तुम कर दो। यों कह कर वह कंपाउंडर को ऑपरेशन करने के लिए तैयार कर लेता है, किन्तु कंपाउंडर ऑपरेशन में बहुत अनभिज्ञ है, अनाड़ी भी है, होशियार नहीं है। अतः डॉक्टर को, स्वयं अपने हाथ से ऑपरेशन न करके कंपाउंडर से कराने में अधिक हिंसा व पापबन्ध हुआ। इसी प्रकार एक दूसरा डॉक्टर है, जो स्वयं ऑपरेशन करने में अनभ्यस्त है, या इतना एक्सपर्ट नहीं है, वह अगर अपने से विशेषज्ञ व निष्णात डॉक्टर ने ऑपरेशन कराता है तो यहाँ करने की अपेक्षा कराने में अल्प पाप ही हुआ। दोनों डॉक्टरों के उदाहरण आपने सामने हैं। दोनों डॉक्टरों ने स्वयं ऑपरेशन न करके दूसरों से ऑपरेशन कराया है। परन्तु पहले डॉक्टर को अधिक पापबन्ध होगा, जबकि दूसरे डॉक्टर को अल्प पाप लगेगा। यह अन्तर विवेक और अविवेक का है। एव

तीसरा व्यक्ति है, जो स्वयं ऑपरेशन करने में अनभिज्ञ है, लेकिन जो ऑपरेशन करने में निष्णात डॉक्टर है, उसे ऑपरेशन न करने देकर लोभवश स्वयं ऑपरेशन करता है तो उसको स्वयं करने में अधिक पापबन्ध हुआ। हालांकि ऐसे आदमी द्वारा किया हुआ ऑपरेशन सफल भी हो जाए, फिर भी सरकार में वह अपराधी ही माना जाएगा, क्योंकि उसने ऑपरेशन से अनभिज्ञ होते हुए भी किया। पहले डॉक्टर को कराने में अधिक पाप लगा, दूसरे को कराने पर भी अल्प पाप हुआ और तीसरे को स्वयं करने में भी अधिक पापबन्ध हुआ। इन तीनों में अन्तर विवेक का है। पहला और तीसरा अविवेकी है, उनके द्वारा कराने और स्वयं करने में अधिक पाप लगा, जबकि दूसरा विवेकी है, जिसने दूसरे विवेकी पुरुष से कराया, इसलिए अल्प पाप लगा।

जीवन में इस प्रकार की अनेक घटनाएँ प्रतिदिन होती रहती हैं। जैन धर्म प्रत्येक प्रवृत्ति के पीछे विवेक की बात करता है। यत्नाचारपूर्वक प्रत्येक शुभ कार्य करने की आज्ञा देता है। यत्नाचारपूर्वक कार्य करते हुए भी अगर हिंसा हो जाती है, तो वह पापकर्मबन्धक नहीं होती। मान लो, श्रावक की भूमिका में अगर कोई गृहस्थ है तो वह भी आरम्भजा हिंसा में विवेक और यतना रखे तो अधिक हिंसा से बच सकता है। कई लोग इस विषय में भ्रान्ति के शिकार होकर घर पर बना कर खाने की अपेक्षा हलवाई के यहाँ से बनी हुई चीजें खाने में कम हिंसा मानते हैं, लेकिन वे यह नहीं सोचते कि हलवाई के यहाँ कौन सा विवेक रखा जाता है? कई दफा तो बूरे में लटें या कई जीव पड़े रहते हैं, आटे और पानी को भी वहाँ कौन देखता है? उसकी अपेक्षा घर में अगर विवेक से चीजें बनाई गई हैं, पानी, आटा, लकड़ी तथा अन्य सामग्री देखकर ही खाद्य पदार्थ बनाए गए हैं; तो आप ही अपनी बुद्धि के गज से नाप कर देखें कि किस में कम पाप लगेगा? निष्पक्ष बुद्धि से जांच करके देखें तो आपको यह निर्णय करते देर न लगेगी कि दूसरे के द्वारा सीधी बनी हुई वस्तु खाने में अधिक हिंसा है या अपने घर पर विवेक से बनी हुई वस्तु खाने में है?

निष्कर्ष यह है कि जहाँ विवेक और यत्नाचार है, वहाँ तो करने में अल्प पाप है, कराने में भी अल्प पाप है, लेकिन जहाँ विवेक नहीं है, यत्नाचार नहीं है, वहाँ करने में भी अधिक पाप है, कराने में भी अधिक पाप होता है। विवेक एवं यत्नाचार न हो तो अल्प पाप के कार्य भी अधिक पाप के बन जाते हैं।



द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से देखें तो करने, कराने और अनुमोदन इन तीनों के द्वारा होने वाले पापबन्ध में बहुत अन्तर दीखेगा। स्वयं हाथ से विवेकपूर्वक आरम्भ मनुष्य कितना भी करे, फिर भी एक सीमा में होगा, लेकिन कराने में तो लाखों-करोड़ों से भी करने के लिए कहा जा सकता है। करने में तो दो हाथ ही लगेंगे, लेकिन कराने में तो लाखों-करोड़ों हाथ लग सकते हैं। करने में तो समय भी मर्यादित रहेगा, लेकिन कराने में तो समय का कोई विचार नहीं रह सकता। इसी प्रकार करने का क्षेत्र सीमित रहेगा, लेकिन कराने में क्षेत्र की सीमा बहुत अधिक हो सकती है। इस दृष्टि से करने के द्रव्य, क्षेत्र और काल तीनों मर्यादित रहते हैं, जबकि कराने के द्रव्य, क्षेत्र और काल की कोई सीमा निर्धारित नहीं होती।

और अनुमोदन का द्रव्य, क्षेत्र और काल तो करने और कराने दोनों से बढ़ कर होता है। बल्कि अनुमोदन का पाप तो प्रायः ऐसा होता है कि किया-कराया कुछ नहीं और मुफ्त में अधिक पाप का बन्ध हो जाता है। जैसे कि भगवती सूत्र के २४वें शतक में वर्णित तन्दुलमत्स्य का वर्णन है। तन्दुलमच्छ एक भी जल-जन्तु को निगल नहीं सकता, पकड़ नहीं सकता और न निगलवा या पकड़वा सकता है, किन्तु मन ही मन महाहिंसा की अनुमोदना करके उस महापाप के फलस्वरूप सातवीं नरक का मेहमान बन जाता है।

एक व्यावहारिक उदाहरण लीजिए— एक विवेकी श्रावक ने महल बनवाया। महल बहुत ही सुन्दर और अद्वितीय बना है, लेकिन वह समझता है, इसमें आरम्भजा हिंसा लगी है, इसकी क्या सराहना की जाए, लाचारी-वश ही विशाल परिवार के रहने के लिए मुझे इतना बड़ा मकान बनाना पड़ा है। इसलिए वह अपने मुँह से महल की बिलकुल प्रशंसा नहीं करता और न किसी से प्रशंसा सुनने के लिए उत्सुक है, न दूसरों को प्रशंसा करने की प्रेरणा देता है। मगर कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं, जो दूसरे की प्रशंसा में ही रत रहते हैं। ऐसा ही एक दर्शक आया। उसने महल देख कर कहा— “वाह! कितना अच्छा महल बना है। महल बनाकर सेठ ने नाम अमर कर दिया है। वाकई में ऐसा महल आसपास में कहीं नहीं है।” इस घटना में महल बनाने वाला तो अल्प पाप में ही रहा, मगर उसके अनुमोदक और प्रशंसक ने महल की नाहक प्रशंसा करके मुफ्त में ही अधिक पाप बटोर लिया।

विदेशी वस्त्र यहाँ नहीं बनते, लेकिन कोई यहाँ बैठे हुए ही मुनकर ११ विज्ञापन पढ़कर हजारों मील दूर मैनचेस्टर और लंकाशायर की मिलों के बने कपड़ों की प्रशंसा करके अनुमोदन करता है, तो इस तरह सिद्ध हो जाता है करने-कराने की अपेक्षा अनुमोदन का क्षेत्र बड़ा है।

करने की अपेक्षा, कराने का द्रव्य, क्षेत्र, काल कैसे अधिक खुला है, इसे जैन जगत् के इतिहास की एक चमकती हुई घटना द्वारा देखिए—

जैन इतिहास या जैन संस्कृति का पहला अध्याय युगादि तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव से प्रारम्भ होता है। भगवान ऋषभदेव के महाव्रती दीक्षा ले लेने के बाद भरत ने चक्रवर्ती बनने के सन्दर्भ में बाहुबली को अपने आधिपत्य के नीचे रखने के लिए प्रयत्न किया। मगर बाहुबली ने जब किसी प्रकार से भरत की अधीनता स्वीकार न की तो दोनों में ठन गई और युद्ध का अवसर आ गया। दोनों की सेनाएँ विशाल रणक्षेत्र में आमने-सामने आ डटीं। बस, रणभेरी बजने की देर थी।<sup>१</sup> आचार्य जिनदास महत्तर के कथनानुसार वहाँ तत्क्षण बाहुबलि के मन में वैराग्य और करुणा का प्रवाह उमड़ पड़ता है। वह सोचता है—भरत चक्रवर्ती बनना चाहता है, मैं उसके मार्ग में बाधक हूँ। मैं स्वाभिमानवश उसकी अधीनता स्वीकार नहीं करता, क्योंकि वह अनुचित है। भाई के नाते मैं भरत की सेवा कर सकता हूँ, दास बन कर नहीं। अब यहाँ खास प्रश्न तो भरत का और मेरा है। क्यों नहीं, हम दोनों ही आपस में निपट लें, व्यर्थ ही इतनी सेना को कटवाने से क्या लाभ है? व्यर्थ ही इतना रक्त बहाने से कोई लाभ नहीं है। युद्ध तो युद्ध है, इसमें दोनों ओर के हजारों-लाखों सैनिक कट-मर कर समाप्त हो जाएँगे। इसके अलावा उनके पीछे रहे हुए परिवार को भी बहुत रोना-धोना पड़ेगा, सारी संस्कृति और सभ्यता मटियामेट हो जाएगी। अतः इस करुणा से प्रेरित होकर बाहुबलि ने भरत के पास सन्देश भेजा—“भैया ! लड़ाई तो आपकी और मेरी है। दोनों ओर की सेना की तो नहीं है। फिर व्यर्थ ही इतने सैनिकों को कटवाने और इतना रक्तपात कराने से क्या लाभ है? अतः आओ, हम दोनों परस्पर शक्ति अजमाकर उसी पर से जय-पराजय का निर्णय कर लें और व्यर्थ में होने

१ आवश्यक चूर्ण में यह कथा दी गई है, जिसमें इन्द्र के आने का उल्लेख नहीं है।

वाले इस जनसंहार को रोक दें।” भरत इस बात से सहमत हो गए। इस विचार से दोनों भाई युद्ध क्षेत्र में उतर आए और जैसा कि इतिहासकार कहते हैं— उन्होंने पहले दृष्टियुद्ध किया, फिर मुष्टियुद्ध। इस लड़ाई की खूबी यह थी कि खून की बूंद भी बहाए बिना, मरे-मारे बिना इस अहिंसक युद्ध से ही सिर्फ जय-पराजय का निर्णय करना था। मतलब यह है कि कराने में द्रव्य, क्षेत्र और काल की कोई सीमा नहीं थी, विराट हिंसा समाई हुई थी, उसे स्वयं करने में सीमित द्रव्य-क्षेत्र-काल में ही अल्पतम कर दी गई। वर्तमान संसार के इतिहास में यह सर्वप्रथम अहिंसक संग्राम था।

अब आइए, रामयुग की ओर। जैन संस्कृति की उज्ज्वल गुणगाथाएँ जैन रामायणों में उपलब्ध होती हैं। भगवान महावीर के ५०० वर्ष बाद प्राकृत भाषा में जो विमल रामायण लिखी गई है, उसमें बाली और रावण के परस्पर अहिंसक युद्ध का कुशलतापूर्वक सुन्दर चित्रण किया गया है।

घटना यों है—बाली को अपने अधीन बनाने और सेवक के रूप में रखने के लिए रावण विशाल सेना लेकर किष्किन्धा पर चढ़ आता है, उधर बाली भी अपनी सेना को शस्त्रास्त्र से सुसज्जित करके रणांगण में युद्ध के लिए तैयार रहने का आदेश देता है। दोनों ओर के सेनापति इस प्रतीक्षा में थे कि कब युद्ध का शंख बजे और कब हमारी तलवारें चमकें। सर्वप्रथम बाली रणभूमि में आया। दोनों ओर की सेनाएँ देखकर उसके मन में एक सुन्दर विचार स्फुटित हुआ—“हार-जीत का सवाल तो मेरा और रावण का है। रावण की और मेरी व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा है। फिर इन दोनों जातियों को लड़ाने और संहार कराने से क्या लाभ? लाखों मनुष्यों का खून रणचण्डी के खप्पर में डाल कर भी निर्णय तो हम दोनों के लिए ही करना है। अतः हम दोनों ही आपस में क्यों नहीं फैसला कर लें।” बाली ने अपना विचारपूर्ण सन्देश रावण के पास भेजा—“यह सारा संघर्ष तो तुम्हारा और मेरा है। हम दोनों की लड़ाई में प्रजा क्यों जिम्मेवार मानी जाए? अकारण ही प्रजा को लड़ाने से तो यही बेहतर है कि हम दोनों ही आपस में लड़कर शक्ति परीक्षण कर लें और उसी के आधार पर हार-जीत का फैसला कर लें।”

बाली की बात रावण ने स्वीकार कर ली। दोनों पक्ष की सेनाएँ तटस्थ दर्शक की तरह खड़ी रहीं और रावण एवं बाली दोनों ने परस्पर

शक्ति-परीक्षण कर लिया। इस पारस्परिक युद्ध में रावण को पराजय का मुंह देखना पड़ा।

विमल रामायणकार ने इस घटना को लिखकर युद्ध के अहिंसात्मक दृष्टिकोण का कुशलतापूर्वक आलेखन किया है। इस कथा प्रसंग से स्पष्ट है कि करवाने की अपेक्षा स्वयं कर लेने में मनुष्य की युद्धजन्य हिंसा प्रवृत्ति भी सीमित की जा सकती है। यदि वे दोनों सेनाओं को लड़ाते तो महारम्भ होता, जबकि लड़ने से अल्पारम्भ की भूमिका हुई।

हिटलर की भूमिका भी लड़ाने की थी। उसने स्वयं एक भी लड़ाई नहीं लड़ी, केवल सेनाओं को उकसा-उकसा कर लड़ाया। हिटलर स्वयं नहीं लड़ा या स्वयं ने रक्त की बूंद भी नहीं बहाई, इसलिए क्या महा हिंसा का महापाप उसे नहीं लगा? जबकि जय-पराजय का फलभोक्ता हिटलर रहा है, लड़ाई की योजना उसी के दिमाग की उपज है। इसलिए कोई भी समझदार व्यक्ति इस तर्क को स्वीकार नहीं करेगा कि हिटलर अहिंसक था, उसे पाप क्यों लगेगा, पाप तो स्वयं लड़ने वालों को लगता है? कदापि नहीं। बल्कि लड़ाने वाला ही ज्यादा पाप का भागी बना है। अगर दोनों पक्ष के नेता ही परस्पर लड़कर फैसला कर लेते तो हिंसा सीमित होती। लड़ाने में तो विराट हिंसा ही हुई।

खाड़ी युद्ध में इराक के राष्ट्रपति सद्दाम हुसैन ने तथा अमरीका के राष्ट्रपति जार्ज बुश ने युद्ध में स्वयं भाग नहीं लिया। स्वयं ने अपने हाथ से किसी को नहीं मारा। किन्तु उन्हीं की प्रेरणा से हज़ारों मानवों और लाखों प्राणियों का संहार हो गया। सारे हिंसा के मूल केन्द्र वे दोनों ही व्यक्ति थे। किन्तु सत्ता की अभिलिप्सा में यह भयंकर नरसंहार हुआ। उन्हींने स्वयं अपने हाथ से हिंसा नहीं की किन्तु हिंसा करवाई। यदि सद्दाम हुसैन और जार्ज बुश स्वयं ही परस्पर युद्ध कर लेते तो इतना नरसंहार नहीं होता।

तीसरा करण अनुमोदन है। अनुमोदन में व्यक्ति स्वयं नहीं करता, न कराता है, सिर्फ साराहना या समर्थन किया करता है। हिंसा कार्य का अनुमोदक सिर्फ मुफ्त में पाप बटोरता है, हिंसा का पाप व्यर्थ ही मोल ले लेता है। उदाहरण के तौर पर, न्यायालय में जज के सामने एक ऐसा अपराधी आया, जिसके जुर्म को देखते हुए फांसी की सजा हो सकती थी। न्यायाधीश सोचने लगा—मैं चाहता हूँ कि यह बच जाए तो अच्छा, लेकिन

इसका अपराध भयंकर है तथा मन में पश्चात्ताप या सुधरने की विचार की आशा भी नहीं दिखाई देती। इसलिए इसे फांसी की सजा न देना, न्याय का उल्लंघन होगा। न्यायाधीश ने न्याय की रक्षा के लिए कानून की रूह से बड़े संकोच के साथ उसको फांसी की सजा सुना दी और फांसी लगाने का आदेश भी दे दिया। फांसी लगाने वाला मन में सोचने लगा—मैं नहीं चाहता कि किसी को फांसी लगाऊँ। लेकिन सरकार द्वारा मैं इस कार्य पर नियुक्त हूँ। अतः कर्तव्य से इन्कार करना उचित नहीं। न्यायाधीश भी न्याय से बँधा हुआ है। इसी कारण उसने मुझे आदेश दिया है। मैं भी उसी तरह कर्तव्य से बँधा हुआ हूँ। इसी कारण मुझे भी फांसी लगाने का कार्य करना होगा। यों सोचता हुआ वह उस अपराधी को फांसी लगाने के लिए ले गया और फांसी के तख्ते पर चढ़ा दिया। वहाँ एक तीसरा आदमी खड़ा था। न्यायाधीश ने तो संकोचवश अपराधी को फांसी का हुकम दिया था और फांसी लगाने वाले ने भी कर्तव्यवश उसे फांसी के तख्ते पर चढ़ाया था, लेकिन उस तीसरे आदमी ने, जिसका कोई आदेश नहीं चलता था, अत्यन्त उत्तेजित होकर कहा—“लगा दे, जल्दी से इसे फांसी ! क्या देखता है अब ? देर क्यों करता है ? इसे तो फांसी देना ही ठीक है।”

बताइए, इन तीनों में ज्यादा पाप किसको हुआ ? न्यायाधीश तथा फांसी लगाने वाले ने फांसी देकर भी फांसी के कार्य की सराहना नहीं की, लेकिन वह दर्शक मुफ्त में ही फांसी लगाने के कार्य की अनावश्यक आज्ञा देकर महापापबन्ध कर रहा है।

इसी प्रकार कहीं किसी लड़ाई के होने पर या दुर्घटना होने पर दुर्घटनाग्रस्त लोगों के प्रति सहानुभूति बताने के बजाय उसकी सराहना करे कि अच्छा हुआ। सिर फट गया, उसकी हड्डी टूट गई। ऐसे पापी को तो यही फल मिलना चाहिए था। यहाँ लड़ाई स्वयं न करने-कराने वालों से भी अधिक व्यर्थ ही पाप की गठरी अनुमोदनकर्ता अपने सिर पर लाद लेता है। इस प्रकार के अनुमोदन की व्यर्थ हिंसा श्रावक के लिए कथमपि क्षम्य नहीं है। यहाँ करने-करवाने की अपेक्षा अनुमोदन में अधिक पाप है।

इन सब बातों पर गम्भीरता से विचारने पर स्पष्ट हो जाता है कि कहीं दूसरों से कराने की अपेक्षा स्वयं करने में कम पाप है, कहीं करने की अपेक्षा कराने में कम पाप है और कहीं करने-कराने की अपेक्षा अनुमोदन में कम पाप है। चिन्तन के सागर में गहरा गोता लगाने पर ही ये सब बातें स्पष्ट हो सकती हैं।

**भविष्य की महाहिंसा को रोकने के लिए वर्तमान की अल्प हिंसा**

कई बार साधक हिंसा और अहिंसा को व्यवहार में चरितार्थ करने में फेल हो जाता है। वह यह नहीं सोच पाता कि वर्तमान में जरा-सी अल्प हिंसा का बचाव भविष्य में महाहिंसा को न्यौता देने वाला तो नहीं होगा ? उदाहरण के तौर पर मकान की सफाई (प्रमार्जन) करना है। मकान की सफाई करते समय चाहे कितने ही कोमल उपकरण लिये जाएँ, प्रायः जीव इधर से उधर होते हैं, घसीटे भी जाते हैं, उन्हें परिताप भी होता है, उन्हें स्पर्श करने से वे भयभीत होते हैं, उन्हें आपस में इकट्ठे कर देने से वे दुःख पाते हैं, और ये सब प्राणातिपात की कोटि में हैं। केवल श्वास निकाल देना ही हिंसा का अर्थ नहीं है, किन्तु हिंसा का दूसरा नाम प्राणों को कष्ट पहुँचाना है। जैन धर्म की दृष्टि से प्राणातिपात का अर्थ इस प्रकार है—

**पंचेन्द्रियाणि त्रिविधं बलं च,**

**उच्छ्वास-निःश्वासमथान्यदायुः ।**

**प्राणा दशते भगवद्भिरुक्ता,**

**तेषां वियोजीकरणं तु हिंसा ॥**

श्रोत्रेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय और स्पर्शेन्द्रिय, ये पांच इन्द्रियाँ; मनबलप्राण, वचनबलप्राण और कायाबलप्राण ये तीन बल; उच्छ्वास-निःश्वास और आयु ये दश द्रव्यप्राण; और (अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख, अनन्त बलवीर्य ये ४ भावप्राण) भगवान ने बताये हैं उनको सताना, भंग करना, चोट पहुँचाना या वियुक्त (खत्म) कर देना ही प्राणातिपात है।

हाँ, तो अहिंसा-साधक कई बार भ्रमवश सोचने लग जाता है कि सफाई करूँगा तो जीवहिंसा होगी। इसलिए मारवाड़-मेवाड़ में तो कई जगह झाड़ू देने आदि का त्याग गृहस्थ लोग करते हैं। परन्तु वे यह नहीं सोचते कि अगर मकान की सफाई नहीं की जाएगी तो दिन-ब-दिन गन्दगी बढ़ती ही जाएगी, जीव अपने जाले जमा लेंगे, साँप, बिच्छू, दीमक तथा अन्य जन्तु भी अपना अड्डा जमा लेंगे, अर्थात् जीवों से सारा घर भरा नजर आएगा। फिर जब भी घर के आदमी चलेंगे, फिरेंगे या अन्य प्रवृत्ति करेंगे तो कितने जीव मारे जाएँगे ? अतः सफाई न करने से भविष्य में होने वाली महान् हिंसा से बचने के लिए वर्तमान की अल्पहिंसा—जो कि असावधानी-वश होती है, सावधानीपूर्वक प्रतिदिन प्रमार्जन (सफाई) की जाए तो वहाँ

द्रव्यहिंसा होती है, उसे क्षम्य मानी जाती है। बल्कि प्रमार्जन वर्तमान की हिंसा को भी रोकता है, क्योंकि कषायभाव या द्वेषभाव से हिंसा होती है, वह यहाँ रुक सकती है, इसके अतिरिक्त भविष्य में होने वाली महाहिंसा को रोकता है। जैन सिद्धान्त कहता है - पहले ही विवेक रखो, स्वच्छता एवं सफाई रखो, जीवों की उत्पत्ति न होने दो, ताकि भविष्य में होने वाली भयंकर हिंसा से बचा जा सके। वे भ्रान्त साधक वर्तमान में पानी, मिट्टी या हवा के जीवों की द्रव्यहिंसा का तो विचार करते हैं, लेकिन भविष्य में होने वाली महान् हिंसा का कुछ भी विचार नहीं करते।

एक जैन भाई हमें उदयपुर के निकटवर्ती बड़ी ग्राम में स्थित टी. बी. हॉस्पिटल में मिले। उनको टी. बी. हो गया था, इसलिए वे वहाँ भर्ती थे। उन्होंने बताया कि मैंने शरीर के लिए पोषक वनस्पति, फल, शाक-भाजी आदि सब का त्याग कर लिया। मैं सूखे साग खाता था। इससे शरीर में पोषक तत्वों की कमी हो जाने के कारण मुझे क्षय रोग हो गया। अब यहाँ आने पर मुझे फल वगैरह खाने पड़ते हैं, साथ ही कॉडलीवर आइल और माल्ट जैसी दूषित औषधियाँ भी सेवन करनी पड़ती है। अन्यथा, डॉक्टर हॉस्पिटल से निकाल देने की धमकी देता है।

अब बताइए, वनस्पतिकायिक जीवों की अल्प हिंसा (जो कि गृहस्थ के लिए त्याज्य नहीं है) के भ्रम से धर्मपालन के योग्य शरीर को पोषण देना बन्द कर देने से अब कितनी भयंकर हिंसाओं का सामना करना पड़ रहा है।

एक व्यापारी है। उसे व्यापार प्रारम्भ करने या चलाने के लिए कुछ खर्च भी करना पड़ता है, परन्तु ऐसा करने से यदि वह काफी अच्छा लाभ प्राप्त कर लेता है तो क्या वह किया हुआ खर्च कभी नुकसान में परिगणित किया जा सकता है? कदापि नहीं। इसी प्रकार यदि कोई गृहस्थ शरीर से धर्मपालन करने के लिए उस शरीर की रक्षा व पोषण हेतु वनस्पति, जल आदि का विवेकपूर्वक उपयोग करता है। उसमें कुछ स्थावरजीवों की हिंसा हो भी जाती है, किन्तु उससे पंचेन्द्रिय जीवों की दया, तथा अहिंसा, सत्य आदि धर्मों का पालन रूप महालाभ होता है। थोड़ी-सी स्थावर जीवों की द्रव्य-हिंसा के भ्रम में यदि शरीर-रक्षा के प्रति उपेक्षा की जाए तो भविष्य में होने वाले अहिंसा के महालाभ से वंचित ही रहता है।<sup>१</sup> जैन धर्म

१ हिंसा फलमपरस्य तु ददात्यहिंसा तु परिणामे ।

इतरस्य पुनहिंसा दिशत्यहिंसा फलं नान्यत् ॥

—पुरुषार्थ. ५

के महान् आचार्य अमृतचन्द्र ने इसी प्रकार का चिन्तन दिया है। कहीं-कहीं दिखाई देने वाली अहिंसा परिणाम में हिंसा का फल देती है और कहीं-कहीं हिंसा (अल्प हिंसा) भी अहिंसा का फल देती है। सवाल होता है कि अहिंसा हिंसा फल कैसे दे देती है ? एक उदाहरण द्वारा इसे समझना उचित होगा—एक व्यक्ति बहुत गरीब स्थिति में है, उसके पिता धनाढ्य थे। दूसरे एक सेठ ने इस लोभ से उसे सहायता दी, अपने यहाँ नौकर रख लिया। लोभ यह था कि धीरे-धीरे उसके पिता की जमीन-जायदाद पर कब्जा कर लेंगे और इसे अंगूठा दिखा देंगे। इस घटना में बाहर से तो उक्त गरीब पर दया दिखाई; इसलिए अहिंसा प्रतीत होती है। लेकिन अन्दर ही अन्दर वृत्ति उसका माल हड़प जाने की थी, इसलिए बाहर से अहिंसा दिखाई देने पर भी फल हिंसा का ही प्राप्त होता है, क्योंकि भावों में हिंसा थी।

हिंसा भी अहिंसा का फल कैसे देती है, इसके लिए पूर्वोक्त विवेचन उपयुक्त है। वर्तमान की अल्प स्थावरहिंसा भविष्य की महान् हिंसा को रोकती है और शरीर-रक्षा से अहिंसा पालन किये जाने के कारण अहिंसा का फल देती है।

इसके लिए एक शास्त्रीय प्रमाण देखिए—आचारांग सूत्र में एक प्रसंग है कि एक पंच महाव्रतधारी साधु पहाड़ पर चढ़ रहा है। बहुत ही संकड़ी पगडंडी है, बहुत सावधानी से चढ़ना पड़ता है, यदि जरा-सा भी चूक जाय तो पैर फिसलकर नीचे गहरे गड्ढे में गिर सकता है। मान लो कि साधु के पैर अचानक लड़खड़ा गए, वह गिरने की स्थिति में है। उस समय क्या करे ? शास्त्रकार कहते हैं—“अगर वहाँ वृक्ष है तो वृक्ष को, बेल है तो बेल को और मुसाफिर आ जा रहे हों तो उनके हाथ का सहारा लेकर भी ऊपर आ जाय और आत्मरक्षा करे।” शास्त्र ने संक्षेप में अपनी बात कह दी। परन्तु हमारा अहिंसा का चिन्तन अनेक तर्क-वितर्क प्रस्तुत करता है कि साधु को अपने शरीर का भी मोह नहीं रखना चाहिए, फिर वृक्ष और लता को पकड़ने का विधान—जो कि असंख्यजीव-हिंसाजनक है, क्यों किया गया ? अपनी आत्मरक्षा के लिए साधु दूसरे प्राणियों की हिंसा कैसे कर सकता है ? इसके पीछे क्या रहस्य है ?

वास्तव में साधु जब गिरने की स्थिति में होता है, तब वृक्ष आदि का सहारा लेकर ऊपर आता है, वह हिंसा के माध्यम से ही, किन्तु आचार्यों के इस सूत्र पर चिन्तन में ऐसी परिस्थिति में साधु के लिए हिंसा नहीं, अहिंसा



है। अहिंसा यों है कि साधु जीवन-लालसा या शरीर-मोह से प्रेरित होकर ऊपर नहीं आता, किन्तु जब वह ऊपर से एकदम नीचे असावधानी से गिरता है तो शरीर अपने सन्तुलन में नहीं रहता। असन्तुलित शरीर लुढ़कता-लुढ़कता न जाने कितनी दूर जाकर गिरेगा? यह कहा नहीं जा सकता। जितनी दूर वह लुढ़कते हुए जाएगा, उतनी दूर तक उसके शरीरपिण्ड द्वारा न जाने एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक कितने जीवों की हिंसा होगी। गिरने पर अगर कोई शरीर का अवयव टूट गया तो जब तक वह साधु जिन्दा रहेगा, तब तक सड़ता रहेगा। सर्दी-गर्मी के प्रकोप से या हिंस्र जीवों के उपद्रव से पीड़ित होने पर उसके मन में आर्त्त-रौद्रध्यान भी पैदा होंगे। दूसरा साधु या गृहस्थ भी उसकी सेवा में वहाँ तक पहुँचना मुश्किल है, ऐसी स्थिति में विलाप करते हुए उसकी मृत्यु होगी तो पवित्र आत्मभावों की हिंसा होने से दुर्गति ही प्राप्त होगी। यह हिंसा की परम्परा कितनी लम्बी और बड़ी है। उसे फल-फूल-पत्ते आदि से कोई मतलब नहीं, लेकिन भविष्य में पहले बताए हुए रूप में भयंकर हिंसा की सम्भावना से, उस हिंसा से बचने हेतु वह वृक्ष, लता आदि को पकड़ता है। साधु औषधि सेवन भी करता है तो भविष्य में शरीर अत्यन्त रुग्ण होने से पराधीन, अशक्त और आर्त्तध्यानरत होने से होने वाली हिंसा को रोकने के लिए ही।

गृहस्थ जीवन में कभी-कभी किसी भयंकर बड़ी हिंसा को रोकने के लिए वर्तमान की अल्पहिंसा सह्य होती है, वह भी अहिंसा की ओर ले जाने वाली बनती है। एक ऐतिहासिक घटना लीजिए—

एक कस्बे में एक पठान रहता था। उसने एक बकरी पाल रखी थी। पड़ोस में ही एक बनिये का घर था। उसके एक लड़का था, जो कभी-कभी पठान की बकरी दुह लेता, और दूध पी जाता था। कई दिन हो गए। पठान की बकरी ने दूध देना बंद कर दिया। पठान की पत्नी ने एक दिन बनिये के लड़के को दूध दुहते हुए देख लिया। उसने शाम को घर आते ही पठान से शिकायत की—“तुम में कुछ दम नहीं है। मैं देखती हूँ, यह पड़ोसी बनिये का बेटा रोज-रोज अपनी बकरी को दुह लेता है। तुम्हें तो यह कुछ भी नहीं समझता।” पठान को यह सुनकर अत्यन्त गुस्सा आया। पठान ने बनिये से कहा-सुनी की। बनिये ने अपने लड़के को समझाया कि ‘आयंदा वह कभी पठान की बकरी न दुहे।’ परन्तु उसकी आदत सहसा कैसे छूट सकती थी। कुछ दिनों तक दुहना बंद करके फिर दुहना शुरू किया। इस

बार पठान ने खुद ने देख लिया, पठान की पत्नी ने फिर उसमें जोश भरा। गुस्से में आकर पठान छुरा लेकर घर से दौड़ा। दूर से पठान को छुरा लेकर घर की ओर आते देख बनिया समझ गया कि वह लड़के को मारने के लिए आ रहा है। उसने आव देखा न ताव अपने लड़के को पकड़ कर दो-चार थप्पड़ जमा दिये, एक लट्टी भी जमा दी। लड़का जोर से रोता-चिल्लाता घर से निकला। लड़के की मां ने लड़के का पक्ष लेकर कहा—“क्या आज मार ही डालोगे इसे ?” बनिये ने कहा—“तू नहीं समझती। पठान मारने के लिए छुरा लेकर आ रहा है।” बनिया अपने लड़के को डांटता-फटकारता हुआ और भला-बुरा कहता हुआ उसके पीछे यों कहता दौड़ रहा था कि तूने बिना पूछे पठान की बकरी दुही क्यों ? पर लड़का रोता चिल्लाता जा रहा था। उधर से पठान निकट आया और उसने जब लड़के को पिता द्वारा पीटते और लड़के को रोते देखा तो उसके दिल में दया उमड़ी। उसने बनिये का हाथ पकड़ कर कहा—“सेठ ! जाने दो, क्या हो गया मेरी बकरी दुह ली तो ! बच्चा है, इसे मारो मत।” इस प्रकार पठान का रोष ठंडा हो गया, वह लड़के को प्रेम से पुत्रकार कर अपने घर ले आया। बनिये को समझा-बुझाकर विदा किया। इस प्रकार पठान के निमित्त से बनिये के लड़के की हत्या की जो संभावना थी, वह बनिये द्वारा अपने पुत्र के ताड़न-तर्जन से टल गई और पठान का रोष ठंडा हो गया। यह है, भविष्य में होने वाली महाहिंसा के निवारण के लिए बनिये ने अपने लड़के के ताड़न-तर्जन रूप अल्प हिंसा को स्वीकार किया। बनिये द्वारा अपनाया हुआ यह उपाय हर बार सफल ही होगा, ऐसा निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता।

**अहिंसा पालन के विषय में गलतफहमी**

आजकल गृहस्थ लोगों में कर्त्तव्याकर्त्तव्य के सम्बन्ध में बड़ी गलत-फहमी फैल रही है। कई भाई सर्वव्रती मुनियों का आचार-विचार देख कर उनके जैसी सूक्ष्म अहिंसा का पालन करने को उद्यत हो जाते हैं, उधर स्थूल हिंसा उनके जीवन में गहरी घुसी हुई होती है। मुनिराज कई बातें (परोपकार आदि की) अपनी मर्यादा में रह कर ही कर सकते हैं, किन्तु इसका अनुसरण करके गृहस्थ द्वारा परोपकार, दया, सेवा आदि को छोड़ देना विधि मार्ग का अज्ञान है। सदगृहस्थ श्रावक के लिए द्वीन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक के त्रसजीवों की स्थूल हिंसा का त्याग है; स्थावर एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा की मर्यादा करता है। एकेन्द्रिय जीवों की रक्षा के बहाने पंचेन्द्रिय पशुओं और विशेषतः मानवों की रक्षा और दया को भूल रहे हैं।

एक जगह मैंने सुना कि एक प्रसूता बहन को प्यास लगी, उसने एक श्राविका बहन से पीने के लिए पानी माँगा, पर उसने इसलिए उसे पानी नहीं पिलाया कि प्रसूता की सेवा करने से तेले का दण्ड आता है। पता नहीं, यह तेले के दण्ड का आविष्कार किसने और कहाँ से निकाला ? मूलशास्त्रों में तो ऐसा कहीं विधान नहीं है; बल्कि प्रसूता की सेवा और उस पर दया करना मानवीय कर्तव्य है। सुदूर अमेरिका से यहाँ आकर मिशनरी लोग हमारे देशवासियों की सेवा करें, उन पर दया करें और हम अपने भाई-बहनों की सेवा के बदले तिरस्कार करें, यह कितनी नासमझी है। अहिंसा का क्रम न समझने के कारण कई मनुष्य छोटे-छोटे जीवों को तो बचाने की कोशिश करें और बड़े जीवों—पशुओं और मनुष्यों के प्राण खाते हों या वे मुसीबत में हों, उस समय यह बहाना बनाकर कुछ भी न करें कि प्रसूता की सेवा से हिंसा होती है, क्योंकि पानी आदि सब में जीव है, उसके लिए भोजन बनाने में भी आरम्भ होता है। इसलिए क्यों 'अंधे को न्यौता दें और दो को जिमाएँ' वाली कहावत चरितार्थ करें। उसकी सेवा करने में एकेन्द्रियादि जीवों की हिंसा होगी। पर वे यह नहीं समझते कि प्रसूता के प्राण बचाए, दो जीवों पर दया की, इसमें कितना महालाभ हुआ ? सूक्ष्म जीवों की रक्षा की ओट में अपने कर्तव्य के प्रति उदासीनता दिखाना, कहाँ तक उचित है। दुनिया में ऐसा कोई कार्य नहीं, जिसमें थोड़ी-बहुत हिंसा न होती हो और कर्मबन्ध न होता हो। किन्तु प्रत्येक कार्य को विवेक, यतना और ज्ञानपूर्वक करने से पापबन्ध कम होता है, जबकि अज्ञान एवं अविवेक से कार्य करने से भयंकर पापबन्ध होता है।

कई लोग यह सोचते होंगे कि रोट्टी बनाने वाली बहन पापकर्म से नहीं बच सकती, मैं कहता हूँ, अगर वह विवेक और यतना के साथ रसोई बनाती है। रसोई बनाना परिवार की सेवा का एक अंग समझती है, कर्तव्य मानती है। वह ऐसा विचार करती है कि मैं जो स्वास्थ्यवर्द्धक रसोई बनाती हूँ उससे सारे परिवारीजनों को तो स्वास्थ्य एवं शांति का लाभ मिलेगा ही, किसी साधु-साध्वी के पात्र में भी पड़ेगा, या किसी भूखे या अतिथि को दान देने का लाभ भी होगा। इसलिए वह यतनापूर्वक लकड़ी, पानी, कड़े, चूल्हा आदि को साफ करती हुई, जीवों को बचाती हुई रसोई बनाती है, तो आरम्भ के पाप से अधिक मात्रा में बचकर पुण्य प्रकृति का बंध कर सकती है। परन्तु जो अपने को मजदूरिन समझकर बेगार समझकर लापरवाही से रसोई बनाती है, वह आरम्भजन्य पाप में अत्यधिक पाप

बन्ध कर लेती है। कई बहनें आलस्यवश तथा दुःख के मारे आटा पीसने का त्याग करके कलचक्की में आटा पिसवाती हैं, वे थोड़ी-सी हिंसा से बच कर कलचक्की से होने वाली महान् हिंसा को न्यूता दे देती हैं। क्योंकि कलचक्की में जो गेहूँ पीसने को दिये जाते हैं, उनमें धन, धर्म (अहिंसा) और स्वास्थ्य—ये तीनों पिस जाते हैं। पैसा तो पिसाई का देना ही पड़ता है। कलचक्की से आटा पिसवाने में जो अन्न दिया जाता है, वह सारा का सारा नहीं तो अधिकांश दूसरे के अनाज के साथ मिल जाता है। कलचक्की में मछुए आदि लोग भी पिसवाने आते हैं, उनकी मछली, मांस आदि को टोकरी या बतन में अन्न होता है, वही इसके साथ मिल जाता है। इससे धर्म भ्रष्ट हो जाता है। बंटे-बंटे आलसी होकर उन बहनों का शरीर फूल जाता है, उन्हें लगातार दवाइयाँ लेनी पड़ती हैं। थोड़ा सा आलस्य न छोड़ने ने कितना बड़ा आरम्भ करना पड़ता है। अतः भविष्य की महा हिंसा को रोकने हेतु वर्तमान की अल्प हिंसा को—वह भी श्रावक के लिए अत्याज्य है, स्थावर जीवों की हिंसा छोड़ना दुष्कर है। इसलिए पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में बताया गया है—

एकः करोति हिंसा भवति तत्फलभागिनो बहवः ।

द्वया विदधाति हिंसा, हिंसाफलम् भवत्येकः ॥

रसोई आदि का आरम्भ (हिंसा) एक व्यक्ति करता है किन्तु हिंसा के फलभागी सभी भोजन करने वाले होते हैं। इसी प्रकार कई व्यक्ति जैसे नौकर-चाकर तथा कारखाने आदि में काम करने वाले व्यक्ति हिंसा करते हैं, लेकिन स्वामी को ही उस हिंसा का फल भोगना पड़ता है।

इस प्रकार हिंसा और अहिंसा के विविध विकल्पों पर उनमें तारतम्य को भलीभांति समझने का प्रयास करना चाहिए, तभी अहिंसा की साधना भलीभांति हो सकती है, तथा हिंसा-अहिंसा के पालन के सम्बन्ध में जो विविध भ्रान्तियाँ हैं, वे भी दूर की जा सकती हैं।





## उपाचार्य श्री देवेन्द्रमुनि जी महाराज

उपाचार्य श्री देवेन्द्रमुनि जी महाराज सहज प्रतिभा के धनी, अपने चिन्तन-मनन स्वाध्याय-अध्ययन में लीन, ऐसे मनीषी हैं, जिनका नाम भारत के जैन विद्वानों में अग्रणी स्थान पर लिया जाता है।

आप श्री ने साहित्य के विविध अंगों, जैसे आगम, दर्शन, आचार-धर्म; तत्वज्ञान, इतिहास, साहित्य, संस्कृति, प्रवचन, कथाएँ, उपन्यास, नीति-शास्त्र तथा ललित निबन्धों के रूप में विपुल साहित्य-सर्जना की है।

आप श्री का अध्ययन गंभीर है। भाषा मंजी हुई, विषय प्रतिपादन की शैली सहज, रोचक तथा धाराप्रवाह है।

वि. सं. १९८८, कार्तिक कृष्णा १३, (धन तेरस) दिनांक ७-११-१९३१, शनिवार उदयपुर में आप श्री का जन्म हुआ।

वि. सं. १९९७, फाल्गुन शुक्ला ३, दिनांक १-३-१९४१, शनिवार (खण्डप) को नौ वर्ष की लघुवय में उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि जी महाराज के चरणों में प्रव्रजित होकर संयम-साधना एवं श्रुत-आराधना में जुट गये।

आपश्री की पूज्य माताजी ने दीक्षा लेकर संयम-श्रुत-तप की आराधना करके महासती प्रभावती जी के रूप में जिन शासन का गौरव बढ़ाया। ज्येष्ठ भगिनी साध्वीरत्न पुष्पवती जी भी जैन श्रमणी परम्परा की उज्ज्वल तारिका है।

वि. सं. २०४४, वैशाखी पूर्णिमा, दिनांक १३-०५-१९८७, बुधवार के दिन पूना शहर में आचार्य श्री आनन्द ऋषि जी ने, आपको श्री वर्धमान स्थानकवासी जैन श्रमणसंघ के उपाचार्य पद पर मनोनीत किया।

आप श्री स्वभाव से विनम्र, मधुर, सरल और व्यवहार में अतिशालीन, गुणानुरागी, सदा प्रसन्नचेता साधक हैं। - दिनेशमुनि

---

श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय, उदयपुर के लिए कामधेनु प्रिंटर्स एंड पब्लिशर्स आगरा द्वारा मुद्रित एवं प्रकाशित।

---

